प्रवचन-प्रभा

(तीसरा भाग)

साध्वी मणिप्रभाश्री

बालाघाट-चातुर्मास १९८३

प्रवचन-प्रभा/भाग ३ साध्वी मणिप्रभाश्री
बालाघाट-चातुर्मास १९८३ में
हुए अठारह चुने हुए प्रवचनों का मननीय संकलन

प्रकाशन :
श्री विचक्षण प्रकाशन,
नईदुनिया परिसर,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर ४५२ ००९, मध्यप्रदेश

प्राप्तिस्थान :
१. श्री विचक्षण प्रकाशन, इन्दौर
२. श्री प्रेम डूंगरवाल,
'इंडो ऑक्सीजन',
कल्याण विश्रान्ति गृह,
२ साउथ तुकोगंज,
इन्दौर ४५२ ००१, मध्यप्रदेश

संस्करण : प्रथम
मार्च १९८५
मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रण :
नईदुनिया प्रिंटरी,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर ४५२००९, मध्यप्रदेश

PRAVACHAN PRABHA-3.
Sadhvi Maniprabhashri
Religion : 1985

दो शब्द

प्रवचन-प्रभा, भाग ३ का प्रकाशन कार्यकर्ताओं की विशेष लगन और पाठकों की परिष्कृत रुचि के फलस्वरूप हो रहा है। पाठकों की इस रुचि का प्रमुख कारण है डॉ. नेमीचन्दजी द्वारा मेरे प्रवचनों का संपादन।

मैं नहीं चाहती थी कि तृतीय भाग का प्रकाशन अभी हो, क्योंकि जो नियमित प्रवचन मुझे देने होते हैं, उनमें कोई नयी सामग्री नहीं होती। श्रोता बदलते हैं, गाँव बदलते हैं, जगहें बदलती हैं; किन्तु श्रोताओं का स्तर लगभग वही होता है। मैं भी वही/यथारूप रहती हूँ। ऐसी स्थिति में जो कुछ कहा जाता है उसमें पूर्वप्रकाशित सामग्री-से-अधिक गहरा कुछ होता नहीं है, अत: मैं नहीं चाहती थी कि तीसरा भाग अभी प्रकाशित हो तथापि वास्तविकता यह है कि वह प्रकाशित हो रहा है।

मेरा सोचना कितना ठीक है, इसकी सूचना तो पाठक ही देंगे। मैंने पहले भी निवेदन किया था, इस बार पुनः कर रही हूँ कि महापुरुषों के उपदेशों को सुनाने में मेरी जिह्वा मात्र निमित्त है। इससे अधिक मेरा अपना कुछ भी नहीं है। वस्तुतः सारे विचारों का संग्रह महापुरुषों के विचारों का आंकलन है। जैसे बाँसुरी बजती है और सुनने वाले को उसका सुर मधुर लगता है किन्तु असल में स्वर/सुर उसका अपना नहीं किसी और का होता है। मैं डॉ. नेमीचन्दजी जैन तथा कार्यकर्ताओं के परिश्रम का श्रेय उन्हें ही प्रदान करती हूँ तथा प्रकाशन के इन क्षणों में मेरे जीवन की सर्वस्व श्रद्धेय गुरुवर्याश्री विचक्षण श्रीजी महाराज सा. के चरणों में नत-मस्तक नमन करती हूँ कि जिनकी कृपा से मैं अध्यात्म-यात्रा के लिए संयमी जीवन जी रही हूँ; उनके अनन्त उपकार के प्रति सान्त शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ भी तो कैसे ? अतः ऐसे उपकारी क्षणों में मौन को ही श्रेयस्कर मानती हूँ।

—मणिप्रभाश्री

महावीर भवन, रायपुर
१६ मई १९८४

संपादकीय

'प्रवचन-प्रभा' भाग ३ का प्रकाशन 'प्रवचन-प्रभा' भाग १/२ की निरन्तरता में हो रहा है। सर्वविदित है कि साध्वी मणिप्रभाश्रीजी के प्रवचनों में लोक-जीवन को ज्योतिर्मान करने की अपूर्व शक्ति है और सामान्यजन के लिए आत्मोन्नति का सरल/सहज मार्ग है। पूज्या साध्वीजी स्वयं भले ही इस तथ्य को न मानें कि उनके प्रवचनों में जीवन को सुरभित/सुगन्धित करने के लिए नया कुछ होता है; किन्तु असल में इस बात की छानबीन पाठकों या श्रोताओं से ही की जानी चाहिये, जो इनमें से अपने जीवन के लिए नया प्रकाश और ताजगी प्राप्त करते हैं। ऐसे सैकड़ों श्रोता और पाठक हैं जिनकी इन/ऐसे प्रवचनों से समूची जीवन-धारा ही पलट गयी है और जो जड़मूल से बदल गये हैं; अतः यह कहना सर्वथा उचित/सामयिक होगा कि यह संकलन उतना ही प्रेरक है, जितने भाग १ और २ हैं। वस्तुतः संकलित प्रवचन उन पहाड़ी झरनों की भाँति हैं, जो मानव-जीवन को एक नया संगीत और अनुपम निर्मलता प्रदान करते हैं। इनकी पृष्ठभूमि पर जो/जैसा आत्मसंगीत अनुगुंजित है उसकी तुल्यता इस जगत् में शायद कहीं नहीं है।

बालाघाट का वर्षावास (१९८३) स्वयं में एक उल्लेखनीय और अविस्मरणीय वर्षावास रहा है। इसमें जो भी प्रवचन हुए उनकी उत्कृष्टता असंदिग्ध है। इन सारे प्रवचनों को भाई श्रीज्ञानचन्द्रजी बापना ने अक्षरशः झेला है और प्रथमदृष्ट्या संपादित किया है। अनुज श्रीप्रेमचन्दजी तथा मैंने इन्हें पुनः संपादित किया है। इन्हें पाठ्य बनाया है। वे प्रवचन इस तरह कुछ संयोजित हुए हैं कि इनमें से पाठक को जैनधर्म/दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की एक प्रामाणिक झलक मिल जाए। जहाँ तक मेरा अपना सोचना है 'प्रवचन-प्रभा' भाग ३ के आरंभिक नौ प्रवचन ही इस भाग को एक संपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करने में समर्थ थे; किन्तु मेरे बुजुर्ग मित्र/हितैषी श्री कालूरामजी बापना चाहते थे कि इसमें कुछ और प्रवचन ले लिये जाएँ ताकि इसकी देह पुष्ट हो और यह कुछ भरा-भरा दिखायी दे; अतः सहज ही यह जिम्मेवारी मेरे प्रिय अनुज प्रेमचन्दजी पर आयी। वे मौन साधक हैं, अतः उन्होंने बड़ी निष्ठा

और लगन से ९ प्रवचन इसमें और जोड़ दिये; इस तरह अब प्रस्तुत भाग में कुल १८ प्रवचन हैं जिनमें-से यह पता लगाना मुश्किल है कि कमतर/श्रेष्ठतर कौन है? सभी एक-जैसे हैं और जीवन को अभिनव ताजगी प्रदान करते हैं।

विचार की दृष्टि से इन सारे प्रवचनों में जैनधर्म और दर्शन, सदाचार, अहिंसा, अपरिग्रह जैसे स्वस्थ जीवनमूल्य स्पन्दित हैं ताकि अपने समकालीन मनुष्य को वह सब दिया जा सके जो एक सफल अध्यात्म-यात्रा के लिए आवश्यक है। स्मरण रहे, जैनधर्म प्राणिमात्र के-शुभ/मंगल के लिए प्रयत्नवान् करुणाधर्म है अतः करुणा की धड़कन इन प्रवचनों के हर हर्फ में सुनी जा सकती है। मुझे विश्वास है १६ जुलाई से १६ नवम्बर १९८३ तक हुए इन प्रवचनों को खूब पढ़ा जाएगा और अनुभव किया जाएगा कि बालाघाट एक शहर नहीं है बरन् संस्कृति और सभ्यता को नवोत्थान प्रदान करने वाला एक शिलालेख-संग्रहालय भी है।

इन प्रवचनों को संपादित करने के पीछे जिन लोगों की प्रेरणा/परिश्रम बराबर बने रहे हैं वे हैं सर्वश्री कालूरामजी बापना, उनके सुपुत्र ज्ञानचन्द्रजी बापना तथा माणकचन्दजी डूंगरवाल; अतः मैं इन सारे महानुभावों का कृतज्ञ हूँ कि जिन्होंने बावजूद मेरी व्यवस्तताओं के यह महत् कार्य संपन्न करवा लिया।

—नेमीचन्द जैन
संपादक "तीर्थंकर"

इन्दौर/3 मार्च 1985

क्रम

सत्संग

भारतीय संस्कृति में सत्संग का सर्वोपरि महत्त्व है। किसी भी प्रान्त, किसी भी शहर, किसी भी गाँव को लें, किसी-न-किसी रूप में वहाँ सत्संग का वातावरण मिलता ही है। "सत्संग" शब्द का अर्थ है—"सत् का संग"। सत् (सत्य) को जो जाने वह संत (सज्जन) और चित्त को जो सत्य की ओर ले जाए वह सत्संग।

सत्संग की व्यवस्था सदा से रही है और सत्संग के अनुरूप वातावरण की भी अपेक्षा रही है। जैसे बाहर के वातावरण में शान्ति नहीं है, वैसे ही भीतर चित्त में भी अशान्ति संभव है। अशान्त चित्त वाला व्यक्ति एक बार सत्संग में बैठ भी जाए तो उसका शरीर ही बैठेगा, मन बैठे यह बहुत मुश्किल है। जैसे; हो सकता है यहाँ आने के पहले आप क्लेश के वातावरण से आये हों, किसी पर क्रोध करके आये हों, गाली-गलोच करके आये हों, तो फिर ऐसे अशान्त चित्त, से सत्संग में यदि आप बैठ भी गये हैं तो फिर मन उन्हीं बातों को दुहराता जाएगा जिन्हें आप छोड़ कर आये हैं। ऐसे ही यदि कोई ज़रूरी-से-ज़रूरी कार्य संयोगवश आप अपने मन में लेकर आये हैं तो भी शरीर ही बैठेगा मन तो वही दोहरायेगा कि मुझे यह काम करना है, वह काम मुझे करना है, इतने काम मुझे करने हैं। इन/ऐसे कार्यों की संख्या तो पूरे दिन बढ़ती रहती है, किन्तु ऐसे कार्य जिनसे मन बहुत ज्यादा जुड़ा हुआ है, जिनके लिए बहुत ज्यादा उत्सुक है, या जिन्हें लेकर वह बहुत ज्यादा अशान्त है तो ऐसी स्थिति में वह बार-बार उस ओर दौड़ेगा, दो-चार बार घड़ी भी देखेगा; सोचता रहेगा — जाना है, जाना है, जाना है।

जाने का समय निश्चित है और कार्य का समय भी; किन्तु इतना होने पर भी मन अनियन्त्रित और अशान्त है। वह इसलिए है कि उसमें चंचलता बहुत है, और चंचलता इसलिए बहुत है कि कार्य के प्रति उसकी आसक्ति अधिक है। ऐसी स्थिति में, सत्संग के वातावरण में जाने के बाद भी सत्संग का आनन्द प्राप्त हो, यह बहुत मुश्किल है। वास्तव में सत्संग के लिए उचित

मानस और उचित वातावरण बहुत जरूरी है। ऐसे शान्त मन से और सुव्यवस्थित यदि सत्संग में हम उपस्थित हुए हैं तो हमें आन्तरिक यात्रा का सुअवसर मिलेगा अन्यथा नहीं।

क्षुण्ण से अक्षुण्ण की ओर, क्षणभंगुर से शाश्वत की ओर, विनाशी से अविनाशी की ओर, शरीर से आत्मा की ओर अन्तर्यात्रा की प्रेरणा हमें यहाँ मिलती है और ऐसी मंगलमय अन्तर्यात्रा जब शुरू होती है, और "संत" के "संग" की रुचि बढ़ती है तो देह-देवल में ही परमात्मा शक्तिरूपा आत्मा की खोज आरम्भ हो जाती है, जिसे चैतन्य कहें, जीव कहें, शक्ति-विशेष कहें, संबोधन कुछ भी दें, चाहे किसी शब्द से उसे पुकारें, किसी शब्द के माध्यम से उसे समझें, पर जिसका लक्षण है जानना और देखना वह आत्मा है। वह जीव है। वह चैतन्य है। वही ईश्वर का अंश है। आप उसे स्त्री कहें, कुछ कहें, उदासी मन कहें, लक्षण किन्तु उसका है जानना-देखना। यह उसका स्वभाव है। आत्मा में जानने-देखने का जो स्वभाव है, ज्ञान-दर्शन का जो गुण है, वही उसकी विशिष्ट शक्ति है।

आत्मा स्वयं चैतन्य है। जिसमें ज्ञान गुण है वह आत्मा है। जो "स्व" को जाने और "पर" को भी, वह आत्मा है; किन्तु ऐसा होगा कब कि वह व्यवस्था को भी जाने और स्वयं को भी; जड़ को भी और चैतन्य को भी; विनाशी को भी, और अविनाशी को भी?

अनन्तकाल की इस विचित्र यात्रा में चौरासी लक्ष योनि-भ्रमण में आत्मा का जो ज्ञान गुण है वह उस ज्ञान से जगत् का संबन्ध सदा से हुआ है। ज्ञान गुण तो हमने जोड़ा है जगत् से। ज्ञान गुण हमसे प्रतिक्षण जुड़ा रहा है। "जानने" और "सोचने" की प्रवृत्ति हर समय हुई है। मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ विचार चलता ही रहा है। हम प्रतिक्षण सक्रिय हैं, निष्क्रिय नहीं हैं, किन्तु हमारी *"शक्ति"* आज तक हमारी दृष्टि में नहीं है। बाहर की दृष्टि तो है, भौतिक दृष्टि तो है, जागतिक दृष्टि तो है, रूप-और-रंग की दृष्टि तो है, सत्ता और सम्पत्ति की दृष्टि भी है, किन्तु आत्मशक्ति की ओर हमारा ध्यान नहीं है। आत्मा का जो ज्ञान गुण है वह प्रतिक्षण पुरुषार्थ कर रहा है; किन्तु पुरुषार्थ में उसका जितना परिश्रम है वह मात्र दृश्यमान जगत् में अपने-आपको तोलने में, उसमें उलझाने में लगा रहा है। उसे छोड़ने, उसे समझने, सत्संग में, यदि इसे वह लगाता है, तो ही एक योग्य भूमिका बन सकती है। यदि सत्संग के अनुरूप पात्रता हममें नहीं है, तो उसका आनंद हमें मिले, यह मुश्किल है।

वह वक्ता का विश्लेषण करेगा, शैली की समीक्षा करेगा, भाषा की अपेक्षा से मूल्यांकन करेगा, या सुनने की दृष्टि से सुनेगा, दूसरों को समझाने की दृष्टि से समझेगा, किसी को बताना है इसलिए याद रखेगा; ऐसी स्थिति में जब सत्संग की कोई स्पष्ट भूमिका हमारे मन में नहीं है तब उसका कोई लाभ मिले यह असंभव है। सत्संग के वातावरण में जो शब्द हमें सुनने को मिल रहे हैं, उन शब्दों के माध्यम से जीव को "सत्" की अनुभूति हो, संत जिसका संकेत दे रहे हैं, वहाँ तक बुद्धि का व्यवसाय न हो तो फिर वह सत्संग का भाव होगा, अन्यथा सारा पुरुषार्थ व्यर्थ जाएगा।

सत्संग का सही उपयोग यही है। ऐसी स्थिति में एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि जब "सत्" पर व्यक्ति की दृष्टि चली जाती है तो "असत्" में रहते हुए भी (असत् इसलिए कि जो कुछ भी हमें प्राप्त है, जितना भी, जैसा भी, वह सारा आयु-सापेक्ष है। कर्म-निर्भर है; क्योंकि आज जो कुछ है, जितना है, जिस किसी का है, सारा पर्याय-सापेक्ष है) उसकी अन्तर्यात्रा सफल हो सकती है। मनुष्य-शरीर का जो जन्म हुआ है, उसका "आदि" है। उस जन्म की तारीख है, उसका दिन हमें याद है, तिथि, वार, मास, लगभग सबको याद है, अर्थात् उसका "आदि" हमें याद है। जब आदि है, तो अन्त भी है: जब प्रारंभ है, तो समाप्ति भी है: संयोग है, तो वियोग भी है, रात्रि है तो प्रभात भी है: प्रभात है, तो रात भी है: जन्म है, तो मरण भी है, और मरण है तो जन्म भी है। ये संयोग-संबंध द्वंद्वात्मक हैं। इसी का नाम "दुनिया" है।

निश्चित रूप से जन्म इसलिए हुआ है कि हमें मरना है, संयोग इसलिए है कि हमें वियोग का अनुभव करना पड़े। सुख इसलिए मिला है कि वह दुःख-रूप बन कर रहेगा। मनुष्य-शरीर, जिसमें आज हम हैं, एक दिन निश्चित ही ऐसा आने वाला है, जिस दिन हम इसमें नहीं होंगे, मात्र हमारी कहानी होगी। जिस दिन हम नहीं सुनेंगे; किन्तु परिवार के सदस्य हमारी चर्चा करेंगे, हम नहीं रहेंगे पर हमने जो बताया है, जो बनाया है, जो बिगाड़ा है, दुनिया के साथ जो व्यवहार किया है, वह सब दो-चार, दस-बीस वर्ष तक चर्चा का विषय रहेगा, या सुनने का विषय रहेगा; किसी को उससे विकास-प्रेरणा मिलेगी, किसी को विनाश की प्रेरणा मिलेगी, हम नहीं रहेंगे। यदि हमारा जीवन बहुत अच्छा रहा तो भी वह चर्चा का विषय रहेगा और बहुत बुरा रहा तो भी वह चर्चा का विषय रहेगा। यदि हमने हमारी शक्ति नाश में लगायी तो अरथी निकलने के क्षणों से उसकी चर्चा चालू हो जाएगी और यदि हमने उसे विकास में लगाया है तो उसकी वैसी चर्चा चल निकलेगी। वह ठहर नहीं सकती, चलना उसकी प्रवृत्ति है। यदि हमने

अपने परिवार के लिए वहुत अधिक धन इकट्ठा किया है, तो उसका उपयोग करते हुए आपका नाम उसे लेना ही पड़ेगा। उनकी याद, आपको, आप कहीं भी कैसे भी हों, आ सकती है; वह आयेगी तव जव "सारा सापेक्ष सत्य" असत्य हो जाएगा। वर्तमान अतीत में चला जाएगा, जीवन मृत्यु में वदल जाएगा। जन्म होगा फिर। जन्म के वाद अपने ही पराये होंगे। यदि पड़ोस में ही आपका जन्म हो गया तो भी नहीं पड़ी है आपके परिवार को आपकी। माना, पड़ोस में भी जन्म हुआ; किन्तु अतीत को लेकर न तो आपकी स्मृति है और न उनकी। और यदि स्मृति में भी आ जाए तो उस आत्मीयता का लौटना वहुत मुश्किल है, क्योंकि स्वार्थ और मनुष्य के आधार पर जो संयोग-सम्वन्ध थे, वे टूट चुके हैं। तो ऐसी स्थिति में यह सत्य है, किन्तु सत्य होकर भी काल-सापेक्ष है; काल-निरपेक्ष नहीं है। जैन-दर्शन या दूसरे जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, सवने इसे स्वीकार किया है। जिन्होंने कर्मफल को स्वीकार किया है, वे मानते हैं कि हमारी संसार-यात्रा का क्रम सदा-सदा से इसी तरह चल रहा है; क्योंकि जन्म उसी का है जिसकी मृत्यु है और मृत्यु उसी की है, जिसका जन्म है। यह अटल है, इसे कोई टाल नहीं सकता।

आत्मा अजन्मा है, शाश्वत है, सनातन है। आत्मा को, चैतन्य को पानी गला नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, शस्त्र उसके टुकड़े नहीं कर सकते, क्यों? इसलिए कि उसका आकार ही नहीं है, निराकार है वह। वर्ण, गंध. रस आदि उसमें नहीं हैं। वह अद्वितीय है। वह आँखों का विषय नहीं है। सद्‌गुरु के सान्निध्य में. सद्‌ग्रन्थों के अध्ययन में व्यक्ति को सत्य का स्वरूप समझ में तो आ सकता है; किन्तु उस सत्य के दर्शन, उस चिरन्तन तत्त्व के दर्शन, उन आत्माओं के दर्शन, अपने परम अस्तित्व के दर्शन, हम इस तरह नहीं कर सकते जिस तरह आईने में अपने चेहरे के करते हैं। दर्पण में चेहरा देख सकते हैं, किन्तु क्या आज तक किसी ने जैसे मुख-छवि देखते हैं, वैसे आत्मा को देखा है? चेहरा रूपी है। चेहरा पुद्‌गल है। संयोगज है। वर्ण, गंध, रस, शब्द का परिणाम है। गलन-पूरण, पूरण-गलन इसका स्वभाव है।

कर्म-शक्ति का विषय स्थूल है। अनन्तानन्त परमाणुओं का पिण्ड है यह मुख, इसलिए इसे हम आईने में देख सकते हैं; किन्तु आत्मा को जव कभी समझना होगा, जव कभी उसका स्वरूप ध्यान में लेना होगा, तव ऐसे अध्यात्म-विज्ञानी का सत्संग करना होगा जो स्वयं इस दिशा में प्रयत्नशील है। उस साहित्य का अध्ययन, अवलोकन हमें करना पड़ेगा, जिसमें सत्य के साक्षात्कार की साधना की व्याख्या-समीक्षा हुई है; किन्तु सत्य ऐसे ही समझ में आ

जाए, यह असंभव है। बहुत मुश्किल है। हम देखते हैं हमारे पूरे शरीर में भी एक ऐसा अवयव है, एक ऐसा यन्त्र है जो पूरे विश्व को देखने में समर्थ है। है वह बहुत छोटा, किन्तु जितना छोटा वह है, महत्वपूर्ण भी वह उतना ही है। इस छोटे यंत्र के माध्यम से हम पूरे विश्व का अवलोकन कर लेते हैं, जिधर चाहें उधर घूम के देख लेते हैं। पर इसे (आँख को) देखने के लिए भी आईना चाहिये।

यही स्थिति आत्मा की है। वह स्वयं अपने ज्ञानगुण से जगत् को देख सकती है ? किन्तु अज्ञान होने से, सकर्म होने से, जानने का सहज सामर्थ्य होते हुए भी आज उसमें स्वयं को जानने की योग्यता नहीं है। जब तक स्वयं को जानने वाले का सत्संग न हो, उन ग्रंथों का स्वाध्याय न हो, उनकी चर्चा न हो, उनका चिन्तन-मनन न हो, तब तक "आत्मा-की-बात" समझ में आये, यह मुश्किल है। समझ में आना तो बहुत बड़ी और दूर की बात है, 'आत्मा' शब्द सुनना ही अच्छा नहीं लगता। 'आत्मा' की चर्चा में कुछ क्षण बीतें इसके लिए भी हम तैयार नहीं है। यदि घर-गिरस्ती की चर्चा करनी हो, पड़ोस की चर्चा करनी हो, राजनीति की बात करनी हो, या मित्रों के साथ बैठ कर बात करते हुए चाय पीनी हो, तो आधे घंटे का समय कभी बड़ा नहीं लगेगा, कभी लंबा नहीं लगेगा, वह कब बीत गया, मालूम ही नहीं पड़ेगा; पर सत्य को समझाने वाले जितने भी साधन हैं, उन साधनों के सान्निध्य से हम कितनी जल्दी मन को मुक्त करना चाहते हैं, कितनी जल्दी हम उनसे अलग होना चाहते हैं, उस ओर से अपने मन को हम कितनी जल्दी मोड़ लेना चाहते हैं, इसका अनुभव तो हम रोज ही करते हैं : ऐसा लगता है कि यह बात कब पूरी हो और कब दूसरी शुरू हो और कब हम अपना पल्ला झटकें।

संयोग और वियोग में सुखी और दुःखी होने की इसकी आदत पुरानी है। जगत् के आधार पर अपना मूल्यांकन करना भी इसकी अज्ञानता का थर्मामीटर है, जगत् की दृष्टि में वह बड़ा बनना चाहता है। जगत् की दृष्टि में यह अपने-आपको छोटा मानता है। सारा कारोबार जगत् के आधार पर चल रहा है। जगत् शाश्वत है। किसी-न-किसी रूप में; कभी विनाश, कभी विकास; कभी उन्नत, कभी अवनत; कभी बहुत अधिक विकास की ओर जाकर संतुलित, तो कभी प्रलय/असंतुलन की स्थिति में; किन्तु प्रलय के क्षणों में भी कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं, जो बने रहते हैं, जिनके आधार पर सृष्टि का पुनः विकास होता है। क्या जगत् के शाश्वत होने पर भी एक व्यक्ति की अपेक्षा भी वह साथ है। 'साथ' शब्द सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं है। इसका ध्यान रहे।

सदा-सदा उसके साथ वह रह नहीं सकता। जो शरीर हमें प्राप्त है, उसमें परिवर्तन का एक सहज क्रम है। इस क्रम में सातत्य है। और सातत्य में से झाँकता स्थूल परिवर्तन हमारी आँखों का विषय बनता है। हम तब समझ पाते हैं कि कोई परिवर्तन हुआ है। बना है। जगत् हमारे साथ कभी एकरूप नहीं रह सकता। हर व्यक्ति का अपना जन्म-समय है। हर व्यक्ति का बचपन है, जवानी है, बुढ़ापा है, जन्म-से-मरण-तक उसके कई पड़ाव हैं। देखिये अपनी ही देह वह कितनी बदलती जा रही है, बचपन में शरीर की सेहत कुछ और ही होगी, सुन्दरता कुछ और ही होगी और बचपन की हलचल मन को कुछ और ही प्रभावित करती होगी, किन्तु जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, परिवर्तन की लहर आती है। बचपन आज हमारे लिए आँखों का विषय नहीं है। वह अब हमारे लिए सिर्फ एक कहानी है। किसी और का नहीं, हमारा अपना बचपन ही आज हमारे लिए कहानी है। और जिन्होंने पचास वर्ष पूरे कर लिये हैं, चालीस वर्ष से ऊपर जो आ गये हैं उनके लिए जवानी भी अब एक कहानी ही है; क्योंकि उसका भी 'विदाई-समारोह' हो चुका और बुढ़ापे का योग आ गया है। बुढ़ापे के बाद मृत्यु निश्चित है। सब बदलने को है। जितना बटोरा है, जितना संजोया है, जितना दुनिया की दृष्टि में महत्त्व पाया है, वह जो, जैसा है, एक दिन जाने वाला है। एक ऐसा क्षण आने वाला है जब सारा सापेक्ष सत्य हमारे लिए असत्य हो जाएगा। उस दिन हम 'अपने-पराये' की यात्रा से हट जाएँगे। जगत् भी शाश्वत है, जीवन भी शाश्वत है पर दोनों की यात्रा का जो क्रम है, वह कर्मानुसार बदलता रहता है। बहुत से व्यक्ति कहते हैं: 'महाराज! हम क्या जानें कि पुनर्जन्म क्या है? हम क्या जानें कि हमारा अतीत कैसा रहा है? हम क्या जानें कि हमारा भविष्य कैसा होगा? ठीक है: मैं कहती हूँ आपका भी सोचने का अपना ढंग है। आपकी अपनी बुद्धि है। आपके अपने संस्कार हैं। आपका अपना अध्ययन है। आपका अपना वातावरण है, जिसके आधार पर आपकी सोचने-समझने की दृष्टि बनी है। रहने दीजिये उसमें क्या दिक्कत है? किन्तु वर्तमान तो आँखों का विषय है, इसे तो आप ग़लत नहीं ठहरा सकते, इसे तो आपकी बुद्धि स्वीकार करती है? एक ही जीवन में कितने उतार हैं, कितने चढ़ाव हैं, कितनी विषमताएँ हैं, कितनी विचित्रताएँ हैं, कितने ऐसे क्षण हैं कि व्यक्ति को उन पर जोरों से हँसी आती है। कितने ऐसे क्षण आते हैं कि व्यक्ति एकदम रो पड़ता है। एक ही जिन्दगी की बचपन, जवानी और बुढ़ापा तीन अवस्थाएँ हैं। इनमें भी एक क्रम, एक व्यवस्था रही है। जो परिवर्तन आया है, जो अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ आयी हैं, उन पर यदि हम विचार करें तो सारी परिस्थितियाँ सापेक्ष लगेंगी, सारा घटना-चक्र सत्य-सापेक्ष है। इस जीवन में ही आप कोई ऐसा वस्त्र

बतायें जो शुरू-से-लेकर-आखिर-तक आपके पास रहा है। दो चार पाँच सात वस्त्रों के बाद तो उसका वियोग हुआ ही होगा ? कितना पहना होगा ? दो वर्ष, चार वर्ष, दस वर्ष। यदि उसके टुकड़े भी हुए होंगे तो उनके आकर्षण में, उसके रंग-रोगन में, उसकी चमक-दमक में, उसकी चिकनाई में, कहीं-न-कहीं कोई परिवर्तन अवश्य आया होगा। जिस वस्त्र को आपने पहली बार धारण किया होगा, नया सिलकर जो आया होगा, और जिसे पहिनने के क्षणों में बहुत प्रसन्नता हुई होगी, क्या दो-चार बार की धुलाई के बाद पहिनने में फिर वैसी ही प्रसन्नता आपको हुई ? नहीं हुई। इस तरह 'व्यय' की प्रक्रिया निरन्तर चलती है, किन्तु 'ध्रौव्य' बना रहता है। हमारा ध्यान सतत् उस 'ध्रौव्य' पर होगा।

आप भोजन करने बैठते हैं। प्रिय-से-प्रिय वस्तु, बहुत ज्यादा पसन्द की चीज आपकी थाली में है। भले ही वह कोई चीज हो, खाने के पहले आपके मन में उसके प्रति जितना आकर्षण रहा, पहले ग्रास में जो आनन्द आपको आया, उसके स्वाद में आपकी जीभ को जिस तरह चटखारा लगा, दूसरे ग्रास में, तीसरे में, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें में क्या आपको रसानुभूति में किसी परिवर्तन का अनुभव नहीं हुआ ? हो सकता है आपने ध्यान न दिया हो, अपनी बुद्धि को न घुमाया हो, पर अब भी जब कभी आप अनुभव करेंगे, वैसा पायेंगे।

हम यहाँ सत्संग-की-दृष्टि से चर्चा कर रहे हैं। हमारा मन उन पदार्थों के रस-में रस-लेते-हुए भी विरक्त हुआ है। ऐसे ही हम संसार को भी चाहते बहुत हैं। यह चाह भी जल्द ही पलट सकती है। बहुत जल्दी पलट जाती है। हम देखते हैं एक छोटा बच्चा है। जब माँ उसे पुचकारती है, या उसे दुलार रही है और उसके कहे पर चल रही है, तब बच्चा उससे लिपट-लिपट जाता है और यदि वही माँ उसे दो-तीन बार थप्पड़ मार देती है; उसकी बात सुनी-अनसुनी कर देती है और उसे विश्वास हो जाता है कि माँ अब मेरी इच्छा-पूर्ति में निमित्त नहीं है, तो वह मुँह फेरने लगता है। गोद में जाने से कतराने लगता है। परिवर्तन तो होता ही है। एक ही जिन्दगी में बचपन में कितने ऐसे शख्स होंगे जिन्हें हमने जी-जान से चाहा होगा, वे रागात्मक सम्बन्ध जवानी में फिर बदले गये, और बुढ़ापे में फिर बदल गये। बचपन में माँ से अधिक महत्त्व किसी को नहीं दिया, जवानी में पत्नी से ज्यादा प्यार किसी को नहीं दिया, बुढ़ापे में बेटे से ज्यादा ममत्व पोते को मिला होगा। इस तरह गौर से देखें : सब कुछ निरन्तर बदल रहा है।

बदल रहा है सब कुछ, किन्तु बदल कर भी वह दृष्टिमान नहीं है। व्यक्ति बदल रहे हैं, पदार्थ बदल रहा है, सोचने का ढंग बदल रहा है,

सदा-सदा उसके साथ वह रह नहीं सकता। जो शरीर हमें प्राप्त है, उसमें परिवर्तन का एक सहज क्रम है। इस क्रम में सातत्य है। और सातत्य में से झाँकता स्थूल परिवर्तन हमारी आँखों का विषय बनता है। हम तब समझ पाते हैं कि कोई परिवर्तन हुआ है। बना है। जगत् हमारे साथ कभी एकरूप नहीं रह सकता। हर व्यक्ति का अपना जन्म-समय है। हर व्यक्ति का बचपन है, जवानी है, बुढ़ापा है, जन्म-से-मरण-तक उसके कई पड़ाव हैं। देखिये अपनी ही देह वह कितनी बदलती जा रही है, बचपन में शरीर की सेहत कुछ और ही होगी, सुन्दरता कुछ और ही होगी और बचपन की हलचल मन को कुछ और ही प्रभावित करती होगी, किन्तु जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, परिवर्तन की लहर आती है। बचपन आज हमारे लिए आँखों का विषय नहीं है। वह अब हमारे लिए सिर्फ एक कहानी है। किसी और का नहीं, हमारा अपना बचपन ही आज हमारे लिए कहानी है। और जिन्होंने पचास वर्ष पूरे कर लिये हैं, चालीस वर्ष से ऊपर जो आ गये हैं उनके लिए जवानी भी अब एक कहानी ही है; क्योंकि उसका भी 'विदाई-समारोह' हो चुका और बुढ़ापे का योग आ गया है। बुढ़ापे के बाद मृत्यु निश्चित है। सब बदलने को है। जितना बटोरा है, जितना संजोया है, जितना दुनिया की दृष्टि में महत्त्व पाया है, वह जो, जैसा है, एक दिन जाने वाला है। एक ऐसा क्षण आने वाला है जब सारा सापेक्ष सत्य हमारे लिए असत्य हो जाएगा। उस दिन हम 'अपने-पराये' की यात्रा से हट जाएँगे। जगत् भी शाश्वत है, जीवन भी शाश्वत है पर दोनों की यात्रा का जो क्रम है, वह कर्मानुसार बदलता रहता है। बहुत से व्यक्ति कहते हैं : 'महाराज! हम क्या जानें कि पुनर्जन्म क्या है? हम क्या जानें कि हमारा अतीत कैसा रहा है? हम क्या जानें कि हमारा भविष्य कैसा होगा? ठीक है: मैं कहती हूँ आपका भी सोचने का अपना ढंग है। आपकी अपनी बुद्धि है। आपके अपने संस्कार हैं। आपका अपना अध्ययन है। आपका अपना वातावरण है, जिसके आधार पर आपकी सोचने-समझने की दृष्टि बनी है। रहने दीजिये उसमें क्या दिक्कत है? किन्तु वर्तमान तो आँखों का विषय है, इसे तो आप ग़लत नहीं ठहरा सकते, इसे तो आपकी बुद्धि स्वीकार करती है? एक ही जीवन में कितने उतार हैं, कितने चढ़ाव हैं, कितनी विषमताएँ हैं, कितनी विचित्रताएँ हैं, कितने ऐसे क्षण हैं कि व्यक्ति को उन पर जोरों से हँसी आती है। कितने ऐसे क्षण आते हैं कि व्यक्ति एकदम रो पड़ता है। एक ही जिन्दगी की बचपन, जवानी और बुढ़ापा तीन अवस्थाएँ हैं। इनमें भी एक क्रम, एक व्यवस्था रही है। जो परिवर्तन आया है, जो अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ आयी हैं, उन पर यदि हम विचार करें तो सारी परिस्थितियाँ सापेक्ष लगेंगी, सारा घटना-चक्र सत्य-सापेक्ष है। इस जीवन में ही आप कोई ऐसा वस्त्र

वतायें जो शुरू-से-लेकर-आखिर-तक आपके पास रहा है। दो चार पाँच सात वस्त्रों के वाद तो उसका वियोग हुआ ही होगा? कितना पहना होगा? दो वर्ष, चार वर्ष, दस वर्ष। यदि उसके टुकड़े भी हुए होंगे तो उसके आकर्षण में, उसके रंग-रोगन में, उसकी चमक-दमक मे, उसकी चिकनाई में, कहीं-न-कहीं कोई परिवर्तन अवश्य आया होगा। जिस वस्त्र को आपने पहली वार धारण किया होगा, नया सिलकर जो आया होगा, और जिसे पहिनने के क्षणों में बहुत प्रसन्नता हुई होगी, क्या दो-चार वार की धुलाई के वाद पहिनने में फिर वैसी ही प्रसन्नता आपको हुई? नहीं हुई। इस तरह 'व्यय' की प्रक्रिया निरन्तर चलती है, किन्तु 'ध्रौव्य' वना रहता है। हमारा ध्यान सतत् उस 'ध्रौव्य' पर होगा।

आप भोजन करने वैठते हैं। प्रिय-से-प्रिय वस्तु, वहुत ज्यादा पसन्द की चीज आपकी थाली में है। भले ही वह कोई चीज हो, खाने के पहले आपके मन में उसके प्रति जितना आकर्षण रहा, पहले ग्रास में जो आनन्द आपको आया, उसके स्वाद में आपकी जीभ को जिस तरह चटखारा लगा, दूसरे ग्रास में, तीसरे में, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें में क्या आपको रसानुभूति में किसी परिवर्तन का अनुभव नहीं हुआ? हो सकता है आपने ध्यान न दिया हो, अपनी बुद्धि को न घुमाया हो, पर अव भी जव कभी आप अनुभव करेंगे, वैसा पायेंगे।

हम यहाँ सत्संग-की-दृष्टि से चर्चा कर रहे हैं। हमारा मन उन पदार्थों के रस-में रस-लेते-हुए भी विरक्त हुआ है। ऐसे ही हम संसार को भी चाहते बहुत हैं। यह चाह भी जल्द ही पलट सकती है। बहुत जल्दी पलट जाती है। हम देखते हैं एक छोटा वच्चा है। जव माँ उसे पुचकारती है, या उसे दुलार रही है और उसके कहे पर चल रही है, तब बच्चा उससे लिपट-लिपट जाता है और यदि वही माँ उसे दो-तीन वार थप्पड़ मार देती है; उसकी वात सुनी-अनसुनी कर देती है और उसे विश्वास हो जाता है कि माँ अव मेरी इच्छा-पूर्ति में निमित्त नहीं है, तो वह मुँह फेरने लगता है। गोद में जाने से कतराने लगता है। परिवर्तन तो होता ही है। एक ही जिन्दगी में वचपन में कितने ऐसे शख़्स होंगे जिन्हें हमने जी-जान से चाहा होगा, वे रागात्मक सम्वन्ध जवानी में फिर वदले गये, और बुढ़ापे में फिर वदल गये। बचपन में माँ से अधिक महत्त्व किसी को नहीं दिया, जवानी में पत्नी से ज्यादा प्यार किसी को नहीं दिया, वुढ़ापे में वेटे से ज्यादा ममत्व पोते को मिला होगा। इस तरह गौर से देखें: सब कुछ निरन्तर वदल रहा है।

वदल रहा है सव कुछ, किन्तु वदल कर भी वह दृष्टिमान नहीं है। व्यक्ति वदल रहे हैं, पदार्थ वदल रहा है, सोचने का ढंग वदल रहा है,

समझने का ढंग बदल रहा है, खाने-पीने के पदार्थ बदल रहे हैं, सब कुछ बदल रहा है।

यदि हमारा ज्ञान गुण हमारी आत्मा की ओर झुक जाए, और जैसे आज तक इसने जगत् को जानने और समझने में अपनी बुद्धि का पूरा उपयोग किया है, वैसे ही स्वयं-को-समझने का प्रयास यदि यह करने लगे तो एक बहुत बड़ी उपलब्धि वह होगी। भीतर से यदि यात्रा प्रारम्भ करें और अपनी आत्मा के प्रति सघन आत्मीयता बनायें तो बाहर के वातावरण में बहुत जल्दी ही वह सामंजस्य स्थापित कर लेगा। बाहर के वातावरण में बहुत जल्दी टूटने की और घुलने की संभावनाएँ कम होंगी, बाहर का वातावरण उसे जो मिलेगा, जैसा मिलेगा, जिस समय मिलेगा उसे सहज रूप से वह स्वीकार कर लेगा। आत्मा की अस्मिता जिस दिन समझ में आ जाएगी उस दिन एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी; बाहर के जगत् में जो आक्रोश है, आवेश है, ईर्ष्या है, द्वेष है, लड़ाई-झगड़े हैं, सब शान्त हो जाएँगे। भोजन होगा तब उ क्षण वह भोजन के लिए होगा, इसलिए होगा कि शरीर की आवश्यकता है, उसकी खुराक है। शरीर एक मशीन है, और उसकी पूर्ति के के लिए स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन करना ज़रूरी है तो इस तरह वह भोजन पर दृष्टि डालेगा। स्वास्थ्य की अपेक्षा भोजन के दर्शन भी कर लेगा, उचित होगा रख लेगा, अनुचित होगा तो निकाल भी देगा, किन्तु उसके बाद भोजन-की-कहानी में उसकी जिह्‌वा हिलेगी नहीं। उसकी चर्चा करने को उसका मन तैयार नहीं होगा। जो मिला, जैसा मिला शान्त भाव से प्रसन्नता के साथ उसमें आनंद लेगा, और जिस प्रकार परिवार से व्यवहार मिलेगा उसमें भी संतोष कर लेगा। उसमें भी ज्यादा उछल-कूद नहीं करेगा। सत्य को समझे बिना, उसके आत्मसात तक दृष्टि गये बिना, कुछ हो नहीं पायेगा। कितने हैं ऐसे लोग, जो बुढ़ापे के दिनों आँसू बहाते-बहाते मृत्यु में उतर गये, क्योंकि ज़िंदगी पुण्य-पाप की तराज़ू है, कभी इधर भारी, कभी उधर हल्की। दोनों पलड़े कभी एक समान नहीं रहते। कभी पुण्य का पलड़ा भारी होता है, कभी पाप का। ऐसी स्थिति में पुण्य के पलड़े से हर व्यक्ति चिपकना चाहता है, किन्तु पाप के पलड़े का स्वागत वह नहीं करता। जिसने आत्मा को समझा है वह पुण्य के पलड़े का स्वागत जिस तरह से करेगा, पाप के पलड़े का भी उसी तरह से करेगा। वह दोनों पलड़ों को संतुलित रखने के लिए एक समस्त की भूमिका में आने का प्रयत्न करेगा। प्रयत्न करेगा, ऐसा नहीं है कि यह सब एक, या दो दिन में हो जाएगा, दस-बीस वर्ष भी लग सकते हैं। पुरुषार्थ जितना होगा, लगन जितनी होगी, आत्मा में कर्मों का कालापन उतना ही कम होगा। हमें मालूम है कि हमारा वस्त्र बहुत ज्यादा काला है, तो हम उसी तैयारी से बैठते हैं, साबुन भी है,

पानी भी है, सोड़ा भी है, सारे साधन हैं। दो-तीन बार साबुन भी लगा दिया, पानी भी लिया, कुटाई भी की। कुटाई करने के बाद मैल निकलता है, नहीं निकला है ऐसी बात नहीं है; पर वस्तु को देखता है तो ऐसा ही लगता है कि अभी तो वह काला-का-काला ही है। यदि वह उसे साफ करने में लग गया है और करता-गया, करता-ही-गया, करता-ही-गया, तो उसका परिणाम क्या होगा? साफ है : उज्ज्वलता। पर एक शर्त है जिसे अपना वस्त्र ही साफ करना होगा, तो उसमें इतना विवेक आ ही जाएगा कि अब आगे कपड़ा अधिक काला न हो। अब तक जितना हो गया, हो गया; अब और नहीं। और इसलिए वह कपड़ा धोते समय जमीन को साफ करके उसे रखता है धोना कपड़े को ही है, पर साफ करके : क्योंकि उसे मालूम है कि इसमें पहले से ही कोई कम मैल नहीं है : सब कुछ ठीक से जानता है इसीलिए धोने बैठा है : इसीलिए पानी औंटा रहा है, इसीलिए उसमें सोड़ा डाल रहा है। वह जानता है कि यह कोई सामान्य कालिमा नहीं है, कि एक-दो बार साबुन लगाया और सुखा दिया। कपड़ा बहुत काला है उसे यह मालूम है, तथा उसमें इतना विवेक है कि अब कपड़ा और अधिक काला नहीं होना चाहिये।

सत्संग के ऐसे ही उत्तम वातावरण में जब व्यक्ति का मन/बुद्धि/रुचि सत्य की ओर आ जाए, तब यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। उसका बाहरी जगत् बड़ा व्यवस्थित हो जाएगा, व्यवस्थित का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा को समझने वाले की पूरी गगरी भर ही जाएगी। वह तो पुण्य और पाप के अनुसार ही होगा। उसे वैसा ही मिलेगा, जैसा उसका पुरुषार्थ होगा, उसका भाग्य होगा, पर जो उसे मिलेगा उसमें संतोष-दृष्टि तो आयेगी-ही-आयेगी। और यदि नहीं आयी तो अध्यात्म के दर्शन उसने किये ही नहीं। चर्चा कोई कितनी भी कर ले, भाषण कोई कितना भी दे ले, और सत्य के समझने के लिए ग्रन्थों का और आगम का कितना ही गहन मन्थन कर ले, पाण्डित्य का प्रदर्शन भले ही क्यों न कर लें; किन्तु द्रव्य-स्वरूप को समझने के लिए उसमें वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान वही है जो जीवन में जीवन्त हो उठे। सत्संग के इस निर्मल वातावरण में मैं आप से जो चर्चा कर रही हूँ, क्या उतना ज्ञान मुझमें आ गया है? और यदि ऐसा ज्ञान आ जाता कि वक्ता जो भी कहता उसमें भी विवेक होता, या समझ होती तो महाकवि तुलसीदास को ये पंक्तियाँ शायद नहीं लिखनी पड़तीं :

पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं, ते नर न घनेरे।।

कीमत आचरण की है, बोलने की कीमत नहीं है। जीवन में यदि आज विवेक आ जाए तो सब कुछ निर्मल-स्वच्छ हो सकता है। सत्संग से एक बहुत बड़ी बात समझने को मिलती है कि यदि अतीत के पुरुषार्थ से किसी व्यक्ति को वर्तमान में कोई शक्ति बहुत मिल जाए तो वह बहुत अच्छी

समझने का ढंग बदल रहा है, खाने-पीने के पदार्थ बदल रहे हैं, सब कुछ बदल रहा है।

यदि हमारा ज्ञान गुण हमारी आत्मा की ओर झुक जाए, और जैसे आज तक इसने जगत् को जानने और समझने में अपनी बुद्धि का पूरा उपयोग किया है, वैसे ही स्वयं-को-समझने का प्रयास यदि यह करने लगे तो एक बहुत बड़ी उपलब्धि वह होगी। भीतर से यदि यात्रा प्रारम्भ करें और अपनी आत्मा के प्रति सघन आत्मीयता बनायें तो बाहर के वातावरण में बहुत जल्दी ही वह सामंजस्य स्थापित कर लेगा। बाहर के वातावरण में बहुत जल्दी टूटने की और घुलने की संभावनाएँ कम होंगी, बाहर का वातावरण उसे जो मिलेगा, जैसा मिलेगा, जिस समय मिलेगा उसे सहज रूप से वह स्वीकार कर लेगा। आत्मा की अस्मिता जिस दिन समझ में आ जाएगी उस दिन एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी; बाहर के जगत् में जो आक्रोश है, आवेश है, ईर्ष्या है, द्वेष है, लड़ाई-झगड़े हैं, सब शान्त हो जाएँगे। भोजन होगा तब उ क्षण वह भोजन के लिए होगा, इसलिए होगा कि शरीर की आवश्यकता है, उसकी खुराक है। शरीर एक मशीन है, और उसकी पूर्ति के के लिए स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन करना जरूरी है तो इस तरह वह भोजन पर दृष्टि डालेगा। स्वास्थ्य की अपेक्षा भोजन के दर्शन भी कर लेगा, उचित होगा रख लेगा, अनुचित होगा तो निकाल भी देगा, किन्तु उसके बाद भोजन-की-कहानी में उसकी जिह्‌वा हिलेगी नहीं। उसकी चर्चा करने को उसका मन तैयार नहीं होगा। जो मिला, जैसा मिला शान्त भाव से प्रसन्नता के साथ उसमें आनंद लेगा, और जिस प्रकार परिवार से व्यवहार मिलेगा उसमें भी संतोष कर लेगा। उसमें भी ज्यादा उछल-कूद नहीं करेगा। सत्य को समझे बिना, उसके आत्मसात तक दृष्टि गये बिना, कुछ हो नहीं पायेगा। कितने हैं ऐसे लोग, जो बुढ़ापे के दिनों आँसू बहाते-बहाते मृत्यु में उतर गये, क्योंकि ज़िंदगी पुण्य-पाप की तराजू है, कभी इधर भारी, कभी उधर हल्की। दोनों पलड़े कभी एक समान नहीं रहते। कभी पुण्य का पलड़ा भारी होता है, कभी पाप का। ऐसी स्थिति में पुण्य के पलड़े से हर व्यक्ति चिपकना चाहता है, किन्तु पाप के पलड़े का स्वागत वह नहीं करता। जिसने आत्मा को समझा है वह पुण्य के पलड़े का स्वागत जिस तरह से करेगा, पाप के पलड़े का भी उसी तरह से करेगा। वह दोनों पलड़ों को संतुलित रखने के लिए एक समस्त की भूमिका में आने का प्रयत्न करेगा। प्रयत्न करेगा, ऐसा नहीं है कि यह सब एक, या दो दिन में हो जाएगा, दस-बीस वर्ष भी लग सकते हैं। पुरुषार्थ जितना होगा, लगन जितनी होगी, आत्मा में कर्मों का कालापन उतना ही कम होगा। हमें मालूम है कि हमारा वस्त्र बहुत ज्यादा काला है, तो हम उसी तैयारी से बैठते हैं, साबुन भी है,

पानी भी है, सोड़ा भी है, सारे साधन हैं। दो-तीन वार सावुन भी लगा दिया, पानी भी लिया, कुटाई भी की। कुटाई करने के वाद मैल निकलता है, नहीं निकला है ऐसी वात नहीं हैं; पर वस्तु को देखता है तो ऐसा ही लगता है कि अभी तो वह काला-का-काला ही है। यदि वह उसे साफ करने में लग गया है और करता-गया, करता-ही-गया, करता-ही-गया, तो उसका परिणाम क्या होगा? साफ है: उज्ज्वलता। पर एक शर्त है जिसे अपना वस्त्र ही साफ करना होगा, तो उसमें इतना विवेक आ ही जाएगा कि अव आगे कपड़ा अधिक काला न हो। अव तक जितना हो गया, हो गया; अव और नहीं। और इसलिए वह कपड़ा धोते समय ज़मीन को साफ करके उसे रखता है धोना कपड़े को ही है, पर साफ करके: क्योंकि उसे मालूम है कि इसमें पहले से ही कोई कम मैल नहीं है: सव कुछ ठीक से जानता है इसीलिए धोने वैठा है: इसीलिए पानी औंटा रहा है, इसीलिए उसमें सोड़ा डाल रहा है। वह जानता है कि यह कोई सामान्य कालिमा नहीं है, कि एक-दो वार सावुन लगाया और सुखा दिया। कपड़ा वहुत काला है उसे यह मालूम है, तथा उसमें इतना विवेक है कि अव कपड़ा और अधिक काला नहीं होना चाहिये।

सत्संग के ऐसे ही उत्तम वातावरण में जव व्यक्ति का मन/वुद्धि/रुचि सत्य की ओर आ जाए, तव यह एक वहुत वड़ी उपलब्धि है। उसका वाहरी जगत् वड़ा व्यवस्थित हो जाएगा, व्यवस्थित का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा को समझने वाले की पूरी गगरी भर ही जाएगी। वह तो पुण्य और पाप के अनुसार ही होगा। उसे वैसा ही मिलेगा, जैसा उसका पुरुषार्थ होगा, उसका भाग्य होगा, पर जो उसे मिलेगा उसमें संतोष-दृष्टि तो आयेगी-ही-आयेगी। और यदि नहीं आयी तो अध्यात्म के दर्शन उसने किये ही नहीं। चर्चा कोई कितनी भी कर ले, भाषण कोई कितना भी दे ले, और सत्य के समझने के लिए ग्रन्थों का और आगम का कितना ही गहन मन्थन कर ले, पाण्डित्य का प्रदर्शन भले ही क्यों न कर लें; किन्तु द्रव्य-स्वरूप को समझने के लिए उसमें वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान वही है जो जीवन में जीवन्त हो उठे। सत्संग के इस निर्मल वातावरण में मैं आप से जो चर्चा कर रही हूँ, क्या उतना ज्ञान मुझमें आ गया है? और यदि ऐसा ज्ञान आ जाता कि वक्ता जो भी कहता उसमें भी विवेक होता, या समझ होती तो महाकवि तुलसीदास को ये पंक्तियाँ शायद नहीं लिखनी पड़तीं:

पर उपदेश कुशल वहुतेरे। जे आचरहिं, ते नर न घनेरे ।।

कीमत आचरण की है, वोलने की कीमत नहीं है। जीवन में यदि आज विवेक आ जाए तो सव कुछ निर्मल-स्वच्छ हो सकता है। सत्संग से एक वहुत वड़ी वात समझने को मिलती है कि यदि अतीत के पुरुषार्थ से किसी व्यक्ति को वर्तमान में कोई शक्ति वहुत मिल जाए तो वह वहुत अच्छी

बात है : पर बहुत अच्छी बात हो कर भी व्यक्ति उसका उपयोग बहुत अच्छा नहीं कर सकेगा; क्योंकि उसके पास यह शक्ति आयी है, आत्मज्ञान की अनुपस्थिति में, अध्यात्म के विना, सत्संग के विना। उस व्यक्ति को शक्ति का उतना ही तीव्र अनुभव होता है, जितनी वह वस्तुतः होती है, किन्तु शक्ति का जितना अनुभव उसे कम होता है, "अहं" उतना ही बढ़ जाता है।

जैसे कोई बाल्टी नल के नीचे है। नल खुला है। पानी पड़ना चालू है। उसमें से आवाज़ आती है और दो, तीन, चार, मिनिट के बाद अनुभव होता है कि आवाज़ कम होती जा रही है और फिर शनैःशनैः अनुभव होता है कि आवाज़ आना ही वन्द हो रही है, तव पूछा कि क्या नल वन्द हो गया है? क्या बाल्टी भरी नहीं है? क्या पानी आ नहीं रहा है? तो दूसरे व्यक्ति ने कहा महाराज--बाल्टी भर गयी, पूरी भर गयी, इसलिए आवाज़ बन्द हो गयी, जैसे-जैसे बाल्टी में पानी भरता गया वैसे-वैसे उस तरह की आवाज़ उत्तरोत्तर कम होती गयी।

ठीक उसी क्षण मन में चिन्तन किया कि जैसे बाल्टी में पानी बढ़ता गया और आवाज़ घटती गयी, वैसे ही व्यक्ति के जीवन में जितनी-जितनी शक्ति बढ़ती जाती है, उसका अहं घटता जाता है, किन्तु कव? जव आत्म-ज्ञान होता है, जब 'शाश्वत' पर उसकी दृष्टि जाती है, जब आत्मा पर उसकी दृष्टि पहुँचती है, जब वह जानने लगता है, कि सब कुछ काल-सापेक्ष है। डॉक्टर हूँ, पर न था, न रहूँगा : एक ही ज़िंदगी में बचपन में डॉक्टर नहीं था, और मृत्यु के बाद नहीं रहूँगा। था भी नहीं, और रहूँगा भी नहीं, जबकि आत्मा सदैव थी और सदैव रहेगी।

एक मकान मालिक है, सदा से नहीं है। दस वर्ष पहले ही उसने इसे खरीदा है। आप दस वर्ष पहले भी थे, पर उस समय इस आनन्द से वंचित थे कि मैं मकान मालिक हूँ, क्योंकि तब आप किराये के मकान में रहते थे। आज आपके पास घर-का-मकान है, आप ५०००) रुपये प्रतिमास कमा रहे हैं। पहले आप किसी के यहाँ काम करते थे। आज दस व्यक्ति आपके यहाँ काम करते है। पहले आप सबको जानते थे, किन्तु आपको सब नहीं जानते थे : आज ऐसी स्थिति है कि भले ही आप सबको न जानते हों, किन्तु आपको सब जानते हैं; यह क्या है? शक्ति का विकास है : किन्तु शक्ति का यह विकास पुण्य प्रकृति के उदय से है। ध्यान रखिये, शक्ति के विकास में व्यक्ति को जितना भी आनंद होगा, उससे पाप का बंध ही होगा। शक्ति बहुत अच्छी है, किन्तु शक्ति का आनंद/मद बहुत बुरा है : शक्ति का आनंद व्यक्ति को ले डूबता है।

एक व्यक्ति को मैंने पच्चीस वर्ष की उम्र में देखा था, जब वह स्वयं कहीं काम करता था। उस समय उसका बात करने का ढंग, उसका लहजा,

काम करने की उसकी स्फूर्ति गज़ब थी। जो कहे उससे, वही कर दे। भाग्य पलटा। उसने पुरुषार्थ किया। संयोग ऐसा बना कि जो स्वयं किसी के यहाँ काम करता था, उसके यहाँ दस व्यक्ति काम करने लगे। दस साल पहले "जी हाँ" कहने की आदत थी। सेठ कहते 'पानी लाना'—तो कहता 'लाया साहब', यह काम करना, तो कहता—'आया साहब'। उसी को देखो कि दस वर्ष के बाद जब दस व्यक्ति उसके यहाँ काम कर रहे हैं तब आवाज़ वही है किन्तु लहजा वह नहीं है, आवाज़ वही है, किन्तु आवाज़ में वह सरलता नहीं है। शरीर वही है, जो दस वर्ष पहले दस काम करता था; किन्तु आज अपने शरीर की जरूरतें स्वयं पूरी कर ले इतना मनोबल नहीं है। मन बदल गया है, अब तो उसके वस्त्र भी दूसरा साफ करता है, बूट-पॉलिश भी कोई दूसरा ही करता है, मेज पर बैठा है तो पानी का गिलास भी कोई दूसरा देता है, और एक मिनिट कोई न सुने तो उस पर उबल पड़ता है, बरस पड़ता है; क्या हुआ है यह सब? इस चिन्तन से क्या मिला?

व्यक्ति वही है, केवल पाप का पलड़ा ऊँचा हो गया है और पुण्य का पलड़ा नीचा। वह इतना अहंकारी हो गया है कि उसका सोचना, समझना, बोलना, सब कुछ बदल गया है। यदि व्यक्ति सत्य से परिचित हो जाए तो फिर वह मानने लगता है कि जो कुछ उसे मिला है वह पुरुषार्थ का फल है, वह न तो सदा था और न सदा रहेगा। केवल कुछ वर्षों के लिए यह संयोग-संबंध है। और यह सारा जो कुछ है, वह सब काल-सापेक्ष है, काल-निरपेक्ष नहीं है; इसलिए सत्य है, पर 'सत्' नहीं है। जब 'सत्' पर हमारी दृष्टि जाएगी, तब दृश्यमान जगत् जिस रूप में भी व्यक्ति को प्राप्त हुआ है, वह प्राप्त करने का प्रयत्न भले ही करता रहे, किन्तु उसकी प्राप्ति में उसके मन में जो असंतोष, अशान्ति, क्षोभ, पीड़ा, तड़प, विकलता, बेचैनी, क्रोध, आदि हुआ करते थे वे सारे विकार अब शान्त हो गये हैं। ऐसा कब संभव है, तब जब 'सत्संग' सही अर्थ में हमारे लिए 'सत्संग' का रूप ग्रहण करेगा। □

—बालाघाट 16 जुलाई, 1983

आत्म-निरीक्षण

"नमस्कार-मंत्र" का अर्थ है "नमन करने का मंत्र"। नमस्कार-मंत्र में पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। पंचपरमेष्ठि-मंत्र की यह प्रार्थना आज जैन समाज से पूरी तरह जुड़ चुकी है, अर्थात् यह जैन समाज का सर्वमान्य मंत्र बन गया है। यदि हम इसके [स्वरूप पर दृष्टिपात करेंगे तो देखेंगे कि यह गुणों के आधार पर किया गया नमस्कार है। "नमो अरिहंताणम्" में किसी का नाम नहीं है। किसी का व्यक्तिगत उल्लेख पंच परमेष्ठि-मंत्र में कहीं देखने को नहीं मिलेगा। यहाँ किसी व्यक्ति-विशेष को नहीं वरन् व्यक्तित्व को नमस्कार किया गया है। जिस ने भी, किसी भी देश में, किसी भी काल में, जन्म-जरा-मरण-आधि-व्याधि-उपाधि-संयोग-वियोग समस्त विभाव-परिणामों का सर्वथा त्याग कर दिया और सदा-सदा जो स्वरूप में, स्वभाव में रमण करने लगे उन सिद्धों को इसमें नमस्कार किया गया है।

अरिहंतों को जो नमस्कार है उसमें भी यही है, अरिहंत सह-शरीर हैं, सिद्ध निराकार हैं, निराकार को बाद में और साकार को पहले नमन किया गया है। 'पंच परमेष्ठि-मंत्र' में पहले "नमो अरिहंताणं" है, बाद में "नमो सिद्धाणम्" है। वैसे देखा जाए तो निरंजन, निराकार की प्राप्ति "नमो सिद्धाणम्" में है और "नमो अरिहंताणम्" में साकार स्वरूप है।

साकार का अर्थ क्या है? परमात्मा जो शरीर-सहित है। "सिद्धाणम्" का सीधा अर्थ है "परमात्मा, जो ज्योतिर्मय-ज्योतिस्वरूप ही है"। जो शरीर-सहित हैं, उन्हें अरिहंत कहा गया है। यहाँ अरिहन्त को जो प्रथम स्थान दिया गया है, उसके पीछे भी हेतु है। शरीर में रहते हुए जिन्होंने परमात्म-स्वरूप का परिपूर्णता से अनुभव किया है, वे हैं अरिहंत। वे ही शरीर-रहित हुए, उन्होंने ही जगत् के जीवों को सिद्ध-स्वरूप का परिचय दिया। लोक-कल्याण की योग्यता निराकार में नहीं है, साकार में ही है; क्योकि वाणी-व्यवसाय शरीर-रहित अवस्था में संभव नहीं है, इसलिए "नमो अरिहंताणम्" पदबंध का प्रयोग पहले किया गया, और "नमो सिद्धाणम्" का बाद में।

अरिहंत ही सिद्ध होते हैं, अरिहंतों ने ही सिद्ध-का-स्वरूप बताया है और उन्हें ही जैन शब्दावली में आत्मा का परिपूर्ण ज्ञान हो गया है, जो केवल ज्ञानी या कहें, ब्रह्मज्ञानी हैं; उन्हें यह ज्ञान प्रतीति-रूप नहीं, अनुभूति-रूप होता है। अनुभूति-रूप ज्ञान होने के बाद भी वे शरीर में हैं, क्योंकि जब तक आयुकर्म है तब तक आत्मा परमात्म-स्वरूप प्राप्त करने के बाद भी शरीर में ही रहती है, और जैसे ही आयुकर्म खप जाता है, वैसे ही शरीर के संयोग का वियोग हो जाता है और वे सदा-सदा के लिए निराकार निरंजन, परम सिद्ध हो जाते हैं। परम ब्रह्म का रूप धारण कर लेते हैं।

यहाँ जो नमस्कार किया गया है वह उन्हें ही किया गया है, जिन्होंने जन्म-मरण, आधि-व्याधि, उपाधि, राग-द्वेष के भावों का आत्यन्तिक अभाव कर लिया है। यहाँ उन्हीं वीतरागों को नमन किया गया है। अरिहंत और सिद्ध को नमन किया गया है। आचार्य, उपाध्याय, और साधु इन तीन पदों में भी उन्हें ही नमन किया गया है। यद्यपि इन तीनों ने अभी परिपूर्ण रूप से उस आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया है, तथापि उस आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए जिन्होंने विशेष साधक जीवन, जिसका लक्ष्य है कषाय-विजय, अंगीकृत किया है। कषाय-विजय के लिए विषय-विजय और विषय-विजय के लिए इन्द्रिय-निग्रह और इन्द्रिय-निग्रह में भी दमन नहीं दबाव नहीं, पराधीनता से नहीं, परतन्त्रता से नहीं, अभाव से नहीं, विवशता से नहीं, बल्कि संवेग-ज्ञानपूर्वक उचित और अनुचित, हेय और उपादेय-रूप बुद्धि से जिन्होंने आत्म-स्वरूप की संप्राप्ति के लिए तदनुरूप जीवन को स्वीकार किया है और सांसारिक जीवन का, जो आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में बाधक है, जिन्होंने त्याग किया है, जो बाधक कारणों से अलग हुए हैं, और आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए जिन्होंने साधक कारणों को स्वीकार किया है; उन आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को भी नमन किया गया है, अर्थात् इस महामंत्र में उन्हें, जिन्होंने परिपूर्णतया आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, और जो आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की भावना से वीतराग-मार्ग पर राग-द्वेष-रहित आत्मा के सहज स्वभाव को प्राप्त करने के लिए त्याग, तप, संयम की साधना में लग गये हैं, भी नमन किया गया है।

इस प्रकार पंचपरमेष्ठि-मंत्र में शुद्ध आत्माओं (अरिहंत, सिद्ध) को नमस्कार है, और शुद्ध-आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए शुद्ध आत्माओं का आलम्बन ले कर अपनी आत्मशुद्धि के लिए जो साधनारत हैं उन्हें नमन किया गया है। इस तरह साध्य पद को भी नमन है और साधक पद (आचार्य, उपाध्याय, साधु) को भी। इस प्रकार पंचपरमेष्ठि-मंत्र में जब हम नमस्कार करते हैं, तब वह किसी जाति-विशेष के व्यक्ति को नहीं है; किसी देश-

विशेष के व्यक्ति को भी नहीं है; लिंग, वचन आदि की दृष्टि से भी नहीं है, वरन् उन सब आत्माओं को वह है, जिन्होंने परिपूर्णतया आत्म-स्वरूप को, सहज स्वभाव को प्राप्त कर लिया है।

इस सत्संग-सभा में हम उन्हें नमन करते हैं; क्योंकि हमारा लक्ष्य आत्म-शुद्धि है। जब हमारा लक्ष्य आत्म-प्रतीति है, तब आत्मा की परिपूर्णता जिन्होंने प्राप्त की है, उन्हें नमन करना हमारा कर्त्तव्य है। इसे "प्रार्थना" कहा जाएगा।

जब तक आत्मा को आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, तब तक समत्व की अनुभूति नहीं होगी। चर्चा चल रही है कि वह कला हमें कैसे प्राप्त हो, जिसके द्वारा संयोग में, वियोग में, सुख में, दुःख में, अनुकूलता में, प्रतिकूलता में, हर्ष में, शोक में, ज़िन्दगी के उतार और चढ़ाव में, आधि-व्याधि-उपाधि के संयोगों में, विविधता में, विचित्रता में, विषमता में हम समत्व और शान्ति का अनुभव कर सकें। इस शान्ति की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है ज्ञान, आत्मा-का-ज्ञान, परमात्म-स्वरूप-का-ज्ञान; अतः हमें पुरुषार्थ करना चाहिये कि उस परमात्म-स्वरूप को हम प्रगट कर सकें, उसे प्राप्त कर सकें, उसके लिए अनुकूल वातावरण बना सकें ताकि हम उस स्वरूप को समझ सकें, उसके लिए योग्य भूमिका बना सकें। "भूमिका" का अर्थ क्या है? विवेकमय लौकिक जीवन, पवित्र आचार-विचार, क्योंकि जब तक व्यक्ति का लौकिक जीवन विवेकपूर्ण नहीं होगा, योग्य नहीं होगा, सद्गृहस्थ के अनुरूप गुणों का विकास नहीं होगा, तब तक वह एक सुयोग्य गृह-संचालक भी नहीं बन सकता, पारिवारिक उत्तरदायित्व भी नहीं निभा सकता, परिवार के व्यक्तियों के बीच हिलमिलकर रहने की कला भी उसे नहीं आ सकती। ऐसी विषम स्थिति में वह आत्मा, परमात्मा, महात्मा के मार्ग पर चले, यह बहुत मुश्किल है; इसलिए यहाँ हम उस योग्यता की चर्चा कर रहे हैं, जो आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए बहुत ज़रूरी है।

अनादिकाल के परिभ्रमण में इस जीव ने जगह-जगह ऐसा ही जीवन जिया है, जैसा हम आज जी रहे हैं, इसका ऐसा कोई जीवन नहीं रहा है जहाँ इसके संस्कार इसके साथ न रहे हों, जहाँ इसका पुरुषार्थ न रहा हो, रहा है, और ऐसा ही, जैसा आज हमारा है।

ममत्व भाव सब जगह रहा है, विषय-विकार के परिणाम सब जगह रहे हैं, परिवार, धरती के प्रति मोह सब जगह इस जीव को रहा है। दूसरों का शोषण और अपना पोषण ये संस्कार सदा रहे हैं। दूसरों से बटोरना और अपना बढ़ाना, ये संस्कार जीव के सदा रहे हैं। इन्हीं संस्कारों में हम

विशेष के व्यक्ति को भी नहीं है; लिंग, वचन आदि की दृष्टि से भी नहीं है, वरन् उन सब आत्माओं को वह है, जिन्होंने परिपूर्णतया आत्म-स्वरूप को, सहज स्वभाव को प्राप्त कर लिया है।

इस सत्संग-सभा में हम उन्हें नमन करते हैं; क्योंकि हमारा लक्ष्य आत्म-शुद्धि है। जब हमारा लक्ष्य आत्म-प्रतीति है, तब आत्मा की परिपूर्णता जिन्होंने प्राप्त की है, उन्हें नमन करना हमारा कर्त्तव्य है। इसे "प्रार्थना" कहा जाएगा।

जब तक आत्मा को आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, तब तक समत्व की अनुभूति नहीं होगी। चर्चा चल रही है कि वह कला हमें कैसे प्राप्त हो, जिसके द्वारा संयोग में, वियोग में, सुख में, दु:ख में, अनुकूलता में, प्रतिकूलता में, हर्ष में, शोक में, ज़िन्दगी के उतार और चढ़ाव में, आधि-व्याधि-उपाधि के संयोगों में, विविधता में, विचित्रता में, विषमता में हम समत्व और शान्ति का अनुभव कर सकें। इस शान्ति की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है ज्ञान, आत्मा-का-ज्ञान, परमात्म-स्वरूप-का-ज्ञान; अत: हमें पुरुषार्थ करना चाहिये कि उस परमात्म-स्वरूप को हम प्रगट कर सकें, उसे प्राप्त कर सकें, उसके लिए अनुकूल वातावरण बना सकें ताकि हम उस स्वरूप को समझ सकें, उसके लिए योग्य भूमिका बना सकें। "भूमिका" का अर्थ क्या है? विवेकमय लौकिक जीवन, पवित्र आचार-विचार, क्योंकि जब तक व्यक्ति का लौकिक जीवन विवेकपूर्ण नहीं होगा, योग्य नहीं होगा, सद्गृहस्थ के अनुरूप गुणों का विकास नहीं होगा, तब तक वह एक सुयोग्य गृह-संचालक भी नहीं बन सकता, पारिवारिक उत्तरदायित्व भी नहीं निभा सकता, परिवार के व्यक्तियों के बीच हिलमिलकर रहने की कला भी उसे नहीं आ सकती। ऐसी विषम स्थिति में वह आत्मा, परमात्मा, महात्मा के मार्ग पर चले, यह बहुत मुश्किल है; इसलिए यहाँ हम उस योग्यता की चर्चा कर रहे हैं, जो आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए बहुत ज़रूरी है।

अनादिकाल के परिभ्रमण में इस जीव ने जगह-जगह ऐसा ही जीवन जिया है, जैसा हम आज जी रहे हैं, इसका ऐसा कोई जीवन नहीं रहा, है जहाँ इसके संस्कार इसके साथ न रहे हों, जहाँ इसका पुरुषार्थ न रहा हो, रहा है, और ऐसा ही, जैसा आज हमारा है।

ममत्व भाव सब जगह रहा है, विषय-विकार के परिणाम सब जगह रहे हैं, परिवार, धरती के प्रति मोह सब जगह इस जीव को रहा है। दूसरों का शोषण और अपना पोषण ये संस्कार सदा रहे हैं। दूसरों से बटोरना और अपना बढ़ाना, ये संस्कार जीव के सदा रहे हैं। इन्हीं संस्कारों में हम

सदा से जी रहे हैं। कब से जी रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में जितने भी तत्त्व-चिन्तक, मनीषी, संत, महात्मा भारतीय परम्परा में हुए हैं उन सबने यह कहकर स्पष्ट कर दिया है कि तुम अनादि हो, तुम सनातन हो, तुम चिरन्तन हो, तुम नवीन नहीं हो, तुम सदा-सदा से हो। शरीर की अपेक्षा से बदलते रहे हो। गति, जाति की अपेक्षा से बदलते रहे हो, किन्तु आत्मा की दृष्टि से तुम सदा-से संसार में हो। कब से? जब से संसार है। संसार अनादि है, तुम भी अनादि हो। कर्म-संयोग भी अनादि है। इन्हीं संस्कारों में हम सदा-से जी रहे हैं।

बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिनके ऐसे विचार हैं कि किसने देखा स्वर्ग और किसने देखा नरक? ठीक है: ये आपके अपने विचार हैं, रहने दीजिये तब तक जब तक आपको आप्त पुरुषों की वाणी पर श्रद्धा न हो जाए; किन्तु मनुष्य तो सामने है, पशु-पक्षी भी हमारे सामने हैं। नरक और स्वर्ग की बात हम न भी करें, तो भी पशु-पक्षी-जगत् के आधार पर तो हम सोच ही सकते हैं।

बन्दरों को देखो। जब बन्दरों का एक समूह किसी गाँव में होता है तब उसका कोई प्रमुख होता है। उसकी प्रमुखता का परिचय हम उसकी शारीरिक बलिष्ठता से भी पा सकते हैं। इसके पीछे देखें तो पन्द्रह-बीस बन्दरों की एक पंक्ति चल रही होती है। कभी-कभी बन्दरों के दो दल आमने-सामने मिल जाते हैं। उस समय उनके मनोभावों को देखने का अच्छा मौका मिलता है। जब कोई रोटियाँ डाल देता है और बन्दरों के दो समूह आमने-सामने खड़े हो जाते हैं, तब जो छीना-झपटी उनमें होती है, जो संघर्ष उनमें ठनता है, जो नोचना, चिल्लाना, एक-दूसरे के लिए गुर्राना होता है, उसे देख-कर हम तुरन्त अनुभव कर सकते हैं कि क्या मनुष्य बनकर कहीं हम भी तो ऐसा जीवन नहीं जी रहे हैं? तिर्यञ्च गति में पशु-पक्षियों के रूप में इस तरह का जीवन हमने व्यतीत किया है। शोषण की वृत्ति, हिंसा की वृत्ति, अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए, अपनी तृष्णा-तृप्ति के लिए एक व्यक्ति दूसरे का का शोषण करता है। शोषण की यह प्रवृत्ति मनुष्यों में ही नहीं पशुओं में भी देखने को मिलती है।

एक बार हम लोगों ने किसी देवालय के प्रांगण में रात्रि-विश्राम किया। मध्यरात्रि में बारह-एक बजे निद्रा टूटी। विचार किया कुछ समय सुमरण करें। चिन्तन करें। निद्रा जब टूट ही गयी है तब प्रमाद में इधर-से-उधर करवटें क्यों बदलें, बैठ ही जाएँ; किन्तु बैठते ही जैसे सुमरण करने, चिन्तन करने लगे कि तुरन्त दिखाई दी एक बिल्ली जो आधी रात हुए भी जाग

रही है। उसकी बुद्धि उसे सोने के लिए इजाजत नहीं दे रही है। वह घूर कर देख रही है और इस कोशिश में है कि कब कोई चूहा आये और कब वह उसे चट करे। एक-दो घंटों तक ऐसा ही चला (यानी स्थिति यह बनी कि न तो सुमरण हो सका और न ही निद्रा आ सकी; मात्र उसके मनोभावों को, उसकी प्रवृत्ति को देखने में मन उलझा रहा)। विचार आया कि दो घंटे की इस अवधि में उसने एक या दो चूहे पकड़ भी लिये, पर इन दो घंटों में वह किन भावों में जीती रही, किन विचारों में उसका समय व्यतीत होता रहा, और जैसे ही "चान्स" मिला, वैसे ही चूहे पर झपट पड़ी। उस झपटने में चूहे के प्राणों पर दया उसे नहीं आई। "चूहे का भी अपना जीवन है" ऐसा विचार उसे नहीं आया। स्वार्थपरता की यह वृत्ति वहाँ भी देखने को मिली।

संग्रह-की-वृत्ति देखने के लिए एक चींटी जैसे छोटे-में-छोटे प्राणी का दृष्टान्त पर्याप्त है। गर्मी के दिनों में चींटी भी प्रयासपूर्वक शक्कर के एक-एक कण को अपने बिल तक ले जाती है। यदि सहज ही संयोग बन जाए तो सर्दी में चींटी के बिल में, या बिल के इर्द-गिर्द आपको आधा पाव तक शक्कर मिल सकती है। संग्रह-वृत्ति वहाँ भी है। उसके लिए प्रयत्न भी है, इतना अधिक कि एक दाने को उसने एक बार, दो बार, तीन बार, चार या दस बार ढोया है और यदि मुँह से वह छूट भी गया है तो उसने हार नहीं मानी है, उसने विश्राम नहीं किया है, उस दाने को उसने छोड़ नहीं दिया है; उसे बार-बार पकड़ने का प्रयत्न ज्यों-का-त्यों चालू रहा है। भले ही पूरा दिन ही क्यों न लगा हो वैसा करने में; किन्तु अन्ततोगत्वा उस दाने को मुँह में लेकर वह अपने बिल तक पहुँची ही है। तो संग्रह की इस वृत्ति को यदि हम देखना चाहें तो यह हमें पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों में भी देखने को मिल सकती है। उदाहरण अनेक हो सकते हैं।

जब मनुष्य साधन और सुविधा जुटाने की अपनी भावनाओं को मूर्त्त रूप देता है, तब वह अपने लिए एक भव्य भवन बना लेता है। ईंट, चूने, पत्थर को ऐसी व्यवस्था देता है कि वे कलात्मक हो उठते हैं और उनमें बड़ा आकर्षण पैदा हो जाता है। मनुष्य बड़ी उमंग और उल्लास के साथ उसका निर्माण करता है। उसमें ठाठ से निवास भी करता है। इन भावों को यदि हम देखना चाहें तो कबूतरों, चिड़ियों, तथा पक्षियों में भी देख सकते हैं। अपने अंडों की सुरक्षा के लिए, उनमें प्राणों की हिफाज़त के लिए, उनके विकास में कोई बाधा उपस्थित न हो इसलिए, तथा चूज़े कहीं अंग परिपूर्ण किये बगैर गिर न पड़ें इसलिए, वे घोंसले बनाते हैं। सोचिये वह चिड़िया, वह कबूतर, जिसने अपने अंडों को किसी कमरे की छत की छाया में या किसी

सुरक्षित दीवार की ओट में रख दिया है और पूरे दिन खुले आकाश में, मुक्त गगन, मुक्त पवन में जहाँ-तहाँ भ्रमण किया है; कितनी दूरी नापी है उसने? कितना इधर-से-उधर किया है उसने? इन्सान के पास तो अपने घर पहुँचने के लिए बाजार है, मोहल्ला है, गली नम्बर भी है, मकान पर नामपट्ट है, किन्तु खुले आकाश में उड़ने वाले पक्षियों के पास अपने घोंसले तक पहुँचने के लिए न कोई सड़क है, न गली-नम्बर। मकान की परिपूर्ण व्यवस्था भी उनके दिमाग़ में नहीं है, फिर पूरे दिन के बाद अपनी संतति का लगाव, उसका मोह, उसकी आसक्ति उसे वहाँ खींच लाती है। साँझ पड़े वह वहीं आ जाता है। उन्हें चुग्गा देता है और उनके जन्म से पहले नीड़ की रचना भी स्वयं करता है। कितनी ही बार चोंच में वह कहाँ-कहाँ से तिनके बटोर कर लाता है। क्या उसके परिश्रम का कोई मूल्य नहीं करेंगे आप? नीड़ के निर्माण में उसका भी अपना श्रम है, आकर्षण है, लगाव है; किन्तु जिन भावों में ये पशु-पक्षी जी रहे हैं, उन में कषाय कितनी है, क्लेश कितना है, विकार कितने हैं!! आत्मा के हन्ता ये पाप-भाव ही हैं। इनसे दुर्गति होती है. या सद्गति? ऐसे प्रश्न दिमाग में शायद कभी नहीं आते।

पशु-जीवन में ही जिन्हें आत्मा का ज्ञान हो जाता है, वे बहुत संस्कारी जीव हैं। ऐसे उदाहरण अपवाद रूप ही हैं। अधिक नहीं, अति अल्प हैं। ये उदाहरण भी किसके हैं, जो मनुष्य जिन्दगी में, सुसंस्कारों में जीवन जीते-जीते कहीं ग़लती कर गये और उस ग़लती के परिणामस्वरूप उन्हें तिर्यञ्च गति में जन्म लेना पड़ा, उनके हैं! पशु-पक्षियों में जो अच्छे विचार देखने को मिल रहे हैं वे उन्हें विरासत में मिले हैं। वे उनके मनुष्य-जीवन की साधना की ही संपत्ति हैं। वह सुसंस्कारों के रूप में ही जीवन में प्रकट होती है। मूल में मनुष्य-जीवन ही ऐसा जीवन है, जहाँ हम सुसंस्कारों को ग्रहण करने का प्रयत्न कर सकते हैं, क्योंकि जब तक ऐसी भूमिका हमारी नहीं बनेगी, तब तक हम आत्मज्ञान के अधिकारी नहीं बन पायेंगे। संत-वाणी को भले ही हम भौतिक स्तर पर समझ लें, किन्तु इस स्तर पर समझ कर भी संत-हृदय को समझना मुश्किल है। जब तक हम संत के हृदय को नहीं समझेंगे तब तक संत-वाणी भी हमारे जीवन का कायाकल्प नहीं कर पायेगी। संत-हृदय को समझने के लिए वस्तुतः एक सुयोग्य हृदय चाहिये। कैसा हृदय? जिसमें करुणा की गंगा प्रवाहित हुई हो, जिसमें परोपकार की भावना हो, सेवा-परायणता हो, त्याग और तप का शुभसंकल्प हो, सप्त व्यसन-रूप घृणित जीवन से जिसका जीवन ऊपर उठ गया हो, जो शुद्ध शाकाहारी हो, सद्-गृहस्थ के अनुरूप जिसका आचरण हो, और जो ऐसे जीवन में भी विषय-कषाय-को-मंद करने का निरन्तर प्रयत्न करता हो।

हमें कल्पना की बहुत ऊँची उड़ानें नहीं भरनी हैं, क्योंकि परमात्म-स्वरूप की व्याख्या पुस्तकों के आधार पर आप कितनी ही बार करें, कितने ही प्रवचन सुनें, किन्तु परमात्म-स्वरूप तब तक हमारी समझ में नहीं आयेगा जब तक उसे समझने योग्य हमारी भूमिका नहीं होगी। इसी भूमिका को बनाने का प्रयत्न है सत्संग। यह एक दिन में नहीं बनेगी, एक महीने में नहीं बनेगी, एक वर्ष में भी बन जाए, यह ज़रूरी नहीं है। ये सारे संस्कार, जिनमें हम जी रहे हैं, एक दिन में तैयार नहीं हुए हैं। आप देखें, बर्तन, जिसमें कालापन आ गया है, जिस पर कालिमा छा गई है, वह किसी एक क्षण में नहीं छायी है, एक दिन में वह नहीं आयी है। वह भी सापेक्ष है। स्थूलता की दृष्टि से है; यानी बर्तन पर जो कालिमा आयी है, वह हमारी बुद्धि ग्रहण कर रही है, हमारी आँखें जिस कालिमा को देख रही हैं, वह किसी एक क्षण का संचय नहीं है, कई दिनों का जमाव है। कई दिनों बाद जब वह कालिमा सघन हो गयी या स्थूल हो गयी, या अधिक हो गयी, तब वह हमें दिखायी देने लगी। हम जो वस्त्र पहने हैं, वे किसी एक क्षण में मैले नहीं हुए हैं; हर क्षण, हर समय किसी-न-किसी रूप में, अल्पता या अधिकता में धूलिकणों का संयोग उनमें होता रहा है। और इस संयोग-सम्बन्ध से जो कालिमा आ रही है, जो मलिनता आ रही है, वह चौवीस घंटे, दो दिन या तीन दिन के बाद या जैसे-जैसे समय गुज़रता जाता है, वैसे-वैसे बढ़ती जाती है। और जैसे-जैसे वह बढ़ती जाती है, कपड़ा ज्यादा काला (मैला) दिखाई देने लगता है। सवेरे-से-शाम तक मकान में मिट्टी आती है, पर वह मिट्टी किसी एक क्षण में एक साथ नहीं आयी है, बल्कि पूरे दिन में धीरे, धीरे, धीरे वह आती रही है, जमती रही है, किन्तु मालूम तब हुई है, जब संध्या-समय कचरा निकला है। ऐसे ही ये कुसंस्कार—अन्याय के, अनीति के, ठगने के, विश्वासघात के, दूसरों के शोषण के, किसी का मन दुखाने के, किसी के प्राण लेने के, किसी के प्राणों को तड़पाने के, अपनी वाणी और व्यवहार से दूसरों का मन दुःखी करने के, बहुत पुराने हैं। इनमें हम बहुत लम्बे समय से जी रहे हैं, इसलिए ये बढ़ते रहे हैं, बढ़ते जा रहे हैं, बढ़ते ही रहे हैं, पर इनका समय सुदीर्घ है, कभी-कभी तो बहुत कम समय में भी बहुत ज्यादा कालिमा आ जुड़ी है। ऐसा कब हुआ है? तब, जब हम कपड़े पहिन कर सवेरे-से-शाम तक हलवाई का काम करेंगे; सहज ही कपड़े काले हो जाएँगे। इसी तरह पूरे दिन में, पूरे मास में या पूरे वर्ष में जब कभी हमारे परिणामों में कलुषता आ जाती है, किसी के शोषण के विचार आ जाते हैं, विषय-विकार के कारण किसी को एकदम नज़र गड़ाकर देखने के विचार आ जाते हैं, या उसके जीवन के साथ हम खिलवाड़ करने बैठ जाते हैं या किसी की जायदाद अथवा अमानत दबा लेते हैं, या किसी की हत्या करा देते हैं, या

किसी के प्राणों को खत्म कराने की साज़िश करते हैं, तब ऐसे क्रूर परिणाम, जिनमें दूसरों को बहुत पीड़ा पहुँचाने, उन्हें बहुत ज्यादा तकलीफ देने, उनके प्राण लेने, या उनका इतना तिरस्कार करने कि वे संसार में न जीने के लिए एक बार विवश हो उठें, हमारी आत्मा में बेहिसाब कालिमा संचित हो जाती है; ऐसी स्थिति में समय तो कम होता है, किन्तु कालिमा का संचय अधिक होता है। हर समय यद्यपि ऐसा नहीं होता, फिर भी हर समय हम जिन भावों में जी रहे हैं, जो भाव हमें सत्संग के योग्य नहीं बना रहे हैं, निश्चय ही उन भावों में जीते हुए हम कभी भी आत्मा के दर्शन या संत-वाणी को हृदयंगम नहीं कर पायेंगे। यदि हमें संत-वाणी के मर्म को समझना है, अपने कु-संस्कारों को दफनाना है, तो निश्चय ही हमें अपने आज को ठीक से गुज़ारने का प्रयत्न करना होगा, क्योंकि आज हम जितने वर्ष के हो चुके हैं, जो भी उम्र हमारी आज हुई है, वह सारी उम्र हमारी नज़रों के सामने तस्वीर जैसी आ खड़ी हुई है। 'आज' के बिना कोई अतीत नहीं बना है, और आगामी कल के बिना कोई आज नहीं बना है। वर्तमान भविष्य से बना है, और अतीत वर्तमान से। वर्तमान के बिना आज तक अतीत न तो बना ही है और न कभी बनेगा। अतीत कैसा है? इसका प्रतिबिम्ब वर्तमान है। जो बीता उसे छोड़ दें, आज तक क्या किया इसे भूल जाएँ। प्रश्न है आज से हम कैसा जीवन जीना शुरू करें ताकि सत्संग-को-समझने-की-योग्यता विकसित हो, सत्य को पहिचानने की योग्यता अंकुरित हो, मनुष्य-जीवन की सार्थकता बने, और ऋषि-मुनियों ने मनुष्य-जीवन की जो महिमा गायी है वह हमारी बुद्धि में गहरे उतरे। इस सबके लिए बहुत ज़रूरी है कि हम किसी और को न बदलें, अपने-आप को बदलें और स्वयं को बदलने के लिए आत्मवृत्ति के दर्शन करें। आकृति-दर्शन के लिए तो आईना है, पर अपने अन्तरंग को देखने के लिए काँच का यह आईना अपर्याप्त है। उसके लिए तो चाहिये महापुरुषों का चित्त और चरित्र रूपी आईना जिसमें हम देख सकें अपना हृदय, अपने विचार, अपना आचरण, ऐसा करते हुए हम तुलनात्मक दृष्टि रखें, अध्ययन करें, अनुभव करें कि क्या हम जिनकी स्तुति कर रहे हैं, जिनकी वंदना कर रहे हैं, जिनको नमन कर रहे हैं, जिनको आराध्य मान रहे हैं, जिनके चरणों में सिर झुका रहे हैं; उनका जीवन कैसा रहा है, और मेरा जीवन आज कैसा है? जब तक हमारी दृष्टि तुलनात्मक नहीं होगी, तब तक हमें नहीं मालूम पड़ेगा कि हम क्या हैं? 'हम क्या हैं' यह तभी जान पड़ेगा जब हम अपने आराध्य के चरित्र पर गहन दृष्टिपात करेंगे। जब उनके चरित्र पर दृष्टि डालेंगे तब उनका परिपूर्ण विकास भी हमें सुनने को मिलेगा, उनकी सरलता

से परिचय होगा, आकाश को छूने वाली सहिष्णुता का परिचय भी मिलेगा, समुद्र-जैसी गम्भीरता का परिचय भी मिलेगा, शालीनता, परोपकार; लोक-सेवा आदि का परिचय भी मिलेगा।

जब हम उनके जीवन पर दृष्टि डालेंगे, उनके गुणों पर दृष्टिपात करेंगे, और समानान्तर फिर अपने पर दृष्टि लायेंगे, तब निश्चय ही हमें इस बात की प्रतिध्वनि मिलेगी : हे मेरे परम आराध्य मैं तेरे चरणों में प्रतिदिन सिर झुकाता हूँ, तन झुकाता हूँ, किन्तु आज तक मैं अपना मन नहीं झुका सका, आज तक मैंने इसे बदलने का कोई प्रयत्न नहीं किया। हे प्रभो! आपमें तो प्राणान्तक उपसर्ग आने पर भी, प्राणान्तक परीषह आने पर भी, मृत्यु-के-क्षण उपस्थित होने पर भी प्रतिकार के भाव नहीं आये। किसी के प्रति भी कोई प्रतिक्रिया आपने नहीं की, सबके प्रति आपने समत्व को विस्तृत किया, सबका आपने आत्मवत् स्वागत किया। कहाँ आप, कहाँ मैं ! कहाँ आपका वह मुमुक्षु आचरण और कहाँ मेरा यह विषम व्यवहार!! आप जीवन-भर विषमताओं को जीतते रहे, और मैं प्रतिपल क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा-जैसे क्रूर परिणामों में जीता रहा हूँ !!!

हम आराध्य के चरणों में जा-कर चिन्तन करें, क्या चिन्तन करें कि हे प्रभो, जिन भावों को आपने दफना दिया, जिन भावों को आपने पूरी तरह जीत लिया, उन भावों से ही मैं प्रतिपल ग्रसित हूँ। उन भावों का मेरी आत्मा पर प्रतिक्षण आक्रमण हो रहा है। उन भावों में जीते हुए मैं न सुख में हूँ, और न ही मेरा परिवार सुखी है। उन भावों में जीने से मैं स्वयं भी अशान्ति का अनुभव करता हूँ और मेरे निकटवर्ती भी।

सबमें पहला प्रश्न है: हम सोचें कि हम उन आत्माओं को कितनी शान्ति दे सकते हैं जो हमारे घनिष्ठ सम्पर्क में हैं, फिर वे चाहे कर्मचारी के रूप में हों, चाहे पड़ोसी के, चाहे परिवार के, चाहे बेटों-पोतों के, चाहे भाई के, चाहे बहिन के, चाहे बुआ के, चाहे माँ के, चाहे पत्नी के रूप में हों? किसके प्रति मेरा क्या आचरण होना चाहिये, किसके प्रति मेरा क्या कर्तव्य है, किसकी उन्नति में मेरा कितना और कैसा योगदान हो सकता है, किन संकल्पों के साथ हो सकता है, यह सोचा जाना ज़रूरी है। प्रसन्नता का कारण मैं बनूं सबके लिए, सबमें पहला शुभ संकल्प मेरा यही हो।

जब तक हमें ज़मीन पर रेंगना नहीं आयेगा, अन्तरिक्ष में भला कैसे उड़ पायेंगे? जब तक चार व्यक्तियों के बीच रहने का ढंग हम नहीं सीख लेते, शब्दों का कोई असर हम पर नहीं होगा। आराधना का क्या कोई असर नहीं होगा? क्या परमात्म-स्वरूप की बातें, बातें ही बनी रहेंगी? उपदेश हैं ये,

निश्चित ही उपदेश हैं, पर किनके उपदेश हैं? उनके, जिन्होंने शब्दोच्चार को अपने जीनव में पूरी तरह से उतारा है, जिन्होंने तदनुरूप जीवन जिया है।

'मैं माध्यम हूँ, मैं निमित्त हूँ' इसका अर्थ यह मत लीजिये कि मेरा जीवन उतना ही ऊँचा है, जितने धवल मेरे वस्त्र हैं। वस्त्रों का सफेद होना बड़ी बात नहीं है, हृदय का सफेद होना बड़ी बात है। उम्र बड़ी होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं है, पूरे जीवन का अच्छा होना बड़ी बात है। अच्छी-अच्छी बातें करना, कोई अच्छी बात नहीं है; जीवन का अच्छा होना बड़ी बात है।

सत्संग में बैठकर हम सब किस पर निगाह रखें? अपने पर। अपना अन्तरावलोकन करें। अपना निरीक्षण करें। अपना परीक्षण करें। अपने मन को, अपने रूप को बदलें। इस एक घंटे में जो कुछ हम सुनते हैं उसमें से जो कुछ ग्रहण करते हैं, कर सकते हैं, उसे लें और अपनी दिनचर्या का हिस्सा उसे बनायें। कोई-न-कोई बात तो पकड़कर हम यहाँ से उठें ही और उसे पूरी दिनचर्या में अपने दिमाग़ में रखें, और इस तरह जियें कि कुसंस्कारों को जीतने का काम हो, कुसंस्कारों को छोड़ने में बहुत बड़ा आलम्बन बने: क्योंकि ये एक दिन में नहीं छूटेंगे, बहुत समय लगेगा इनसे पिंड छुड़ाने में। कितना लगेगा, चिन्ता का विषय यह नहीं है, बल्कि चिन्ता का विषय यह है कि क्या हमने इन्हें छोड़ने की कोशिश शुरू कर दी है?

मान लीजिये, आप अनुभव करते हैं कि आपकी प्रकृति में ईर्ष्या बहुत ज्यादा है, या क्रोध बहुत ज्यादा है, या महत्त्वकांक्षा की भूख बहुत ज्यादा है, या रसना के अधीन आप बहुत ज्यादा हैं, या ऐसी कोई बुरी आदत है, जिसका आप स्वयं अनुभव करते हैं, दूसरे नहीं। दूसरे कितना भी कहें कि तुम में यह बुराई है, वह बुराई है, किन्तु आप जब तक महसूस नहीं करेंगे, कुछ होगा नहीं। एक बात बड़ी अजीब है कि दूसरे जब बुराई बताते हैं तब बुराई तो समझ में नहीं आती, किन्तु अपनी बुराई सुनकर उन पर क्रोध जरूर आता है, सचाई होने पर भी हम उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। तैयार नहीं हैं, सो ठीक, किन्तु सचाई बताने वाले के प्रति क्रोध करते हैं, मन उसके लिए गुस्से से भर उठता है, अशान्त हो जाता है, और मजा यह कि वह हमारी एक कमजोरी बताता है तो हम उसकी चार बताने पर कमर कस लेते हैं। दूसरे कितनी भी बुराइयाँ हमें, हममें बता दें, किन्तु तब तक हमारी आत्मा का कल्याण नहीं होगा जब तक हम स्वयं उनका अनुभव नहीं करेंगे। वह हमारी सत्पात्रता का प्रथम शुभचरण होगा, जब, जिस क्षण हमारी बुराई हमारी अपनी नजर में आ जाएगी, और हम उसे स्वीकार कर लेंगे। तभी वह निकलेगी, वर्ना उसे निकाल भगाने की कोई और व्यवस्था नहीं है।

हम पद-यात्राएँ करते हैं, रास्ते में चलते हैं, काँटा चुभता है, और जव चुभता है तव देखते हैं कि वह कहाँ लगा, पूरी पगतली देखते हैं, देखते-देखते जव ठीक जगह मालूम हो जाती है, तव काँटा निकालने का काम शुरू कर देते हैं, किन्तु जव तक काँटा दिखायी नहीं देगा, क्या निकालेंगे ? काँटा निकालने के लिए काँटे का दिखायी देना ज़रूरी है, और काँटा देखने-के-लिए पूरे पाँव का निरीक्षण भी ज़रूरी है। जव तक हम पाँव का सर्वेक्षण नहीं करेंगे, वह कैसे दिखायी देगा, जव तक हम अपने अंतरंग का दर्शन नहीं करेंगे, तव तक वुराइयाँ कैसे दिखाई देंगी ? मानिये, कुसंस्कारों का एक वहुत वड़ा पिटारा है हमारे पास, और इसीलिए दूसरों की वुराई देखने में हमें एक क्षण भी नहीं लगता। बहुत जल्दी हमारी दृष्टि घूमती है। किसी कवि ने वहुत अच्छी कल्पना की है कि एक वार चलनी ने, जिससे आटा छाना जाता है, गेहूँ छाना जाता है, सूई से कहा है : सूई-री-सूई ! तू इतनी छोटी है, फिर भी तुझमें छिद्र है। सूई चलनी की वात सुन-कर हँस पड़ी, और कहने लगी : मुझे भी वड़ा आश्चर्य है कि तुझे मेरा इतना छोटा-सा छेद दिखाई दे गया और तू जो स्वयं छेदों-से-भरी पड़ी है, इसका तुझे पता तक नहीं है ?

अजीव वात है। हम स्वयं छेदों से भरे हैं और दूसरों के छिद्र वता रहे हैं। वैसे ही मुझमें हज़ारों-हज़ार वुराइयाँ भरी पड़ी हैं, और फिर भी मैं यह कह रहा हूँ कि आपमें यह बुराई है, आपमें वह बुराई है, वस्तुत: यह अयोग्यता का परिचय है। जो स्वयं अपना सुधार करता है, वही सुधारक हो सकता है। जो उपदेश देता नहीं, उपदेश लेने की योग्यता का विकास करता है, वह आत्मार्थी है। जव तक हम स्वयं अनुशासित नहीं होंगे, अपनी वृत्तियों को नहीं वदलेंगे, अपने मन पर शासन नहीं करेंगे, तव तक परिवार को, पड़ोस को, हम चाहें कि सुधार दें तो तीन काल में भी वैसा नहीं हो पायेगा। सुधारने के लिए खुद-ब-खुद सुधरना वहुत ज़रूरी है। उपदेश देने से पहले, उपदेश लेना वहुत ज़रूरी है। आप पूछेंगे आप उपदेश देने क्यों वैठीं ? आपने ले लिया क्या सारा उपदेश ? मैं तो पहले ही कह रही हूँ कि नहीं लिया। नहीं लिया, लेना है, और इसीलिए मैं "आप" शब्द का प्रयोग नहीं कर रही हूँ। "अपन" का उपयोग कर रही हूँ, "हम" का प्रयोग कर रही हूँ। मैं स्वयं को अलग करके सम्वोधित नहीं कर रही हूँ, क्योंकि खुद को अलग करके आपको सम्वोधित करूँ, ऐसी योग्यता मेरी नहीं है।

हम सव मिलकर निरीक्षण करें, परीक्षण करें, स्वयं का करें, स्वयं करें; दूसरों का करने के लिए अभ्यास की ज़रूरत नहीं है। वह तो हमारी सदा की टेव है। टेव नहीं, कुटेव है; सुसंस्कार नहीं, कुसंस्कार है, और इन कुसंस्कारों

में हमारा समय कब, कैसे बीत जाता है, हम नहीं जानते ? दूसरों की निन्दा में, आलोचना में ना मालूम कितना समय कहाँ खड़े होकर हम व्यतीत कर देते हैं ? कहीं-कहीं तो धर्म-स्थानों में भी हम इस अविवेक का परिचय देते हैं। जहाँ आराधना के लिए हम जाते हैं, वहाँ भी निन्दा करते हैं। जहाँ उपासना करने जाते हैं वहाँ भी आलोचना करते हैं। जहाँ आत्म-शुद्धि के लिए जाते हैं, वहाँ भी आराधना के निमित्त आसन बाद में बिछाते हैं, पहले मिलने वालों से "तेरी-मेरी" की चर्चा करते हैं। कई तो और ज्यादा अविवेक दिखाते हैं। कहते हैं : सामायिक करनी है। अच्छा हुआ तुम आ गये। मैं समायिक ले लूँ, फिर बातें करेंगे। आराधना का संकल्प ले लेते हैं पहले, फिर घर-गृहस्थी की दुनिया-भर की बातें करते हैं। कहते हैं, हम साधना करेंगे; किन्तु यह सास-बहुओं-सी साधना होती है, इससे ज्यादा नहीं। ऐसा क्यों होता है ? अविवेक के कारण। इसे जब छोड़ेंगे, तब सत्संग का लाभ मिलेगा। □

—बालाघाट; 22 जुलाई 1983

राजा तू है

कुछ दिनों तक हमने 'अनित्य भावना' पर चर्चा की है। दूसरी भावना अशरण है, जिसे स्पष्ट करने के लिए कविवर भूधरदास ने सरल-सुबोध शब्दावली में गंभीर भाव भरने का प्रयत्न किया है। संबंधित पंक्तियाँ हैं :

दल-बल, देई-देवता, मात-पिता परिवार।
मरती विरियाँ जीव को, कोई न राखनहार ।।

असल में अज्ञान के कारण ही यह जीव जड़ को अपना सर्वस्व मानकर उसकी भट्टी में अपना जीवन झोंक रहा है।

ज्ञानी कहते हैं; तुम भले ही सब कुछ मानो; किन्तु 'वह कुछ है, सब कुछ नहीं है।' हम जिस धन के बल, या जिस सत्ता के बल पर, अपने-आपको महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उसी के बल पर अपना स्वामित्व कायम करते हैं। आज हर व्यक्ति स्वयं को जिस रूप मान रहा है, वह किस आधार पर मान रहा है? जड़-तत्त्व के आधार पर, पुद्गल के आधार पर ही न? पुद्गल जिस रूप में उसे मिला है, जितना मिला है, उसके बलबूते पर वह अपने-आपको महत्त्वपूर्ण मानता है, अपना स्वामित्व स्थापित करता है। अज्ञान के कारण जड़-भोगी जीव जड़ की अधीनता को स्वीकार करता है। यथा; एक बन्धु किसी जगह मिले और कहने लगे-महाराज, इस मकान का मालिक मैं हूँ; जिस मकान में आपने विश्राम किया है उस मकान का मालिक मैं हूँ। किसका मालिक है? ठीक से हिसाब लगा और देख कि तू किसका मालिक है, किस सत्ता-सम्पदा का स्वामी है?

चैतन्य चिदानन्द किस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर रहा है, पुद्गल-पिण्ड पर; वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की पर्यायों पर? इस चूने-पत्थर के संयोग से जो मकान बना है उस मकान के कारण स्वयं को महत्त्वपूर्ण मानता है। जो खनिज पदार्थ सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात आदि इसे प्राप्त हुए हैं उसी के बल पर यह अपने-आपको महत्त्वपूर्ण मानता है; उसी आधार पर छोटे-बड़े का भेद करता है। जिसे पुण्य-संयोग से बहुत सारे अनुकूल साधन

मिले हैं, वह व्यक्ति अपना वड़प्पन वताता है, जगत् भी उसका वह वड़प्पन स्वीकार कर लेता है, किन्तु जिसे इस प्रकार की सामग्री नसीव-नहीं है, रहने के लिए मात्र एक झोपड़ी जिसे मिली है, पहनने के लिए केवल दो-चार वस्त्र ही जिसे मिले हैं, सामान्य साधनों में जो व्यक्ति जीवन विता रहा है, वह व्यक्ति स्वयं की नज़र में खुद ही गिरा हुआ है। उसे अनुभव होता है कि मैं क्या हूँ? कुछ नहीं हूँ। मेरे पास कुछ भी नहीं है। 'मेरे पास कुछ भी नहीं है' इस तरह अपने-आपको दयनीय अनुभव करता है, ग़रीव अनुभव करता है, दीन-दुःखी अनुभव करता है। वह जड़ सम्पत्ति, वह चल-अचल सम्पत्ति, तो कुछ समय के लिए प्राप्त जड़-जगत् है। जिसे अधिक मिल गया वह उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर रहा है, प्रभुत्व वना रहा है और जिसे नहीं मिला है, वह स्वयं को दयनीय और दीन अनुभव कर रहा है।

ज्ञानी जन वार-वार ध्यान दिला रहे हैं कि तू यह कैसा विचित्र मूल्यांकन कर रहा है? किस आधार पर तू अपना स्वामित्व स्थापित कर रहा है? आज जिस धरती का स्वामी तू वन वैठा है, नामालूम उसके कल कितने स्वामी थे, और कल कितने होंगे? तू स्वयं शक्ति-सम्पन्न है, अनन्त शक्ति-सम्पन्न। तेरी शक्ति के सामने इनकी शक्ति कुछ भी नहीं है। इनकी शक्ति का भी ज्ञाता तू ही है। जानने वाला तू ही है। समझने वाला तू ही है। इस जड़-जगत् को महत्त्व देने वाला भी तू ही है; इसलिए तू स्वामित्व स्वीकार कर अपने ही गुणों का; अपने ही अविनाशी तत्त्वों में तेरा स्वभाव है। जो ज्ञान चेतना, तेरा गुण है वही तेरी शक्ति है, उसी पर तेरा स्वामित्व है। क्षण-भर को कभी-कभी यह सत्य व्यक्ति की समझ में आता भी है; किन्तु मात्र क्षण-भर के लिए; और उस क्षण में भी वह केवल वुद्धि से प्रभावित होता है, हृदय से नहीं।

कितना साहित्य लिखा गया है, कितने ग्रन्थ लिखे गये हैं, आज भी लिखे जा रहे हैं। एक पद-पंक्ति हैं: 'ऐसे वाज़ारों में जाना क्या, जो भोर लगें और साँझ उठें।' यहाँ क्षण-भर को कवि की आत्मा सत्य से प्रभावित हुई है। सत्य का उसने चिंतन यहाँ किया है। सत्य पर उसकी नज़र गयी है। सत्य को उसने महत्त्वपूर्ण तो माना है; किन्तु यदि यह प्रभाव स्थायी होता तो फिर उस कवि का अपना जीवन कुछ और ही होता: हम क्षण-भर के लिए प्रभावित होते हैं, किन्तु हमारा वह "क्षण-भर-का-प्रभाव" वहुत जल्दी हमसे विछुड़ जाता है। जैसे इन दिनों जव वर्षा होती है, तव पानी खूव वरसता है। सव जगह वरसता है। किसी दिन

पानी गिरते देखा और ऐसी जगह देखा जहाँ पहाड़ था। पहाड़ पर गिरने वाला पानी क्षण-भर के लिए पहाड़ को छूता है और दूसरे ही क्षण नीचे आ पड़ता है। वह गिरता है; क्योंकि पहाड़ पानी पीता नहीं हैं। पहाड़ पानी को आत्मसात नहीं करता। जल बरसता तो है, किन्तु क्षण-भर में फिर गिर जाता है। दूसरे क्षण फिर गिर जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि पहाड़ पर वर्षा का स्थायी असर नहीं हुआ। घंटे बाद, आधा घंटे बाद, दस-बारह मिनिट बाद, जब वर्षा बन्द हो और हम पहाड़ को देखें तो पहाड़ सूखा नज़र आता है। सूखा निचाट। उसे देखकर ऐसा लगता ही नही कि पानी वहाँ कभी गिरा था।

ठीक इसी प्रकार हमारी बुद्धि सत्संग में, सद्ग्रंथों के वाचन में, हरि-कीर्तन में, तथा प्रवचन-श्रवण में, क्षण-भर को तो सत्य से प्रभावित होती है; उस क्षण हमारी दृष्टि वास्तविकताओं पर जाती भी है; किन्तु उस वातावरण से जैसे ही वह अलग हुई और दुनिया में गयी, कोर्ट-कचहरी में गयी, फिर कहीं भी सत्य-का-वह-क्षण जीवन में दिखायी नहीं देता। जब कोई व्यक्ति घर की प्रतिकूलताओं में, क्रोध करता है; अशिष्ट शब्दावली का प्रयोग करता है; कहीं-कहीं अपशब्दों का प्रयोग भी करता है; कठोरता से, कर्कशता से क्रोध के आवेश में जिन शब्दों का प्रयोग करता है, तब उनसे वाता-वरण को वह इतना दूपित कर देता है कि उस क्षण यदि कोई ऐसा व्यक्ति जाए जिसने उसे सत्संग में देखा है तो वह तुरन्त सोचेगा कि क्या सत्संग का यही परिणाम है ? क्या सत्संग का कुछ असर इस पर हुआ है, क्या सत्संग का एक शब्द भी इसे छू सका है ? नहीं छू रहा है ? ऐसे ही यहाँ से उठकर दुकान पर चले, तो वहाँ के वातावरण से जो मन प्रभावित होता है, उससे नहीं लगता कि वह सत्संग से उठकर वहाँ पहुँचा है। ऐसे ही जब भोजन के लिए वह बैठता है और राग-द्वेप के जो अच्छे-बुरे भाव उसके मन में उथल-पुथल करते हैं, उनसे ऐसा नहीं लगता कि वह सत्संग के वातावरण में से आया है, या सत्संग-चर्चा ने उसे प्रभावित किया है।

बौद्धिक स्तर पर किसी बात को सुनने या समझने के बाद जब तक उसका प्रभाव चित्त पर नहीं पड़ेगा, जब तक वह स्थायी नहीं होगा, आत्मसात नहीं होगा, तब तक वह क्षणजीवी प्रभाव आत्म-कल्याण में उपकारक नहीं होगा; इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है : अनादि काल से (अनादि शब्द का प्रयोग यदि हम न भी करें और बहुत सामान्य शब्दों में कहें, तो कहेंगे कि) २३ घंटों का वातावरण ही व्यक्ति को अधिक प्रभावित करता आया है, एक घंटे का वातावरण २३ घंटों के वातावरण को प्रभावित करे, यह बहुत मुश्किल है।

कड़ी चिलचिलाती धूप है, व्यक्ति पसीने से भीग रहा है। गर्मी से मन परेशान है । ऐसे समय में यदि एक हल्की-सी बदली आकर बरस भी गयी और कुछ बूंदा-बाँदी से हमारे शरीर को भिगो भी गयी तो दो या दस मिनिट के बाद फिर होगी वही गर्मी, वही पसीना, वही विकलता । क्या हुआ पानी की उन बूंदों का ? वे गिरीं ज़रूर; किन्तु यह शरीर, यह मन गर्मी से जितना प्रभावित था, उस अनुपात में वे नहीं गिरीं; इसलिए ज्ञानी भगवंतों ने बार-बार कहा है कि यदि तुम्हें अपने मन को सत्य से प्रभावित करना है, यदि यथार्थ में सफल जीवन जीने की तुम्हारी अभिलाषा है तो सत्संग के वातावरण में स्वयं को बार-बार डालने का प्रयत्न करना चाहिए। हर तीन घंटे में तो सामूहिक सत्संग का वातावरण संभव नहीं होगा; किन्तु यदि नियमित तीन-चार घंटों का समय २४ घंटों में से व्यक्ति किसी भी तरह के सत्संग में दे, तो उस पर स्वस्थ असर पड़ सकता है; किन्तु कब ? विवेकपूर्वक, ध्यान-पूर्वक (देखा-देखी नहीं) समय का सदुपयोग करने पर ? कितनी ही बहिनें तीन-तीन, चार-चार घंटों तक धार्मिक स्थानों में जाकर बैठती हैं, घर-गृहस्थी के सारे काम छोड़कर बैठती हैं; तीन-चार घंटे का समय दिन में वे धार्मिक क्रियाओं में दे सकती हैं; क्योंकि घर की जिम्मेवारी उन पर विशेष नहीं होती है, जिनमें वृद्धत्व आ जाता है; अतः वे सहज ही सामायिक के नाम पर तीन घंटे का समय दे देती हैं; किन्तु तीन घंटों के बाद भी सौहार्द के अभ्यास का परिचय यदि परिवार उनसे लेना चाहे तो उसे नहीं मिलता; क्यों नहीं मिलता ? व्यक्ति क्रिया तो परम्परा से पकड़ लेता है, विचार नहीं पकड़ता । कहने-सुनने से उपवास तो कर लिया; किन्तु उपवास तब तक सार्थक नहीं होता, जब तक उसका स्वरूप ठीक से समझ में न आ जाए। तप के स्वरूप को समझ कर तप करना, हर एक के वश की बात नहीं है। उपवास करना तो वश की बात है, किन्तु उपवास क्यों करना चाहिए; कैसे करना चाहिए : इसका जो मर्म है, उसके लिए तो चिन्तन चाहिए, अध्ययन चाहिए, ग्रंथों का मनन-मन्थन चाहिए। ऐसी स्थिति में किसी भी आराध्य के चरणों में सिर झुकाना व्यक्ति के लिए बहुत मुश्किल नहीं है । बहुत से व्यक्ति हैं जो अपने आराध्य के चरणों में नियमित सिर झुकाते हैं; इस तरह से सिर झुकाने की सिर्फ एक ही पृष्ठभूमि है; हमारे बुजुर्गों द्वारा वैसा किया जाना पसंद करना। पसंद करना कि मैं स्थानक जाऊँ, मैं मंदिर जाऊँ, मैं राम, कृष्ण, महावीर के चरणों में सिर झुकाऊँ। बहुत से व्यक्ति कहते हैं कि हम इसलिए जाते हैं वहाँ कि यदि हम नहीं जाएँगे, तो हमारे पीछे आने वालों में वह परम्परा जीवित नहीं रह पायेगी; वे संस्कार जीवित नहीं रह पायेंगे। बड़े लोग चूंकि जाते हैं, इसीलिए सबको जाना चाहिए, मैं भी इसीलिए जाता हूँ; और

मेरे पीछे लगी जो कतार है उसे भी इसीलिए जाना चाहिए। इस तरह "जाने का" जो मूल अर्थ है, जाने का जो प्रमुख उद्देश्य है, वह अजाना है। वह तो अपने-आप में अनजाना है। उससे तो व्यक्ति अपरिचित ही है, क्योंकि जिस वजह से वह जा रहा है, वह बहुत स्थूल है। बहुत मोटा कारण है वह, एक बाहरी निमित्त मात्र वह है। पिताजी की आज्ञा-का-पालन करना चाहिए इसलिए जाना है; और बेटेजी को जाने के लिए अपना मुंह खोल सकूँ, इसलिए जाना है।

जब तक व्यक्ति आराध्य के चरणों में जाकर भी यह नहीं जानता कि क्या प्रार्थना करनी चाहिए; कैसे भाव मन में आने चाहिए; किस स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए; कुछ क्षणों के लिए मन आराध्य के चरित्र में किस तरह डूबना चाहिए, आदि-आदि तब तक उसका वहाँ जाना बिलकुल निरर्थक है। असल में क्रिया को व्यक्ति परम्परा से पकड़ लेता है। क्रिया यदि कोई किसी के कहने से भी कर लेगा; "तुम्हें मंदिर जाना चाहिए" इसलिए मंदिर चला जाएगा; "तुम्हें स्थानक जाना चाहिए" इसलिए स्थानक भी चला जाएगा; पर उसे किसलिए कहाँ जाना चाहिए इसे समझने के लिए तो ज्ञान की आवश्यकता ही होगी; विवेक की ज़रूरत होगी, चिन्तन की आवश्यकता होगी। जब तक यह भूमिका नहीं बनेगी तब तक व्यक्ति का क्रिया-पक्ष तो बदलेगा; किन्तु हृदय-पक्ष नहीं बदलेगा। और अब जक हृदय-पक्ष नहीं बदलेगा, तब तक महापुरुषों की वाणी उसके जीवन में साकार होती दिखायी नहीं देगी।

स्थायी प्रभाव कब होगा? जब किसी प्रवृत्ति का बार-बार सही अभ्यास होगा, नियमित अभ्यास होगा, और उसे करने में जो बाधक कारण हैं, उन्हें व्यक्ति दूर करेगा। बुद्धि के स्तर पर कौन नहीं जानता कि संसार में कोई किसी का सगा नहीं है, कौन नहीं जानता कि जितना है सब यहीं छोड़ कर जाना है; किन्तु जो हृदय के स्तर पर इस हकीकत को नहीं जानता, तो यह तादात्म्य बुद्धि है, एकत्व बुद्धि है, जो व्यक्ति को बावला बनाये हुए है।

हृदय, सदैव, सत्य को स्थायी रूप में स्वीकार करता है। यदि कोई व्यक्ति नहीं कर रहा है, तो पता लगाइये कि वह वैसा क्यों नहीं कर रहा है? एक व्यक्ति धन के संग्रह के लिए कभी-कभी इतना ग़ज़ब ढाता है, इतना अनर्थ करता है कि पूछिये मत। पेट के लिए नहीं; क्योंकि पेट के लिए जब कोई व्यक्ति पाप करता है तब बात एक बार समझ में आती है कि भूखा व्यक्ति क्या नहीं करेगा; पर जब ऐसे व्यक्ति भी अनर्थ करते हैं, ग़ज़ब ढाते हैं, जिन्हें पेट के लिए तो कोई ज़रूरत नहीं है, किन्तु जब कोई धन

के आधार पर महत्त्वपूर्ण बनना चाहता है, तो वह चिन्ता का विषय बन जाता है। धन के प्रति जो ममत्व है, जो लगाव है, भाव या हृदय के स्तर पर उसके प्रति जो मेरा मन झुक गया है, वह ऐसे-ऐसे प्रसंग उपस्थित कर देता है कि जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ज्ञानी कह रहे हैं: हे जीव, हे आत्मन् संसार के ये सारे ही संबंध, यह संपत्ति कितनी भी प्राप्त कर ले, कैसे भी प्राप्त कर ले, प्राप्त करने में अपनी आत्मा पर पाप का कितना भी बोझ बढ़ा ले, किन्तु अन्ततोगत्वा इस धन की ताकत नहीं है कि यह तुझे मृत्यु से बचा सके। इसकी ताकत नहीं है कि यह तेरी बिदाई को एक पल के लिए भी रोक सके; किन्तु इस सचाई को माने कौन? जो मान लेता है उसका जीवन बदल जाता है, निश्चित बदल जाता है। इस तरह बदलने वाले होते कितने हैं? कौन है, या होगा, हम नहीं जानते। ढेर आपको अनाज का ही दिखाई देगा, हीरों का कभी नहीं दिखाई देगा; हीरे कम ही होंगे, वे अधिक नहीं होंगे; किन्तु उनका जो महत्त्व है वह अपने-आप में उल्लेखनीय है।

एक युवा मुनि जंगल में बैठे हैं। ऐसे वन में, जहाँ चारों ओर हरियाली छायी हुई है, सब ओर प्रकृति प्रसन्न है। वनस्पतियाँ मुस्कुरा रही हैं। पेड़ पौधे खुशी में नाच रहे हैं। ऐसे मधुर वातावरण में एक युवा मुनि हैं: आत्मचिन्तन में लीन। उनकी आँखें बन्द हैं, शरीर सुस्थिर है, वाणी मौन है, एकदम निश्चल स्थिति में बाहर की शारीरिक चेष्टाओं को शान्त किये वे बैठे हैं। राजा श्रेणिक वन-विहार के लिए, घूमने के लिए, प्रकृति की सुन्दरता को निहारने के लिए निकल पड़े हैं। चले जा रहे हैं। कई लोग उनके साथ हैं। घूमते-घूमते, वनराज्य को देखते-देखते उन्होंने देखा कि एक युवा मुनि हैं जिनकी सुन्दरता, जिनका लावण्य, जिनका रूप, जिनका रंग, सब कुछ अद्भुत है, अपूर्व है, ध्यानस्थ बैठे हैं। वे उनके पास पहुँच गये और उनके निकटतर हो गये। जब उन्होंने आँखें खोलीं तो पूछने लगे – तुम और यह जंगल; क्यों? तुम जैसा युवा एकाकी क्यों? इस उम्र में और यह साधना, आखिर क्यों? यह मनुष्य-जीवन, यह तुम्हारी सुन्दर देह, यह सुडोल मुख-मण्डल!! क्या तुम्हारी यह उम्र इस तरह जंगल में एकाकी बैठकर व्यतीत करने की है? लगता है तुम परेशान हो, लगता है शायद तुम्हारा कोई है नहीं। मैं तुम-जैसे तरुण व्यक्ति को जंगल में एकाकी नहीं देख सकता। मैं तुम्हें अकेला नहीं छोड़ सकता। तुम्हें देख मेरे मन में तुम्हारे लिए प्रेम उमड़ आया है। तुम चलो, मैं तुम्हारा सहारा बनता हूँ, मैं तुम्हारा स्वामी बनता हूँ, मैं तुम्हारा संरक्षक बनता हूँ, मैं तुम्हें सब कुछ दूँगा, कहीं और नहीं, अपने ही राज्य में। मैं तुम्हें ले जा रहा हूँ, चलो!

मुनि मुस्कराने लगे; कहने लगे—मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि तुम ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहे हो; मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि तुम ऐसी वाणी क्यों बोल रहे हो? ऐसे शब्द बोलने की तुम्हारी हिम्मत ही कैसे हुई? तुम स्वयं अनाथ हो, ऐसी स्थिति में तुम मेरे नाथ कैसे बनोगे? जो स्वयं ग़रीब है, वह किस को कौन-सी सम्पदा देगा? जो स्वयं निर्धन है, वह किसी को क्या धनिक बनायेगा? जो स्वयं भूखा है किसी को क्या शरण देगा।

राजा कहने लगे—तुम नहीं जानते! तुम नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? अच्छा, तुम नहीं जानते हो, इसलिए मैं स्वयं तुम्हें बताता हूँ। मैं मगध-सम्राट् हूँ। मैं राजा श्रेणिक हूँ। तुमने अनजाने में ही मुझे "अनाथ" शब्द से सम्बोधित किया है। तुम्हें नहीं पता कि मैं कितनी बड़ी पृथ्वी का मालिक हूँ, कितनी सेना मेरे पास है, कितना ऐश्वर्य मेरे पास है, कितना खज़ाना मेरे पास है; अतुल वैभव का स्वामी मैं, और तुमने मुझे अनाथ कह दिया!! वास्तव में तुम अनजान हो साधो! मुनि ने कहा—मैं अनजान नहीं, तुम अनजान हो, क्योंकि तुमने जो परिचय दिया है वह अपना नहीं पुण्य-पाप के संयोग से परिवर्तन में जो तुम्हें मिला है उसका दिया है। राजन्! मैं जानता हूँ तुम श्रेणिक हो, जानता हूँ तुम सम्राट् हो, तुम्हारी मुखछवि बता रही है, तुम्हारे शरीर की शोभाश्री बता रही है कि तुम कौन हो? क्या मैं नहीं जानता इस सबसे कि आप सम्राट् श्रेणिक हैं फिर भी कह रहा हूँ कि आप नहीं जानते, आप स्वयं अनजान हैं "अपने" से, इसीलिए जड़-जगत् के बलबूते पर अहम् की भाषा आप बोल रहे हैं। यदि ऐसा ही परिचय आपको पसंद है, तो मैं भी परिचय दे सकता सकता हूँ। मेरा परिचय भी सुनें।

जिन कारणों की तुम कल्पना कर रहे हो उन कारणों से इस एकान्त में मैं नहीं नहीं बैठा हूँ। जिस आधार पर तुम अपने-आपको मालिक मान रहे हो, वह सारा तो मुझे भी मिला था, जन्मतः मिला था। नयी बात वह नहीं है। कोई बड़ी बात भी नहीं है। मैं कोशाम्बी नगरी के धनसंचय सेठ का लड़का हूँ। मुझे माँ का प्यार कम नहीं मिला। पिता का वात्सल्य मुझ पर कम नहीं था। मेरे पिता के पास इतना धन है कि मेरे सम्मुख एक साथ चार-चार अनुचर सवेरे-से-शाम तक सेवा में खड़े रहते थे। मुझे पानी पीना है, तो दूध मिला है। आप राजा हैं। मेरे पिता राजा नहीं हैं; किन्तु वैभव में वे किसी राजा से कम नहीं हैं; किन्तु मैं बीमार पड़ा। सिर की वेदना, सिर का दर्द इतना अधिक कि एक क्षण भी मुझे चैन नहीं, एक क्षण भी मुझे शान्ति नहीं, पूरी रात्रि में दो पल भी मुझे नींद नहीं, मेरे पिताजी ने वैद्य बुलाने में

कसर नहीं की, दवा कराने में कमी नहीं की, मेरी माँ ने मेरी सार-सँभाल करने में कमी नहीं की। किसी ने कहा—बादाम घिस कर लगाओ, तो वह लगायी गयी; किसी ने कहा चन्दन का लेप करो तो तुरन्त वह किया गया; मेरी वहिनों और भाइयों ने मेरे साथ रातें कम नहीं वितायीं साथ में बैठ-बैठ कर उन्होंने समय पूरा किया है और मेरी पत्नी ने मेरी व्यथा में आँसू वहा-वहाकर मेरे हृदय को द्रवित कर दिया। इतने सव पर भी मैंने अनुभव किया कि उन सव ने मेरी वेदना को किसी क्षण कम नहीं किया। मेरी वेदना से उन्होंने अपने हृदय को द्रवित किया और मोह का परिचय देने के लिए आँसू वहाये। 'कुछ करें' ऐसी भावना उनमें कम नहीं थी, पर अनुभव किया कि उनकी इतनी भी ताकत नहीं थी, माँ इतनी हिम्मत करके इतना भी नहीं कर सकीं कि "एक-दो घंटे में तुम्हारे सिर की वेदना ले लेती हूँ, तुम निद्रा ले लो" । मेरी पत्नी भी यह नहीं कर सकी । मेरे पिता ने एक नहीं, अनेक वैद्यों को वुलाकर यह भी घोपणा कर दी कि मैं अपनी पूरी सम्पत्ति समर्पित करता हूँ उस वैद्य के चरणों में जो मेरे लड़के के सिर-दर्द को समाप्त कर देगा। प्रयास तो किया अनेक वैद्यों ने, पर मेरी वेदना शान्त नहीं हुई। तव मैंने अनुभव किया कि इतना अपरंपार धन है; किन्तु मुझे वेदना से मुक्ति दे, ऐसी शक्ति इस धन में नहीं है। मेरे भरे-पूरे परिवार में सव मुझे चाहते थे; किन्तु कोई समर्थ नहीं हुआ मेरे दुःख को वाँटने में। तव ऐसी विपम स्थिति में मैंने अनुभव किया कि मुझे शरण देने वाला इनमें से कोई भी नहीं है; किसी की शरण में जाने से मुझे वेदना से मुक्ति मिल सके, यह भी असंभव है।

यह सारा धन मुझे मृत्यु से नहीं वचा सकेगा, वेदना से नहीं वचा सकेगा, इस परिवार के मेरा होते हुए भी मैं नहीं मानता कि इसके आधार पर मैं शक्तिशाली नहीं हूँ, इसलिए मैंने संकल्प किया कि जव सारे ही प्रयोग विफल हो गये, जव सारा परिश्रम पानी हो गया, तव संकल्प किया और यह संकल्प किया कि मैं अव धर्म की शरण लेता हूँ, मैं प्रभु परमात्मा की शरण में जाकर संकल्प करता हूँ कि यदि मुझे रोग-से-मुक्ति मिल जाएगी, मुझे इस सिर की वेदना से शान्ति मिल जाएगी तो हे प्रभो! मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा; मैं तुम्हारे ही मार्ग पर चलूँगा और मैं तुम्हारे ही उपदेश के अनुसार अपनी ज़िन्दगी ढालूँगा ।

संयोग की वात । शुभ कर्म का योग। जीवन-उत्थान के निया जीवन-परिवर्तन का क्षण ऐसा आया कि राजन्, मेरी शिरोवेदना कहाँ। कैसे समाप्त हुई, यह कुछ सोच ही नहीं सका और किया कि मुझे

मुनि मुस्कराने लगे; कहने लगे—मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि तुम ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहे हो; मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि तुम ऐसी वाणी क्यों बोल रहे हो? ऐसे शब्द बोलने की तुम्हारी हिम्मत ही कैसे हुई? तुम स्वयं अनाथ हो, ऐसी स्थिति में तुम मेरे नाथ कैसे बनोगे? जो स्वयं ग़रीब है, वह किस को कौन-सी सम्पदा देगा? जो स्वयं निर्धन है, वह किसी को क्या धनिक बनायेगा? जो स्वयं भूखा है किसी को क्या शरण देगा।

राजा कहने लगे—तुम नहीं जानते! तुम नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? अच्छा, तुम नहीं जानते हो, इसलिए मैं स्वयं तुम्हें बताता हूँ। मैं मगध-सम्राट् हूँ। मैं राजा श्रेणिक हूँ। तुमने अनजाने में ही मुझे "अनाथ" शब्द से सम्बोधित किया है। तुम्हें नहीं पता कि मैं कितनी बड़ी पृथ्वी का मालिक हूँ, कितनी सेना मेरे पास है, कितना ऐश्वर्य मेरे पास है, कितना खज़ाना मेरे पास है; अतुल वैभव का स्वामी मैं, और तुमने मुझे अनाथ कह दिया!! वास्तव में तुम अनजान हो साधो! मुनि ने कहा—मैं अनजान नही, तुम अनजान हो, क्योंकि तुमने जो परिचय दिया है वह अपना नहीं पुण्य-पाप के संयोग से परिवर्तन में जो तुम्हें मिला है उसका दिया है। राजन्! मैं जानता हूँ तुम श्रेणिक हो, जानता हूँ तुम सम्राट् हो, तुम्हारी मुखछवि बता रही है, तुम्हारे शरीर की शोभाश्री बता रही है कि तुम कौन हो? क्या मैं नहीं जानता इस सबसे कि आप सम्राट् श्रेणिक हैं फिर भी कह रहा हूँ कि आप नहीं जानते, आप स्वयं अनजान हैं "अपने" से, इसीलिए जड़-जगत् के बलबूते पर अहम् की भाषा आप बोल रहे हैं। यदि ऐसा ही परिचय आपको पसंद है, तो मैं भी परिचय दे सकता सकता हूँ। मेरा परिचय भी सुनें।

जिन कारणों की तुम कल्पना कर रहे हो उन कारणों से इस एकान्त में मैं नहीं नहीं बैठा हूँ। जिस आधार पर तुम अपने-आपको मालिक मान रहे हो, वह सारा तो मुझे भी मिला था, जन्मतः मिला था। नयी बात वह नहीं है। कोई बड़ी बात भी नही है। मैं कोशाम्बी नगरी के धनसंचय सेठ का लड़का हूँ। मुझे माँ का प्यार कम नहीं मिला। पिता का वात्सल्य मुझ पर कम नहीं था। मेरे पिता के पास इतना धन है कि मेरे सम्मुख एक साथ चार-चार अनुचर सवेरे-से-शाम तक सेवा में खड़े रहते थे। मुझे पानी पीना है, तो दूध मिला है। आप राजा हैं। मेरे पिता राजा नहीं हैं; किन्तु वैभव में वे किसी राजा से कम नहीं हैं; किन्तु मैं बीमार पड़ा। सिर की वेदना, सिर का दर्द इतना अधिक कि एक क्षण भी मुझे चैन नहीं, एक क्षण भी मुझे शान्ति नहीं, पूरी रात्रि में दो पल भी मुझे नींद नहीं, मेरे पिताजी ने वैद्य बुलाने में

कसर नहीं की, दवा कराने में कमी नहीं की, मेरी माँ ने मेरी सार-सँभाल करने में कमी नहीं की। किसी ने कहा—बादाम घिस कर लगाओ, तो वह लगायी गयी; किसी ने कहा चन्दन का लेप करो तो तुरन्त वह किया गया; मेरी बहिनों और भाइयों ने मेरे साथ रातें कम नहीं वितायीं साथ में बैठ-बैठ कर उन्होंने समय पूरा किया है और मेरी पत्नी ने मेरी व्यथा में आँसू वहा-वहाकर मेरे हृदय को द्रवित कर दिया। इतने सब पर भी मैंने अनुभव किया कि उन सब ने मेरी वेदना को किसी क्षण कम नहीं किया। मेरी वेदना से उन्होंने अपने हृदय को द्रवित किया और मोह का परिचय देने के लिए आँसू बहाये। 'कुछ करें' ऐसी भावना उनमें कम नहीं थी, पर अनुभव किया कि उनकी इतनी भी ताकत नहीं थी, माँ इतनी हिम्मत करके इतना भी नहीं कर सकीं कि "एक-दो घंटे में तुम्हारे सिर की वेदना ले लेती हूँ, तुम निद्रा ले लो"। मेरी पत्नी भी यह नहीं कर सकी। मेरे पिता ने एक नहीं, अनेक वैद्यों को बुलाकर यह भी घोषणा कर दी कि मैं अपनी पूरी सम्पत्ति सर्मापित करता हूँ उस वैद्य के चरणों में जो मेरे लड़के के सिर-दर्द को समाप्त कर देगा। प्रयास तो किया अनेक वैद्यों ने, पर मेरी वेदना शान्त नहीं हुई। तब मैंने अनुभव किया कि इतना अपरंपार धन है; किन्तु मुझे वेदना से मुक्ति दे, ऐसी शक्ति इस धन में नहीं है। मेरे भरे-पूरे परिवार में सब मुझे चाहते थे; किन्तु कोई समर्थ नहीं हुआ मेरे दुःख को बाँटने में। तब ऐसी विषम स्थिति में मैंने अनुभव किया कि मुझे शरण देने वाला इनमें से कोई भी नहीं है; किसी की शरण में जाने से मुझे वेदना से मुक्ति मिल सके, यह भी असंभव है।

यह सारा धन मुझे मृत्यु से नहीं बचा सकेगा, वेदना से नहीं बचा सकेगा, इस परिवार के मेरा होते हुए भी मैं नहीं मानता कि इसके आधार पर मैं शक्तिशाली नहीं हूँ, इसलिए मैंने संकल्प किया कि जब सारे ही प्रयोग विफल हो गये, जब सारा परिश्रम पानी हो गया, तब संकल्प किया और यह संकल्प किया कि मैं अब धर्म की शरण लेता हूँ, मैं प्रभु परमात्मा की शरण में जाकर संकल्प करता हूँ कि यदि मुझे रोग-से-मुक्ति मिल जाएगी, मुझे इस सिर की वेदना से शान्ति मिल जाएगी तो हे प्रभो! मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा; मैं तुम्हारे ही मार्ग पर चलूँगा और मैं तुम्हारे ही उपदेश के अनुसार अपनी ज़िन्दगी ढालूँगा।

संयोग की बात। शुभ कर्म का योग। जीवन-उत्थान के नियमित जीवन-परिवर्तन का क्षण ऐसा आया कि राजन्, मेरी शिरोवेदना कहाँ गई; कैसे समाप्त हुई, यह कुछ सोच ही नहीं सका और किया कि मुझे नींद

आ गयी। आठ बजे प्रातःकाल मेरी नींद खुली। जब मैंने आँखें खोलीं तो मेरी पत्नी स्वागत करने खड़ी मुस्कुरा रही थी। बधाई दे रही थी : ओ हो! आज तो चार बजे से हम लोग दस चक्कर काट गये जब भी देखा तब आपको नींद में ही देखा। मन इतना खुश हो गया कि उस खुशी को हम व्यक्त नहीं कर सके, माँ भी आयीं, पिता भी आये, सब खुशी व्यक्त करने लगे और कहने लगे – अब तुम दातौन कर लो। पानी पी लो, तुम दूध ले लो, और और फिर एक-दो घंटे सो जाओ ताकि तुम्हारे सिर-की-वेदना शान्त हो सके। सब अपनी-अपनी प्रसन्नताएँ व्यक्त कर रहे हैं।

कुमार राजा श्रेणिक से कह रहे हैं–सम्राट्, मैं मौन हूँ। किसी के शब्दों का प्रभाव अब मेरे मन को प्रभावित नहीं करता है; क्योंकि मुझे पता था इन सबका वात्सल्य, इन सबका मोह, यह सारा पैसा मुझे नहीं बचा सका; किन्तु एक संकल्प ने, एक समर्पण ने मुझे बचाया है।

—बालाघाट : 30 जुलाई, 1983

साध्य-साधन

अनित्य को नित्य मानकर, विजातीय को स्वजातीय मानकर, अंग को अक्षुण्ण (पूर्ण) मानकर, क्षणिक को शाश्वत मानकर, संयोग को संयोग न मानकर इस जीव ने अनन्त काल की यात्रा में असंख्य पदार्थों से सम्बन्ध जोड़ा, असंख्य व्यक्तियों से अपने मन को जोड़ा, पर सदा ही वे सारे संयोग-सम्बन्ध, जो अनित्य थे, अलग हो गये, बार-बार टूटते गये, बार-बार जुड़ते गये। टूट कर भी, हम नहीं टूट पाये; जुड़-कर भी हम, जुड़ नहीं पाये। किसी कवि ने एक बड़े रहस्य की बात कही है कि उन बाज़ारों में जाना क्या, उस संसार में रहना क्या, उन सम्बन्धों में ममत्व करना क्या, जिनका मिलना ही बिछुड़ने के लिए है, जिनका संयोग ही वियोग के लिए है, जो सुख दुःख में बदलकर ही रहेगा उस ऐसे अनित्य संयोग में जीव का आकर्षण, जीव का लगाव, जीव का ममत्व व्यर्थ है।

ऐसे ही एक राजा ने अपने मन्त्री से कहा कि देखो, राजा मैं हूँ, प्रजा मेरे अनुशासन में है, और दुनिया की दृष्टि में मैं एक बहुत बड़ा आदमी हूँ, बहुत सुखी आदमी हूँ, इतने पर भी मैं प्रतिक्षण हर्ष का अनुभव नहीं करता. खुशी का अनुभव नहीं करता; खुशी के क्षणों में भी कभी-कभी मैं खेद का अनुभव करता हूँ, खुशी के क्षणों में भी ग़म का अनुभव करता हूँ, अर्थात् हर समय मैं अपने मन को बदलता ही अनुभव करता हूँ। कभी हर्ष में, कभी शोक में, कभी उतार में, और कभी चढ़ाव में, तो ऐसी विषम स्थिति में शान्ति किस चीज का नाम है, शान्ति का स्वरूप क्या है, इसे मैंने सुना है, मैंने पढ़ा है, और ज्ञानियों के माध्यम से मैंने उसके प्रति अपनी मान्यता भी बनाई है, किन्तु आज तक उस शन्ति का अनुभव मैं नहीं कर पाया, उस शान्ति को किसी क्षण भी मैंने प्राप्त नहीं किया, इसलिए मन्त्रिप्रवर, ऐसा कोई प्रयत्न कीजिये कि मुझे इस ज़िन्दगी में उस शान्ति की अनुभूति हो, जिसे ऋषि-महर्षियों ने उपलब्ध किया है। शान्ति की प्राप्ति मुझे कैसे हो; इसलिए तुम मुझे कोई-न-कोई मार्ग, कोई-न-कोई उपाय, कोई तंत्र-मंत्र-जंत्र लाकर दो।

मैं तुम्हें मियाद देता हूँ कि तुम एक वर्ष नहीं एक मास में ही लौट आओगे और मुझे वह शान्ति-मंत्र दे सकोगे।

मंत्री ने कहा : आज्ञा-पालन का प्रयत्न करूँगा, पर सफलता मुझे कब मिलेगी, कह नहीं सकता; फिर भी ऐसे लोगों से मिलूंगा, ऐसे संतों से भेंट करूँगा, ऐसे साधकों से संपर्क करूँगा जो शान्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते हैं, या जिन्होंने उसे प्राप्त ही कर लिया है। एक से नहीं, दो से नहीं, दस-बीस से नहीं, जहाँ-जहाँ भी साधक-वाना दिखाई दिया, साधक-वस्त्र दिखाई दिये, वहाँ-वहाँ तक मंत्री शान्ति की स्वरूप-चर्चा के लिए पहुँचा, क्योंकि साधक-वाने में ही व्यक्ति साधक-जीवन का अनुमान लगा सकता है। वहीं से कोई आशा कर सकता है। साधक-जीवन वैसे गृहस्थ-जीवन में भी मिल सकता है, किन्तु वहाँ उसकी अधिक संभावना नहीं होती; और हो भी तो पहिचानने का कोई अलग मापदण्ड विना परिचय के हाथ नहीं लगता।

जैसे इस सभा में हम सब हैं किन्तु नहीं कह सकते, नहीं जानते कि कौन कितना ज्ञानी है? किसका आचरण कितना महान् है? कौन अपने जीवन में अनन्त-की-यात्रा पर चल पड़ा है? किसकी दृष्टि में विनाशी जगत् विनाशी हो गया है? और कितनों ने इस नाशवान जगत् से नमस्कार कर लेने का संकल्प कर लिया है?

हम नहीं कह सकते, हम नहीं जान सकते; यह सब, क्योंकि हमारे पास कोई थर्मामीटर नहीं है, कोई विशेष ज्ञान नहीं है। यह बात अलग है कि व्यक्ति सम्पर्क में आ जाए, या जिस वातावरण में वह रहता है, उस वातावरण से हम परिचित हों, और उस वातावरण में रहने वाले व्यक्तियों के माध्यम से जब-तब हमें उसके व्यक्तित्व का परिचय मिल जाए, अन्यथा बहुत मुश्किल है। मन्त्री अनेक साधकों से मिला; किन्तु जिस शान्ति की तलाश राजा को थी, सबने यही कहा कि उस शान्ति की प्राप्ति के लिए तो हम भी प्रयत्नशील हैं, हमारा भी विचार है; पर हम नहीं कह सकते कि हमने उस शान्ति की अनुभूति कभी की है।

उधेड़-बुन में वह मंत्री एक ऐसे स्थान पर पहुँच गया जहाँ (किसी टेकरी) एक साधु बैठा है, एक अनासक्त योगी बैठा है। घने जंगल में नीरव वातावरण में शान्त और एकान्त स्थान में अपनी ही मस्ती में, अपने ही आनंद में, अपनी ही अंतर्यात्रा में, और अपनी ही आत्मा की अनुभूति में परम आनन्दित। बाहर से आँखें जिसकी बंद हैं, अंतर्यात्रा में जो सजग है।

मन्त्री को लगा कि यहाँ उसकी समस्या का कोई समाधान मिल सकता है। बहुत देर तक वह बैठा रहा। कितनी ही देर बाद जब संत ने आँखें

खोलीं; तब उसने नमस्कार किया और कहा —— "मैं आपकी सेवा में आया हूँ। बहुत ज़रूरी काम से आया हूँ।" संत ने पूछा —— "तुम्हें मेरी ज़रूरत क्यों पड़ी? जब मुझे किसी की ज़रूरत नहीं है, तब मेरी ज़रूरत किसी को क्यों?" फिर वे अपनी मस्ती में रम गये। कोई जवाब नहीं दिया। मंत्री ने प्रार्थना की—— "प्रभो! मैं जिनका सेवक हूँ उन राजाधिराज ने मेरे सामने एक बहुत बड़ी समस्या रख दी है। जानता हूँ मुझे उसका समाधान यहीं आपके चरणों में ही मिलेगा।" संत ने पूछा—"क्या समस्या है?" मन्त्री ने कहा - "मैं एक क्षण को भी शान्ति का अनुभव नहीं करता। शान्ति मुझे चाहिये, किन्तु कभी हर्ष का वेग आता है, तो कभी शोक का; कभी ईर्ष्या से हृदय जलता है, तो कभी किसी कामना में वह तड़पता है, कभी प्रिय के संयोग में मुस्कुराता है, तो कभी उस के वियोग में आँसू बहाता है। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। बदलती हुई इन परिस्थितियों में मैं हर समय अपने थर्मामीटर के पारे के उतार-चढ़ाव का अनुभव करता हूँ। मुझे अखण्ड, अविचल, शाश्वत शान्ति मिले, ऐसा कोई रास्ता दिखाइये।" संत ने कहा——"कागज़ का एक टुकड़ा हो तो दो।" उस पर उन्होंने कुछ लिख दिया। लिखकर मंत्री को दे दिया, और कहा—— "जाओ इसे तुम अपने राजा को दे देना।" मन्त्री चल पड़ा। रास्ते में सोचने लगा कि वह स्थूल जगत् से प्रभावित राजा इस कागज़ के टुकड़े पर एकदम कैसे विश्वास करेगा? उसने उसे तावीज का रूप दिया। चाँदी-सोने के तावीज़ में उसे मढ़ा दिया। एक महीने की अवधि में अब एक ही दिन शेष था। राजा प्रतीक्षा में था। उसने मन्त्री को जैसे ही देखा प्रसन्न हो उठा। देखते ही कहा——"आओ! तुम ले आये क्या? मन्त्र ले आये? क्या शान्ति-के-स्वरूप को इस पुड़िया में कैद कर लाये?" मन्त्री ने कहा——"हाँ"। "जो लाये हो, दे दो मुझे"। "नहीं स्वामी उसे ऐसे नहीं दूँगा। उसे देने की विधि है। पहले एक महोत्सव होगा, बहुत बड़ा आयोजन। बहुत प्रकार के मन्त्र-तन्त्र होंगे, तब उसे आपकी सेवा में अर्पित करूँगा।"

सारी व्यवस्था हुई, आयोजन हुआ, और मन्त्र राजा को दे दिया गया। कहा गया कि मन्त्रदाता ऋषि का आदेश है कि जब-जब मन परेशान हो तब-तब इस पर नजर रखें। मंत्र का नाम है——"अष्टाक्षरी मंत्र"। इसे आप सदैव गले में पहने रहें। नज़र भी इसी पर रखें। राजा ने देखा सद्गुरु कृपा और स्वयं की योग्यता से उन्होंने "अष्टाक्षरी मन्त्र" पढ़ा। पढ़ते ही उनकी बुद्धि के विजातीय और संयोगी तत्त्व तथा पाप-पुण्य के परिणाम-स्वरूप चलने वाली फिल्म समझ में आ गयी। वे कहने लगे——"मंत्री नमन, तुम्हें नमन! क्योंकि तुम भी मुझमें उत्पन्न इस विवेक के माध्यम हो। तुमने भी प्रयत्न किया है। तुमने भी खोज़ की है। जिस मंत्र की आवश्यकता मुझे थी वह मिल गया। राजा

ने उसे पहन लिया; अन्दर लिखा था "अष्टाक्षरी मंत्र"। सरल-सामान्य शब्दों में लिखा था––"यह भी चला जाएगा"। जितने भी संयोग हैं सुखद या दुःखद; उन सबका संयोग ही वियोग के लिए हुआ है। कोई स्थिति सदैव रहने वाली नहीं है। सारी परिस्थितियाँ बदल जाएँगी। राजा ने अष्टाक्षरी को गौर से देखा और सोचने लगा कि जब यह सब बदलने को ही है तब फिर शाश्वत क्या है, अविनाशी क्या है, सनातन क्या है? उनकी दृष्टि जगत् से हटी। दृश्यमान पदार्थों से हटी। संबंध और पुण्य-पाप में सत्ता और सम्पत्ति का जो योग मिला था, उस सब पर से उनकी दृष्टि हटी और स्वयं पर गई। अपने भीतर गई। अपनी ही अनन्त शक्ति के परिचय से बुद्धि उनमें जगी और भान हुआ कि ये सारे संयोग-संबंध विजातीय हैं। मेरे अपने और इनके गुण-धर्म सर्वथा भिन्न हैं। मैं जिस शरीर में बैठा हूँ, वह भी संयोग है। यह संयोग भी है, विजातीय भी है; क्योंकि "चैतन्य-चिदानन्द" शाश्वत शक्ति, जिसका स्वभाव जानना और देखना है; मैं हूँ। जो न बनता है, न बिगड़ता है; मैं वह हूँ, जो न कभी मरता है, न जनमता है। मैं वह हूँ; शस्त्र जिसे काट नहीं सकते, पानी जिसे गला नहीं सकता, अग्नि जिसे जला नहीं सकती; शाश्वत "मैं हूँ"। यह दीखता है और मैं देखता हूँ। यह रूपी है। यह पुद्गल है। यह वर्ण, गंध, रस का पिण्ड है। यह मात्र मठ है, मैं इसका मालिक हूँ। यह मकान है। मैं स्वामी हूँ। मैं इसमें हूँ, मैं "यह" नहीं हूँ। मैं नहीं बदलता, यही बदलता है; किन्तु इसके बदलने-को मैंने अपना-बदलना मान लिया है। इससे संबंधित संयोगों को टूटना, मैंने अपना टूटना मान लिया है। इसकी ज़रूरत को मैंने अपनी ज़रूरत मान लिया है, इसका स्वभाव बनना भी है और बदलना भी। यह पुद्गल है, मैं आत्मतत्त्व हूँ।

जीर्ण कहने पर भी इसका बोध होगा, अचेतन कहने पर भी इसका बोध होगा, क्षणिक कहने पर भी इसका बोध होगा। जीर्ण कह दें, अचेतन कह दें, जड़ कह दें, पुद्गल कह दें, सारे ही इसके पर्याय शब्द हैं। सबका एक ही अर्थ है अर्थात् पुद्गल वह जिसमें जानने और देखने की क्षमता नहीं है। पुद्गल वह जिसे सुख और दुःख की कोई अनुभूति नहीं है। पुद्गल वह जो बनता भी है, बदलता भी है, बिगड़ता भी है। पुद्गल वह, जो दिखायी देता है, जो दृश्य है, दृष्टा नहीं है। जड़, पुद्गल, अचेतन, अजीव इत्यादि शब्द आये दिन प्रवचनों में आते रहेंगे, अतएव इनके अर्थ से हमें परिचित हो ही जाना है। "दिखना" पुद्गल का स्वभाव है, "देखना" इसका स्वभाव नहीं है, जैसे यह वस्त्र है, यह रूपी है। पुद्गल है। इसका आकार है। यह दिखाई दे रहा है; किन्तु इसमें देखने की क्षमता नहीं है। ऐसे ही आप जितने लोग यहाँ बैठे हैं, सब वस्त्र पहनकर बैठे हैं। वस्त्र दिखाई दे रहे हैं, किन्तु वस्त्रों

में देखने की, जानने की योग्यता नहीं है। अँगूठी का स्वभाव तो है; किन्तु "स्वभाव" को जाने ऐसी योग्यता उसमें नहीं है। पीतत्व उसका गुण है। वह भी पदार्थ है। वह भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह भी शाश्वत है। काल-दृष्टि से वह अनित्य, परमाणु रूप से वह नित्य है। नित्य होकर भी, वह पुद्‌गल है। नित्य भी वह है, और अनित्य भी; यह कैसे? जैसे स्वर्ण है। उसमें जो धर्म है, उस धातु की जो कोमलता है, उसका जो पीतत्व गुण है, वह कभी स्वर्ण को छोड़कर अलग से नहीं रहेगा। जहाँ स्वर्ण होगा, वहीं पीलापन होगा, वह होगा-ही-होगा। वह उसका गुण-धर्म है।

उदाहरण लें। सोने की एक अँगूठी है, जिसे हमने तुड़वा लिया है और चैन गढ़वा ली है। इस तरह अँगूठी का तो नाश हो गया, चैन का निर्माण हो गया, उत्पादन हो गया। अब यदि स्वर्ण की दृष्टि देखा जाए, तो अँगूठी में वह था, चैन में वह है। आप सोने के वटन भी यदि बना लें तो भी वह रहेगा, अर्थात् मात्र आकृति बदलती जाएगी। इस तरह जो व्यय है, वह है आकृति का। जैसे गेहूँ है। उसकी एक आकृति है। गेहूँ का आटा बना। आटे की रोटी बनी। रोटी का भोजन बना/हुआ। भोजन मल के रूप में निस्सरित हुआ। परिवर्तन होते गये, कितने परिवर्तन? गेहूँ, आटा, रोटी, मल। ये सारे परि-वर्तन हैं; किन्तु परिवर्तन हो कर भी जो आटा है, जो कण है, वह भी अपने-आप में एक स्वतंत्र द्रव्य है। वह शाश्वत है। चैतन्य शाश्वत है। तथापि दोनों के गुण-धर्म अलग हैं। चेतन के अलग, अचेतन के अलग। अचेतन का गुण-धर्म जानना-देखना नहीं है। सोने में यह शक्ति नहीं है कि वह जान ले कि मैं सोना हूँ, जान ले कि मालिक मेरी इतनी कीमत करता है, मुझे कहाँ रखता है; संभव नहीं है। इसी तरह मान लीजिये कि आपने दो हजार की साड़ी पहनी है, तो आप यह तथ्य जानती हैं, साड़ी नहीं जानती। आप दूध को विलो कर दही बनाते हैं, दही के बाद छाछ, छाछ के बाद मक्खन, मक्खन की कीमत आप जानती हैं, मक्खन अपनी कीमत नहीं जानता, अर्थात् जो दिखायी देता है, वह रूपी है, पुद्‌गल है, जड़ है; किन्तु जो देखता है, वह रूपी नहीं है। दोनों में बहुत अन्तर है। जो देखता है, वह दिखता नहीं? जो दिखता है, वह देखता नहीं है। जो दिखता है, वह पुद्‌गल है; जो देखता है, वह चेतन है; क्योंकि दोनों के गुण-धर्म अलग हैं। जो देखता है, वह अरूपी है, शाश्वत है, अजन्मा है, मरण उसका धर्म नहीं है। जन्म उसका धर्म नहीं है। वह "शाश्वत चैतन्य चिदानन्द" है। वह तो कर्म-संयोग से, अज्ञान की परिणति से वार-वार शरीर-रूप जन्म लेता है, मरता है। शरीर की अपेक्षा उसका जन्म-मरण है। जिस शरीर का संयोग जन्म है, उसी का वियोग मृत्यु है; किन्तु जिसकी न मृत्यु है, न जन्म है; ऐसे उस "शाश्वत चैतन्य

चिदानन्द" की अनुभूति न होने के कारण हम विजातीय को सजातीय मानते हैं, मंयोग को शाश्वत मानते हैं, पुद्गल को चैतन्य मानते हैं। विजातीय में "मैं" कि भ्रान्ति जिसे हो जाती है, वह संयोग-वियोग में हर समय सुखी-दुःखी होता रहता है; क्योंकि उसने नही जाना कि मैं संयोग को जानने वाला हूँ, मैं संयोग का ज्ञाता हूँ, मैं संयोग का दृष्टा हूँ; मैं स्वयं संयोग नहीं हूँ, संयोग संबंध है, संयोग मे मेरा तादात्म्य-संबंध नहीं है। जैसे मिश्री और उसकी मिठास में तादात्म्य-संबंध है। जो मिश्री होगी वह स्वभाव को छोड़कर कभी रहेगी नही; स्वभाव को वह छोड़ दे, यह कभी संभव ही नहीं है, सबके अपने-अपने गुण-धर्म है। मिठास जैसे मिश्री का धर्म है, प्रकाश जैसे सूर्य का, शीतलता जैसे जल का, उष्णता जैसे अग्नि का, वैसे ही आत्मा का अपना धर्म है, उसका अपना व्यक्तित्व है । हम जिससे आज तक अपरिचित रहे हैं।

यह जीव अपनी अनन्त शक्ति से अपरिचित है। मात्र पौद्गलिक जगत् से परिचित है।

कितने ही ऐसे वैज्ञानिक है, जिन्होंने अणु-की-शक्ति का बहुत बड़ा चमत्कार उपस्थित किया है, किन्तु ज्ञानी भगवन्त कहते हैं, सत्य-दृष्टा कहते है : "चेतन, तुम जड़ की शक्ति के विकास में लगे हो। जड़-की-शक्ति के विकास में तुमने अपनी ज़िंदगी झोंक दी, किन्तु क्या कभी यह विचार किया कि तुम्हारी अपनी भी अनन्त शक्ति है? जल की अनन्त शक्ति को तो तुमने विकसित किया, किन्तु अपनी ही अनन्त शक्ति से तुम अपरिचित बने रहे। क्यों? इसलिए कि संयोग को ही तुमने स्वभाव मान लिया। "क्षणिक" को ही "शाश्वत" मान लिया, अनित्य को ही नित्य मान लिया, विजातीय को ही सजातीय मान लिया। ज़बरन मान लिया। कभी स्वयं के गुण-धर्म से परिचित नहीं हुए। जड़ चेतन की जो भिन्नता है, उसे नहीं जाना; नहीं जाना कि ये अलग-अलग हैं। किसी ने ठीक ही कहा है :

जड़ ने चैतन्य बने
द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीत पणे बन्ने
जेणे समझाय छे।
स्वरूप चेतन निज
जड़ छे संबंध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण
पर द्रव्य माय छे।

जड़ और चेतन दोनों पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं, दोनों शाश्वत द्रव्य हैं, किन्तु शाश्वत हो कर भी दोनों के गुण-धर्म बिल्कुल अलग है। दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं; इसलिए अनन्तकाल की यात्रा में दोनों का संयोग-संबंध है, किन्तु दोनों का संयोग-संबंध होने पर भी आज तक जड़ चेतन रूप नहीं हुआ और चेतन जड़ रूप नहीं हुआ। जड़-जड़ में भी अपने-अपने स्वतन्त्र गुण-धर्म हैं। वे भी एक-दूसरे को छोड़ कर नहीं चलते; जैसे "कोलार गोल्ड फील्ड" में, जहाँ सोने और मिट्टी के कणों को अलग करने का प्रयत्न किया जाता है, वहाँ मिट्टी और सोने के कण पृथ्वी में खनिज पदार्थ के रूप में संयुक्त-संबद्ध पड़े हैं, नहीं पता। बहुत लम्बी अवधि रही है: हजारों-लाखों वर्षों से, स्वर्ण और मिट्टी के कण परस्पर संयोग-संबंध में हैं, एक ही पत्थर में।

सोने और मिट्टी के कणों का संयोग-संबंध कब से है? किन्तु वह संयोग-संबंध जिसे "स्वर्ण" कहते हैं, मिट्टी के कण रूप नहीं बना; और जिसे मिट्टी कहते हैं, स्वर्ण के कण रूप नहीं बनी। यदि बन जाती तो सोना प्रचुर होता, मिट्टी बहुत कम होती। जबकि हम "कोलार गोल्ड फील्ड" जाने वाले देखते हैं कि वहाँ ढेर-सारी मिट्टी है। जाने वाले पूछते भी हैं कि बात क्या है? हमने भी पूछा। जब बैंगलौर-चातुर्मास करके गुरुवर्याश्री के साथ वहाँ गये तब हमने भी पूछा कि यह सब क्या है? तो वहाँ काम करने वाले कहने लगे यह सोने की खदान है महाराज! यह मिट्टी का ढेर है। कई यन्त्रों की मदद से इस मिश्रण में से स्वर्ण और मिट्टी के कणों को अलग किया गया; फलस्वरूप यह मिट्टी का ढेर है। यदि मिट्टी के कण स्वर्ण रूप बन जाते तब तो फिर सोना-ही-सोना होता; मिट्टी के कण कम होते; शायद होते ही नहीं। यह मात्र संयोग है, संयोग-संबंध कितने ही लम्बे समय तक रहे, अन्ततः संयोग, संयोग ही है। संयोग कभी स्वभाव नहीं हो सकता। ठीक ऐसे ही जीव और अजीव तत्त्व का अनादि काल से संयोग है। जीव ने संयोग को ही स्वभाव मानकर सदैव जीवन-यात्रा की है। अनन्त काल व्यतीत हो गया। संयोग को जब इस जीव ने स्वभाव मान लिया, संयोग को जब इसने संबंध मान लिया, तब उसकी हानि में दुःखी और उसके लाभ में सुखी; अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में क्रमशः सुख-दुःख मान इस जीवात्मा ने नामालूम कितना रागद्वेष किया। मिथ्या प्रतीति में यह लगातार भटक रहा है; भटकना रुक सकता है, किन्तु तब, जब इसे भेदविज्ञान हो; यह कि शरीर और आत्मा दो स्वतन्त्र अस्तित्व हैं।

राजा ने मंत्र को पहन लिया और सत्य तत्त्व का चिन्तन करने लगा। उसे वियोग-संयोग समझ में आ गया। जैसे ही संयोग-संबंध उसकी समझ में आ गया, उसकी दुनिया बदल गयी। उसे अष्टाक्षरी रहस्य समझ में आ गया

चिदानन्द" की अनुभूति न होने के कारण हम विजातीय को सजातीय मानते हैं, संयोग को शाश्वत मानते हैं, पुद्गल को चैतन्य मानते हैं। विजातीय में "मैं" कि भ्रान्ति जिसे हो जाती है, वह संयोग-वियोग में हर समय सुखी-दुःखी होता रहता है; क्योंकि उसने नहीं जाना कि मैं संयोग को जानने वाला हूँ, मैं संयोग का ज्ञाता हूँ, मैं संयोग का दृष्टा हूँ; मैं स्वयं संयोग नहीं हूँ, संयोग संबंध है, संयोग से मेरा तादात्म्य-संबंध नहीं है। जैसे मिश्री और उसकी मिठास में तादात्म्य-संबंध है। जो मिश्री होगी वह स्वभाव को छोड़कर कभी रहेगी नहीं; स्वभाव को वह छोड़ दे, यह कभी संभव ही नहीं है, सबके अपने-अपने गुण-धर्म हैं। मिठास जैसे मिश्री का धर्म है, प्रकाश जैसे सूर्य का, शीतलता जैसे जल का, उष्णता जैसे अग्नि का, वैसे ही आत्मा का अपना धर्म है, उसका अपना व्यक्तित्व है । हम जिससे आज तक अपरिचित रहे हैं।

यह जीव अपनी अनन्त शक्ति से अपरिचित है। मात्र पौद्गलिक जगत् से परिचित है।

कितने ही ऐसे वैज्ञानिक है, जिन्होंने अणु-की-शक्ति का बहुत बड़ा चमत्कार उपस्थित किया है, किन्तु ज्ञानी भगवन्त कहते हैं, सत्य-दृष्टा कहते हैं: "चेतन, तुम जड़ की शक्ति के विकास में लगे हो। जड़-की-शक्ति के विकास में तुमने अपनी जिंदगी झोंक दी, किन्तु क्या कभी यह विचार किया कि तुम्हारी अपनी भी अनन्त शक्ति है? जल की अनन्त शक्ति को तो तुमने विकसित किया, किन्तु अपनी ही अनन्त शक्ति से तुम अपरिचित बने रहे। क्यों? इसलिए कि संयोग को ही तुमने स्वभाव मान लिया। "क्षणिक" को ही "शाश्वत" मान लिया, अनित्य को ही नित्य मान लिया, विजातीय को ही सजातीय मान लिया। ज़बरन मान लिया। कभी स्वयं के गुण-धर्म से परिचित नहीं हुए। जड़ चेतन की जो भिन्नता है, उसे नहीं जाना; नहीं जाना कि ये अलग-अलग हैं। किसी ने ठीक ही कहा है:

> जड़ ने चैतन्य बने
> द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
> सुप्रतीत पणे बन्ने
> जेणे समझाय छे।
> स्वरूप चेतन निज
> जड़ छे संबंध मात्र,
> अथवा ते ज्ञेय पण
> पर द्रव्य माय छे।

जड़ और चेतन दोनों पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं, दोनों शाश्वत द्रव्य हैं, किन्तु शाश्वत हो कर भी दोनों के गुण-धर्म बिल्कुल अलग है। दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं; इसलिए अनन्तकाल की यात्रा में दोनों का संयोग-संबंध है, किन्तु दोनों का संयोग-संबंध होने पर भी आज तक जड़ चेतन रूप नहीं हुआ और चेतन जड़ रूप नहीं हुआ। जड़-जड़ में भी अपने-अपने स्वतन्त्र गुण-धर्म हैं। वे भी एक-दूसरे को छोड़ कर नहीं चलते; जैसे "कोलार गोल्ड फील्ड" में, जहाँ सोने और मिट्टी के कणों को अलग करने का प्रयत्न किया जाता है, वहाँ मिट्टी और सोने के कण पृथ्वी में खनिज पदार्थ के रूप में संयुक्त-संबद्ध पड़े हैं, नहीं पता। बहुत लम्बी अवधि रही है: हज़ारों-लाखों वर्षो से, स्वर्ण और मिट्टी के कण परस्पर संयोग-संबंध में हैं, एक ही पत्थर में।

सोने और मिट्टी के कणों का संयोग-संबंध कब से है? किन्तु वह संयोग-संबंध जिसे "स्वर्ण" कहते हैं, मिट्टी के कण रूप नहीं बना; और जिसे मिट्टी कहते हैं, स्वर्ण के कण रूप नहीं बनी। यदि बन जाती तो सोना प्रचुर होता, मिट्टी बहुत कम होती। जबकि हम "कोलार गोल्ड फील्ड" जाने वाले देखते हैं कि वहाँ ढेर-सारी मिट्टी है। जाने वाले पूछते भी हैं कि बात क्या है? हमने भी पूछा। जब बैंगलौर-चातुर्मास करके गुरुवर्याश्री के साथ वहाँ गये तब हमने भी पूछा कि यह सब क्या है? तो वहाँ काम करने वाले कहने लगे यह सोने की खदान है महाराज! यह मिट्टी का ढेर है। कई यन्त्रों की मदद से इस मिश्रण में से स्वर्ण और मिट्टी के कणों को अलग किया गया; फलस्वरूप यह मिट्टी का ढेर है। यदि मिट्टी के कण स्वर्ण रूप बन जाते तब तो फिर सोना-ही-सोना होता; मिट्टी के कण कम होते; शायद होते ही नहीं। यह मात्र संयोग है, संयोग-संबंध कितने ही लम्बे समय तक रहे, अन्ततः संयोग, संयोग ही है। संयोग कभी स्वभाव नहीं हो सकता। ठीक ऐसे ही जीव और अजीव तत्त्व का अनादि काल से संयोग है। जीव ने संयोग को ही स्वभाव मानकर सदैव जीवन-यात्रा की है। अनन्त काल व्यतीत हो गया। संयोग को जब इस जीव ने स्वभाव मान लिया, संयोग को जब इसने संबंध मान लिया, तब उसकी हानि में दुःखी और उसके लाभ में सुखी; अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में क्रमशः सुख-दुःख मान इस जीवात्मा ने नामालूम कितना रागद्वेष किया। मिथ्या प्रतीति में यह लगातार भटक रहा है; भटकना रुक सकता है, किन्तु तब, जब इसे भेदविज्ञान हो; यह कि शरीर और आत्मा दो स्वतन्त्र अस्तित्व हैं।

राजा ने मंत्र को पहन लिया और सत्य तत्त्व का चिन्तन करने लगा। उसे वियोग-संयोग समझ में आ गया। जैसे ही संयोग-संबंध उसकी समझ में आ गया, उसकी दुनिया बदल गयी। उसे अष्टाक्षरी रहस्य समझ में आ गया

कि "यह भी चला जाएगा।" अब यदि किसी दिन उसे दो डिग्री बुखार भी होता तो उस का जवाब होता—"यह भी चला जाएगा, घबराने की क्या बात? यह भी चला जाएगा।" यदि बहुत ज्यादा धन का लाभ हो गया तो वह कहता "यह भी चला जाएगा"।

सब बदलने वाला है। बदलने वाले में आसक्ति क्या और बदलने वाले में इतराना क्या? "बदलने वाले" में स्वानुभूति ही अज्ञान है। इसी अज्ञान के परिणाम-स्वरूप राजा हर समय सुख-दुःख का अनुभव करता था; किन्तु जैसे ही उसे अपनी शाश्वत शक्ति का बोध हुआ उसकी जीवन-शैली बदल गयी। प्रार्थना के ये शब्द उसे अब सही अर्थ देने लगे——

आतम सत्ता एक रूप है,
पर कर्मों से भेद पड़ा।
भवन-वन में "मैं" भटक रहा,
तू सिद्धशिला पर जाय चढ़ा।
कैसे भेद मिटे यह मेरा,
कहो कहो है शिवगामी,
करती हूँ मैं वंदन तेरे,
चरण कमल में शिरनामी।।

हे प्रभो! मैं नमन करती हूँ; नमन इसलिए कि आपने अपने सहज स्वभाव को मान लिया; और फिर जान भी लिया; जान कर और अधिक दृढ़ता से उसे मान लिया। जाने बिना मानना और मानना तो यथार्थ मानना, दोनों दो अलग स्थितियाँ हैं, जानने के बाद का जो मानना है, उसका आनन्द ही कुछ और है। जानने से पहले व्यक्ति यदि मान लेगा, या जानने से पहले नहीं मानेगा तो फिर जानेगा कैसे? इसलिए संपूर्ण प्रक्रिया हुई: जानना, मानना; मानकर, अधिक जानना; जानकर, अधिक मानना; और फिर संपूर्ण जानना।

यदि संतों की अरिहंतों की वाणी को पढ़ कर हम उस पर विश्वास न करें और आत्मा की अनन्त शक्ति पर आस्था न बनायें तो इस अनन्त शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न कैसे होगा? और यदि प्रयत्न होगा तो अनुभूति होगी। अनुभूति के बाद ही वास्तविक मान्यता होगी? पर कोई कह दे कि जानूँगा तभी मानूँगा, जानने से पहले, नहीं मानूँगा तो काम कैसे चलेगा?

उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति नदी के किनारे खड़ा है और दूसरे व्यक्ति ने कहा——मित्र! क्यों खड़े हो? मैं तो डुबकी लगा रहा हूँ। तुम भी कम-से-कम यहाँ आ जाओ। क्या तुम्हें तैरना अच्छा नहीं लगता? उत्तर मिला-

तरना तो मुझे बहुत अच्छा लगता है, पर आता नहीं है। "तू आ तो", दूसरे व्यक्ति ने आग्रह किया। इस पर वह बोला—"मैं जरूर आऊँगा; किन्तु तब, जब मुझे तैरना आ जाएगा। तैरने के लिए तब मैं आऊँगा। नदी में पाँव ही उस दिन रखूँगा, जिस दिन तैरना मुझे आ जाएगा।" डुबकी लगा रहा व्यक्ति हँसने लगा; बोला—"कैसी बात कर रहा है? नदी में पाँव रखे बिना तैरना आयेगा कैसे? और यदि नदी में पाँव रखे बिना तैरना नहीं आयेगा, तो तैरने का जो लक्ष्य है वह साकार कैसे होगा? यदि तैरना सीखना है, तो पाँव रखना ही होगा। यदि शक्ति की अनुभूति करना है, तो संतों के कथन पर विश्वास करना ही होगा। "शब्द" के विश्वास में से ही आप चलेंगे, फिर अनुभूति होगी।

आज मैं आप लोगों के बीच हूँ; किन्तु बालाघाट के जितने रास्ते हैं, सब नहीं जानती। दादाबाड़ी या दो-चार अन्य रास्ते जानती हूँ। मानती हूँ कि दादाबाड़ी जाने का यही रास्ता है, जैसे श्वेताम्बर मंदिर जाने का यही रास्ता है। मेरे जानने, या मानने में क्या प्रमाण है? अपना अनुभव-ज्ञान; क्योंकि मैं उस रास्ते से स्वयं गुज़र चुकी हूँ; उसे जान चुकी हूँ, देख चुकी हूँ उसे। ऐसा अवसर आया कब? तब, जब मैं बालाघाट के लिए चल पड़ी। इसके पहले मुझे अनुभव नहीं था कि यही रास्ता मुझे बालाघाट पहुँचा देगा। कहने वालों के "शब्दों" पर विश्वास किया और यात्रा प्रारंभ कर दी। जैसे ही कहा कि आप यहाँ से यहाँ, वहाँ से वहाँ जाइये; इस सड़क को छोड़ दीजिये, उस सड़क को पकड़ लीजिये; ऐसे चले जाइये, वैसे चले जाइये; तो अपना गन्तव्य आ गया।

यदि "शब्द" पर आस्था न रखती, तो क्या अपने-आपको बालाघाट में पाती, और नहीं पाती तो क्या मैं यथार्थ को जान पाती; और यदि नहीं जान पाती तो क्या आज मेरा जानना मान्य होता? नहीं होता; इसीलिए हमें "चैतन्य चिदानंद" से परिचित होने के लिए उन संतों की वाणी को जानना होगा, समझना होगा, जिन्होंने सत्य की अनुभूति की है; परन्तु इस युग में एक बहुत बड़ी परेशानी यह है कि किसका कहा मानें, किसकी बात सुनें; और किस की न सुनें? क्योंकि सत्य को पकड़ने की बात करने वाले तो हैं कम, और अपनी सीमा में बाँधने वाले हैं अधिक।

वस्तुतः साध्य तक पहुँचने की बात ही आज नहीं होती, केवल साधनों से ही चिपकने की बात होती है; साधनों में भटकने की ही बात होती है। वहाँ भी "मेरे" के घेरे में कैसे बाँध लें; "मेरे" के घेरे में बाँधने-बँधने की जो बात है वह भी अज्ञान ही है, वह भी कषाय ही है। चाहे मत

हो, चाहे पंथ; चाहे मजहब हो, चाहे दल; सब मोह की माया है। मोह से अधिक कोई और बात नहीं है। सत्य सत्य है, सत्य चिरन्तन है, सत्य शाश्वत है, पर यह जीव अनन्त काल की यात्रा में सत्य की अनुभूति नहीं कर सका, सत्य का साक्षात्कार इसने नही किया, क्योंकि संयोग को ही इसने "स्व" मान लिया और उसे "स्व" मानकर सुखी-दुःखी होने लगा। "मैं" बूढ़ा, "मैं" लूला, "मैं" लँगड़ा, "मैं" ग़रीब, "मैं" अमीर, "मैं" डॉक्टर, "मैं" वकील, "मैं" जज, "मैं" बैरिस्टर इन सारे संयोगों को इसने "स्व" मान लिया और अभिमानी हो गया। अभिमान ने कषाय को जन्मा। कषाय ने "चैतन्य चिदानन्द" को चतुर्गति रूप संसार की जंजीरों में जकड़ दिया; और इस तरह यह "स्व" की मौलिक अनुभूति से वंचित हो गया।

राजा की सत्य पर दृष्टि गई। उसे अनित्य संयोग-संबंध अनित्य के रूप में समझ में आ गये। जब नित्य की प्रतीति उसे हुई तब "यह भी चला जाएगा" मूल मंत्र उसका मित्र हो गया। यदि क्रोध का प्रसंग है तो "यह भी चला जाएगा", हास्य का है तो "यह भी चला जाएगा", कोई दुःख का क्षण है तो यह भी विदा हो जाएगा, क्योंकि समय की तो अपनी गति है, जाना उसका स्वभाव है। समय को कोई पकड़कर रख नहीं सकता। न सुख का समय हम बाँध सके हैं और न दुःख का समय हम बाँध सकेंगे। यह तो काल की गति है, यह तो अन्तहीन प्रवाह है, यह तो अविचल नियति है अर्थात् सारी परिवर्तनशील परिस्थितियाँ हैं। आज हम मनुष्य हैं, कल नहीं रहेंगे। नहीं रहेंगे, सब कुछ बदलेगा तो सब कुछ बदलेगा, ऐसी स्थिति में अनित्य संयोगों में इतराना क्यों? अनित्य संयोगों में भरमाना क्यों? और अनित्य में नित्य का मोह करके इस नित्य आत्मतत्त्व को बाँधना क्यों? क्योंकि हम जानते हैं संयोग जितने भी हैं, वियोग के लिए हैं। संयोग में वियोग पर यदि दृष्टि चली जाए तो वियोग में फिर उतना दुःख नहीं होगा संयोग को यदि वियोगमय देख लें, तो वियोग वियोग ही रह जाएगा, फिर उस का अधिक दुःख नहीं होगा।

एक व्यक्ति है। आँसू बहा रहा है; इसलिए कि "क्या करूँ पूरी जिंदगी मेरे दिमाग में घूमती है, स्मृति में आती है। मैं कितना घूमता था? कितनी बार मित्रों से मिलता था? कहाँ-कहाँ जाता था? किन्तु आज निश्चल बन्द हूँ एक कमरे में; क्योंकि मेरे पाँव में चलने की ताकत नहीं है।" रो रहा है, परेशान हो रहा है, दुःखी हो रहा है; दूसरे घूम रहे हैं, मैं नहीं घूम रहा हूँ, यह दुःख का कारण है।

एक-दूसरे किसी व्यक्ति से मिली। वे उठकर मुझ तक नहीं आ सके। कहने लगे–"महाराज! मैं यहीं से आपको प्रणाम करता हूँ।" मैंने कहा–"क्या

है भाई साहब ?" महाराज यह तो शरीर है, पुद्गल है। शरीर तो पुद्गल-पिण्ड है। उपचय और अपचय, ह्रास और विकास, विकास और ह्रास इसका क्रम है। कभी यह बालक के रूप में था, कभी जवान के रूप में; अब बेचारा हड्डियों का ढाँचा रह गया है। मकान पुराना हो गया है महाराज! इसकी हड्डियाँ (दीवारें और छत) इतनी जर्जर हो गयी हैं कि अब यह बिल्डिंग चलने-फिरने में समर्थ नहीं है, इसलिए हम आप तक नहीं आ सकते; आप ही हम तक आ जाइये।" देखिये, ये भी शब्द है; किन्तु इनमें, खेद, खीझ, क्षोभ, वेदना, मोह नहीं है; क्यों? क्योंकि स्वीकार किया गया है इस सत्य को कि परिणति तो पुद्गल-धर्म है, इसका स्वभाव है, जिसे हम कभी बदल नहीं सकते। जब हम इसे नहीं बदल सकते तो इसे बदलने के भ्रम में अपने स्वभाव को क्यों बदलें? "अनित्य भावना" के अनुसार संयोग-संबंध जिसे, जैसे मिले हैं, वे सब बदलने वाले हैं, सब बिगड़ने वाले हैं; ऐसा चिन्तन करके हम अपने चैतन्य चिदानन्द को हर परिस्थिति में शान्त रखने का अभ्यास करें और कभी-कभी इस काव्य-पंक्ति को गुन-गुनायें: "जेहि विधि राखे राम, तेहि विधि रहिये"। □

—बालाघाट : 29 जुलाई 1983

संयोग-संबंध

हम जिस सत् की चर्चा कर रहे थे, उसे कबीर ने इस तरह समझाने का प्रयत्न किया है कि वर्तमान में जितने भी संयोग-सम्बन्ध हैं, वे सब अनित्य हैं। संयोग कभी शाश्वत नहीं होता। जब भी वह होगा; होगा अनित्य, अशाश्वत, क्षणभंगुर।

इस क्षण आप, हम, सब बैठे हैं। यदि आपसे कोई पूछे, मुझसे कोई पूछे कि इस समय तुम कहाँ हो? यही प्रश्न यदि प्रत्येक से किया जाए तो उत्तर मिलेगा कि इस समय मैं 'कला निकेतन हॉल' में हूँ। इस क्षण इस प्रांगण से, इस हॉल से हमारा संयोग-सम्बन्ध है, इसीलिए हम कहते हैं कि हम हॉल में बैठे है। ऐसे ही ज्ञानी भगवन्त कहते हैं कि जो कुछ तुम्हें आज प्राप्त है, वह सब संयोग-सम्बन्ध है, इसलिए सहज ही वह अनित्य है। संयोग-सम्बन्ध कभी नित्य नहीं होगा और यदि नित्य होगा तो संयोग-सम्बन्ध वह नहीं होगा।

वैसे इन्दौर से यहाँ तक पहुँचने में, लगभग सात सौ किलोमीटर की पदयात्रा में, संयोग-सम्बन्ध कितने ही ग्रामों से हुआ, कितनी ही सड़कों से हुआ, कितने ही व्यक्तियों से हुआ, कितने ही मकानों से हुआ। सब मिले, सब बिछुड़े। जिनके अपने मकान हैं, वे ज़िन्दगी में दो-तीन बार मकान बदल लेते होंगे, यदि वैभव अधिक है, पैसा ज्यादा है तो उसे ही बदलते रहते होंगे; पर हम ठहरे भिक्षु, संन्यासी, साधु, साध्वी एक वर्ष में कितने मकान बदल लेते हैं, है कोई हिसाब?

इन्दौर से यहाँ तक आने में जहाँ पाँच-दस दिन रुकने-ठहरने का योग बना, वहाँ तो संयोग-सम्बन्ध आठ-दस दिन उस मकान से रहा, पर जब पदयात्रा नियमित रही, तब संयोग-सम्बन्ध हर दिन बदलता गया। पूर्व संयोग का वियोग, और नवीन का संयोग। संयोग-और-वियोग का यह क्रम चलता ही रहा, शृंखला अटूट चलती ही रही, परिवर्तन होता ही रहा। एक मकान से छूटे, दूसरे में प्रवेश किया; फिर दूसरा छोड़ा, तीसरे में प्रवेश किया; तीसरा

छोड़ा, चौथे में प्रवेश किया। गाँव बदलते गये, मकान बदलते गये, रास्ते बदलते गये, गलियाँ बदलती गयीं, व्यक्ति बदलते गये, उनके रंग-रूप बदलते गये। संयोग-सम्बन्ध ही बदले; ज्ञाता तत्त्व नहीं बदला। संयोग बदल गये स्थान बदल गये, मकान बदल गये; किन्तु सब को जानने और देखने की शक्ति-सम्पन्न जो मेरी सत्ता है, वह नहीं बदली। टूटने और जुड़ने का क्रम चालू रहा; किन्तु टूट कर भी, मैं टूटी नहीं; जुड़ कर भी, किसी स्थान से मैं जुड़ी नहीं? यदि किसी स्थान से जुड़ जाती, तो आज यहाँ कैसे पहुँचती? संयोग-सम्बन्ध है। संयोग-सम्बन्ध शाश्वत नहीं है; इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि संयोग को संयोग मानो, उसे स्वभाव मत मानो।

वर्तमान में हमारा जो व्यक्तित्व है, सोचने-समझने का हमारा जो माद्दा है, वह भी अज्ञान से प्रभावित संयोग है। वह सहज नहीं है। सहज में कभी परिवर्तन नहीं होता। हम स्वयं से प्रश्न करें कि हम हैं कौन? हम परिचय देने लगें कि "हम आत्मा हैं?" कहाँ हैं? मनुष्य पर्याय में हैं। पंचेन्द्रिय शरीर में हैं। हम परिचय देते जाएँ; हम जाति में हैं, इस गोत्र में हैं, इस कुल में हैं, इस शहर में हैं, शहर के इस मोहल्ले में हैं, मोहल्ले के इस मकान में हैं, मकान के इस कमरे में हैं। यह किसका परिचय है? मालिक का परिचय यह नहीं है; यह है मकान का परिचय। आत्मा का परिचय यह नहीं है, यह है तन का परिचय। सिर्फ शरीर का परिचय यह है। अनन्तकाल की यात्रा में कितने ही शरीरों से सम्बन्ध हुआ; कितने ही शरीरों से पुनःपुनः संयोग-वियोग घटित हुआ। आज हम मनुष्य-शरीर में हैं अर्थात् मनुष्य-शरीर के साथ हमारी आत्मा का संयोग-सम्बन्ध है। यह संयोग-सम्बन्ध अतीत का पुरुषार्थ है, जो वर्तमान में प्रकट हुआ है; ऐसी ही असंख्य आत्माएँ, अनन्त आत्माएँ हैं, जिनका संयोग-सम्बन्ध देवगति से है, नरकगति से है; पशु-पक्षी जगत् का क्षेत्र कितना विस्तृत है? हम अपनी आँखों से ही हज़ारों प्रकार के कीड़े-मकोड़े, जीव-जन्तु देख रहे हैं। उन सबके भी अपने शरीर हैं, जिन के साथ सबके अपने संयोग-सम्बन्ध हैं; इसीलिए वे शाश्वत नहीं हैं, बदलने वाले हैं।

ज्ञानी-भगवन्त, संत-साधक, ऋषि-महर्षि मनुष्य को यही समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यदि संयोग अनुकूल है तो भी अनित्य है और प्रतिकूल है तो भी अनित्य है। कोई भी संयोग शाश्वत रहने वाला नहीं है, इसलिए किसी भी संयोग में मूर्च्छित मत बनो, दीवाने मत बनो। यदि सुख आया है, तो वह भी एक संयोग है, दुःख देकर वह जाएगा। दुःख का यदि संयोग हुआ है, तो वह सुख देकर जाएगा। दुःख में, संकट में; क्या घबराना? जो सुख देकर जाएगा; और उस सुख में क्या इतराना! जो दुःख देकर जाने वाला

है। संयोग और वियोग तो एक धारावाहिक क्रम है; इसीलिए ज्ञानियों ने बहुत बढ़िया मन्त्र दिया है—"विपत्ति-में-धैर्य" और "संपन्नता-में-सहिष्णुता"। व्यक्ति की यह बहुत बड़ी कमज़ोरी है कि वह संयोगों को अनित्य नहीं मानता है, उन्हें नित्य मानकर चलता है; इसीलिए उनमें उसका ममत्व भाव आ जाता है। यदि संयोग को आरंभ में ही अनित्य मानकर चला जाए तो मन कतई परेशान नहीं होगा।

जब हम किसी गाँव में जाते हैं, किसी मकान में उतरते हैं, तब कितनी विविधता मिलती है? कहीं मारबल की भव्य इमारत मिल जाती है, तो कहीं जहाँ गाय-भैंस बंधती हैं, वहीं अपना सामान रखकर आहार करना होता है। कभी-कभी तो ऐसा संयोग बनता है कि पेड़ की छाया में ही पूरा दिन व्यतीत करना पड़ता है। कभी ज़रूरत-से-ज्यादा सुविधा मिलती है, तो कभी ज़रूरत-से-कम; किन्तु इन सारे ही संयोग-सम्बन्धों में मन तुरन्त कहता है कि जो भी है, कितने दिनों का है? आज आये हैं और कल जाना है तो जैसा भी है, ठीक है; क्यों है ठीक? क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, शाश्वत सम्बन्ध नहीं है। किसी व्यक्ति को चार डिग्री बुखार हो और वह घबरा रहा हो तो परिवार के सदस्य यही कहते हैं कि इसमें घबराते क्या हो, चला जाएगा। उतर जाएगा। क्या कहते हैं? आया है, तो चला जाएगा। कोई भी बीमारी आयी है, तो जाएगी ही। कोई भी अनुकूल संयोग यदि आया है तो जाएगा ही, फिर भी व्यक्ति की सबमें बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह पाने को तो पसंद करता है, खोने को पसंद नहीं करता। दस हज़ार के नोट जो व्यापार में लाभ की वजह से उसके कोष में आये हैं, तो मन मुस्कुराता है; यदि वे ही दस हज़ार दूसरे को मुस्कराने के लिए चले गये हैं, तो मन पर गज़ब बीतती है। लाभ ज़िन्दगी-भर लाभ के रूप में ही बना रहे ऐसा कोई विशेष पुण्ययोग हो तो भी अनित्य-तो-अनित्य ही रहेगा, संयोग-सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध ही रहेंगे। भले ही पूरी ज़िन्दगी आप इतने स्वस्थ रहें कि किसी भी दिन आपको डॉक्टर के द्वार न खटखटाने पड़ें, किन्तु मृत्यु से आप बच नहीं सकते। ऐसे कई महानुभाव हैं, जिन्होंने दूसरों को कभी सताया नहीं है, तड़पाया नहीं है, किसी को मानसिक या शारीरिक वेदना नहीं दी है; फिर भी उनके पास 'आत्मा' के अलावा नित्य कुछ भी नहीं है।

आज भी ऐसे व्यक्ति हैं जो कहते हैं कि आज तक हमने दवा नहीं ली। यह सचाई है कि उनके शरीर में प्रतिकूल परिस्थितियाँ घटित नहीं हुई हैं, चूंकि उन्होंने इस प्रकार अपने विचार बनाये नहीं, अतः प्रतिकूलता का सामना उन्हें नहीं करना पड़ा; फिर भी चाहे वे कितने ही सुडौल हों, कितने

ही स्वस्थ और सुन्दर हों, अन्त क्या होगा? भले ही वीमार न पड़े हों, एक्सीडेन्ट न हुआ हो, किसी वड़ी वीमारी ने उन्हें न घेरा हो, किन्तु क्या आज तक ऐसा कोई वैज्ञानिक पैदा हुआ है जिसने मृत्यु का समाधान ढूंढ़ निकाला हो? आकाश में लोहे को उड़ा दिया, हजारों मील की दूरी घंटों में समेट दी, और फोन के माध्यम से मिनिटों में वात कर ली, क्षेत्र की दूरियाँ समेट लीं, चित्र भी देख लिये, चेहरे भी देख लिये; वात भी कर ली। बहुत दौड़ लगायी है उसने। उसकी उपलब्धियाँ भी हैं; किन्तु मृत्यु का समाधान ढूँढ़ निकालने वाला वैज्ञानिक आज तक पैदा नहीं हुआ। बहुत से लोग इस गर्वोक्ति से प्रसन्न होते हैं कि यदि उनके पास अमुक चीज आ जाए तो वे उसे बहुत सँभाल कर रखते हैं। कहते हैं: आप मेरे यहाँ पच्चीस वर्ष पुराना चावल देखें, चालीस वर्ष पुराना घी देखें, पचास वर्ष पुरानी घड़ी देखें, सब सुरक्षित मिलेंगे। कई वहिनें कहती हैं: पैंतीस वर्ष पहले की कैंची देख लीजिये हमारे पास, पचास-साठ वर्ष पहले की कई चीजें जो मुझे मेरे सास-ससुर से मिली थीं, उन्हें मैंने ऐसा सँभाला है, उन्हें ऐसी व्यवस्था दी है कि वे आज भी बनी हुई हैं। आज ऐसी कई चीजें मेरे पास हैं, जो दूसरों के हाथ में यदि चली जाएँ तो तुरन्त टूट जाएँ; किन्तु प्रश्न यह है कि वे मृत्यु के समय छूटेंगी, या तब भी बनी रहेंगी?

भले न छूटें, न टूटें, फिर भी संयोग-सम्बन्ध अनित्य है, इसलिए एक दिन तो उनसे हमें अलग होना ही पड़ेगा। ज़िन्दगी-भर आपने परिग्रह नहीं छोड़ा, पर मृत्यु तो उसे छुड़ा कर ही रहेगी; इसीलिए महापुरुष कहते हैं कि तुम इस संसार के स्वरूप को समझो, इसकी अनित्यता को समझो। अनित्यता को समझ कर उसमें जो आकर्पण है, ममत्व है, राग-द्वेष है, उससे अपने-आपको मुक्त करने के लिए इस आत्मतत्त्व का स्वाध्याय करो।

कल किसी ने पूछा था कि क्या गृहस्थ-जीवन में यह सब संभव है? उत्तर में मैंने कहा था कि यदि असंभव होता तो उपदेश की ज़रूरत ही क्या थी? यदि असंभव होता तो समझाने का प्रयास हमारे ऋषि-महर्षि करते ही क्यों? दही को विलो कर मक्खन निकालने की बात तो सभी कहते हैं, पर किसी पुस्तक में किसी महापुरुष ने यह तो नहीं लिखा कि आप पानी विलोयें और मक्खन निकालें। ऋपि-महर्पियों को क्या प्रयोजन था कि जो संभव न हो उसका उपदेश देते, उसकी चर्चा करते। यदि गृहस्थजीवन में रह कर मनुष्य का मन नहीं वदलता, तो फिर गृहस्थ के लिए उपदेश ही नहीं होता।

कई व्यक्ति चिन्ता व्यक्त करते हैं कि आपके कहे अनुसार यदि साधु-जीवन में बहुत आनन्द है और यदि आपकी तरह सब सोच लें; सब साधु

है। संयोग और वियोग तो एक धारावाहिक क्रम है; इसीलिए ज्ञानियों ने बहुत बढ़िया मन्त्र दिया है—"विपत्ति-में-धैर्य" और "संपन्नता-में-सहिष्णुता"। व्यक्ति की यह बहुत बड़ी कमजोरी है कि वह संयोगों को अनित्य नहीं मानता है, उन्हें नित्य मानकर चलता है; इसीलिए उनमें उसका ममत्व भाव आ जाता है। यदि संयोग को आरंभ में ही अनित्य मानकर चला जाए तो मन कतई परेशान नहीं होगा।

जब हम किसी गाँव में जाते हैं, किसी मकान में उतरते हैं, तब कितनी विविधता मिलती है? कहीं मारबल की भव्य इमारत मिल जाती है, तो कहीं जहाँ गाय-भैंस बंधती हैं, वहीं अपना सामान रखकर आहार करना होता है। कभी-कभी तो ऐसा संयोग बनता है कि पेड़ की छाया में ही पूरा दिन व्यतीत करना पड़ता है। कभी ज़रूरत-से-ज्यादा सुविधा मिलती है, तो कभी ज़रूरत-से-कम; किन्तु इन सारे ही संयोग-सम्बन्धों में मन तुरन्त कहता है कि जो भी है, कितने दिनों का है? आज आये हैं और कल जाना है तो जैसा भी है, ठीक है; क्यों है ठीक? क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, शाश्वत सम्बन्ध नहीं है। किसी व्यक्ति को चार डिग्री बुखार हो और वह घबरा रहा हो तो परिवार के सदस्य यही कहते हैं कि इसमें घबराते क्या हो, चला जाएगा। उतर जाएगा। क्या कहते हैं? आया है, तो चला जाएगा। कोई भी बीमारी आयी है, तो जाएगी ही। कोई भी अनुकूल संयोग यदि आया है तो जाएगा ही, फिर भी व्यक्ति की सबमें बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह पाने को तो पसंद करता है, खोने को पसंद नहीं करता। दस हज़ार के नोट जो व्यापार में लाभ की वजह से उसके कोष में आये हैं, तो मन मुस्कुराता है; यदि वे ही दस हज़ार दूसरे को मुस्कराने के लिए चले गये है, तो मन पर गज़ब बीतती है। लाभ ज़िन्दगी-भर लाभ के रूप में ही बना रहे ऐसा कोई विशेष पुण्ययोग हो तो भी अनित्य-तो-अनित्य ही रहेगा, संयोग-सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध ही रहेंगे। भले ही पूरी ज़िन्दगी आप इतने स्वस्थ रहें कि किसी भी दिन आपको डॉक्टर के द्वार न खटखटाने पड़ें, किन्तु मृत्यु से आप बच नहीं सकते। ऐसे कई महानुभाव हैं, जिन्होंने दूसरों को कभी सताया नहीं है, तड़पाया नहीं है, किसी को मानसिक या शारीरिक वेदना नहीं दी है; फिर भी उनके पास 'आत्मा' के अलावा नित्य कुछ भी नहीं है।

आज भी ऐसे व्यक्ति हैं जो कहते हैं कि आज तक हमने दवा नहीं ली। यह सचाई है कि उनके शरीर में प्रतिकूल परिस्थितियाँ घटित नहीं हुई हैं, चूंकि उन्होंने इस प्रकार अपने विचार बनाये नहीं, अतः प्रतिकूलता का सामना उन्हें नहीं करना पड़ा; फिर भी चाहे वे कितने ही सुडौल हों, कितने

ही स्वस्थ और सुन्दर हों, अन्त क्या होगा? भले ही बीमार न पड़े हों, एक्सीडेन्ट न हुआ हो, किसी बड़ी बीमारी ने उन्हें न घेरा हो, किन्तु क्या आज तक ऐसा कोई वैज्ञानिक पैदा हुआ है जिसने मृत्यु का समाधान ढूंढ़ निकाला हो? आकाश में लोहे को उड़ा दिया, हज़ारों मील की दूरी घंटों में समेट दी, और फोन के माध्यम से मिनिटों में बात कर ली, क्षेत्र की दूरियाँ समेट लीं, चित्र भी देख लिये, चेहरे भी देख लिये; बात भी कर ली। बहुत दौड़ लगायी है उसने। उसकी उपलब्धियाँ भी हैं; किन्तु मृत्यु का समाधान ढूंढ़ निकालने वाला वैज्ञानिक आज तक पैदा नहीं हुआ। बहुत से लोग इस गर्वोक्ति से प्रसन्न होते हैं कि यदि उनके पास अमुक चीज आ जाए तो वे उसे बहुत सँभाल कर रखते हैं। कहते हैं: आप मेरे यहाँ पच्चीस वर्ष पुराना चावल देखें, चालीस वर्ष पुराना घी देखें, पचास वर्ष पुरानी घड़ी देखें, सब सुरक्षित मिलेंगे। कई बहिनें कहती हैं: पैंतीस वर्ष पहले की कैंची देख लीजिये हमारे पास, पचास-साठ वर्ष पहले की कई चीजें जो मुझे मेरे सास-ससुर से मिली थीं, उन्हें मैंने ऐसा सँभाला है, उन्हें ऐसी व्यवस्था दी है कि वे आज भी बनी हुई हैं। आज ऐसी कई चीजें मेरे पास हैं, जो दूसरों के हाथ में यदि चली जाएँ तो तुरन्त टूट जाएँ; किन्तु प्रश्न यह है कि वे मृत्यु के समय छूटेंगी, या तब भी बनी रहेंगी?

भले न छूटें, न टूटें, फिर भी संयोग-सम्बन्ध अनित्य है, इसलिए एक दिन तो उनसे हमें अलग होना ही पड़ेगा। ज़िन्दगी-भर आपने परिग्रह नहीं छोड़ा, पर मृत्यु तो उसे छुड़ा कर ही रहेगी; इसीलिए महापुरुष कहते हैं कि तुम इस संसार के स्वरूप को समझो, इसकी अनित्यता को समझो। अनित्यता को समझ कर उसमें जो आकर्षण है, ममत्व है, राग-द्वेष है, उससे अपने-आपको मुक्त करने के लिए इस आत्मतत्त्व का स्वाध्याय करो।

कल किसी ने पूछा था कि क्या गृहस्थ-जीवन में यह सब संभव है? उत्तर में मैंने कहा था कि यदि असंभव होता तो उपदेश की ज़रूरत ही क्या थी? यदि असंभव होता तो समझाने का प्रयास हमारे ऋषि-महर्षि करते ही क्यों? दही को बिलो कर मक्खन निकालने की बात तो सभी कहते हैं, पर किसी पुस्तक में किसी महापुरुष ने यह तो नहीं लिखा कि आप पानी बिलोयें और मक्खन निकालें। ऋषि-महर्षियों को क्या प्रयोजन था कि जो संभव न हो उसका उपदेश देते, उसकी चर्चा करते। यदि गृहस्थजीवन में रह कर मनुष्य का मन नहीं बदलता, तो फिर गृहस्थ के लिए उपदेश ही नहीं होता।

कई व्यक्ति चिन्ता व्यक्त करते हैं कि आपके कहे अनुसार यदि साधु-जीवन में बहुत आनन्द है और यदि आपकी तरह सब सोच लें; सब साधु

हो जाएं तो फिर इस संसार का क्या होगा ? मैंने कहा : क्या होगा उस दिन यह तो मुझे नहीं पता पर आप यह चिन्ता तो कर ही लें कि क्या होगा तब ? प्राचीन-से-प्राचीन इतिहास और साहित्य उठा कर देख लीजिये और बताइये कि ऐसा कौन-सा समय रहा, संयोग रहा जब कि पूरा-का-पूरा जन-समुदाय साधु बन गया हो, कौन-सा ऐसा समय रहा है जब पूरा-का-पूरा समाज चोर-लुटेरा बन गया हो, कौन-सा ऐसा समय रहा जब सभी श्रेष्ठ और सज्जन बन गये हों, कौन-सा ऐसा समय रहा जब सारे ही दुर्जन रहे हों ? इतिहास में कोई समय एकांगी नहीं रहा है। मनुष्य में मनुष्यत्व का विकास हो, ऐसा प्रयत्न सभी संतों ने किया है और यह इसलिए किया चूंकि असंभव वह नहीं है।

ज्ञानी कहते हैं यह भी संयोग-संबंध ही है, यह भी अज्ञान ही है, तुम्हारी आत्मा का सहज स्वभाव यह नहीं है। सहज स्वभाव से तो वस्तुतः हम आज तक परिचित ही नहीं हुए; हम तो संयोग-स्वभाव को ही जानते रहे हैं अब तक। शीतलता सहज है, उष्णता सहज नहीं है; उष्णता के लिए प्रयत्न किया जाता है। अतिशीतलता के लिए प्रयत्न करना अलग बात है, किन्तु प्रकृति प्रदत्त पानी का जो सहज स्वभाव है, वह शीतलता है। सत्संग में मनुष्य अपनी प्रकृति को बदल सकता है, गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी वह आदर्श जीवन जी सकता है, परिवार की सेवा करते हुए समाज-सेवा के लिए उदारता का परिचय दे सकता है। वह दानवीर बन सकता है। धर्मवीर बन सकता है। आदर्श जीवन जी सकता है। इसके एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं।

वाल्मीकि संत बने, किन्तु उनका पूर्वजीवन क्या था ? वे डाकू से ही तो ऋषि बने थे। यदि परिवर्तन संभव न होता तो ऐसा कैसे होता ? संत तुलसीदासजी संत कब, कैसे बने ? रामायण की रचना उन्होंने कब की ? रामचरितमानस, जो आज लाखों-लाख लोगों का प्राण है, कण्ठ-हार है, उसकी रचना-क्षमता उनमें कब व्यक्त हुई ? पत्नी के प्यार में वे कितने बावले थे, कितने बेसुध थे उस मोह-मदिरा में, उस मोह-मूर्च्छा में; इतने कि पत्नी मायके भी जाए तो उसके पीछे नौकर की तरह चलें। यहाँ तक कि उनकी पत्नी को संकोच भी हुआ, शर्म भी आयी, कि मायके के वातावरण में तुम मेरे पीछे-पीछे आ जाते हो, यह कुलीन परम्परा या लोकमर्यादा नहीं है। एक बार उसने कह दिया कि मेरे शरीर के पीछे इतने पड़े हो, मेरी त्वचा के प्रति इतने समर्पित हो, काश ! यदि तुम्हारा यह मन इतना ही प्रभु परमात्मा के प्रति समर्पित होता ! किसने कहा था यह ? महाकवि तुलसीदास की पत्नी रत्नावली ने। पत्नी ने पत्नी ही नहीं, गुरु का काम भी किया। उसने कहा :

हाड़ मास मय देह यह, तामें ऐसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम में, होती क्यों भव-भीति ।।

(यदि रघुनाथ में तुम्हारी ऐसी प्रीति होती तो यह भव-भ्रमण होना ही नहीं। इस चमड़ी की लुभावनी चादर को अलग कर दो फिर तो सब घृणा लायक ही है।)

बाहर की सुन्दरता पर तुम रीझ रहे हो, पर यह सुन्दरता कम कुरूपता लिये हुए नहीं है। किसी कवि ने बहुत अच्छा कहा है कि जैसे कोई शादी-विवाह का प्रसंग हो, या मज़ाक करने का मूड हो और थाल-भर के भेज दें अपने किन्हीं सगे-सम्बन्धियों के यहाँ। अब जब जिसके यहाँ थाल पहुँचता है तब घर की मालकिन जल्दी से आती है और कहती है कि समधियों के यहाँ से बहुत बड़े थाल आये हैं। मिठाई खानी ही नहीं है, खूब बाँटनी भी है। जैसे ही वह थाल खोलती है एकदम चकमक-चकमक सोने का वर्क चढ़ा मावा दिखाई देता है; किन्तु जब चकतियाँ काटने लगती है तब भीतर गोबर-ही-गोबर भरा मिलता है, गोबर-ही-गोबर। कविता-पंक्ति है : ऐ मनुष्य नादान मत बन, बाहर की सफाई पर। वर्क सोने का लगा है, गोबर की मिठाई पर।

तुलसीदासजी संत बने हैं तो रत्नावली की प्रेरणा उनकी उस पृष्ठभूमि पर है। उसने ही उन्हें सत्य को समझाया है। विषय-वासना के विषैले परिणामों से ही यह जीव अनन्तकाल की यात्रा में आज तक संसार के इसी आयाम पर खड़ा है। यदि परिवर्तन संभव न होता, यदि गृहस्थ-जीवन में भाव न बदल सकते तो यह सब कैसे संभव होता? चोट पड़ी, ऐसी चोट पड़ी अपनी ही पत्नी के शब्दों की मन पर कि वे बहिर्मुख से अंतर्मुख हो गये। मन के भाव बदल गये। सोचने का ढंग बदल गया। और जो शक्ति, जो मन रत्नावली पर समर्पित था, वही राम-कथा लिखने में लग गया। इस तरह उन्होंने स्वयं अपना कल्याण भी किया और हज़ारों-लाखों मनुष्यों को मानव-धर्म की शिक्षा भी दी। 'रामचरितमानस' का अध्ययन कर यदि उसके लक्ष्य को व्यक्ति अपने जीवन में अवतरित कर ले तो क्या वह आदर्श नागरिक नहीं बन सकता? क्या परिवार में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता? धर्मात्मा नहीं बन सकता? यह सब हो सकता है। परिवर्तन यदि संभव न होता तो फिर हमारे महापुरुष स्वान्तःसुखाय ही सब कुछ करते, वाणी का लोकहिताय उपयोग न करते, और न करते कभी लेखनी का उपयोग।

जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कारों में आज का व्यक्ति जी रहा है, किन्तु उसे नहीं मालूम कि वह कुसंस्कारों में जी रहा है। संसार में आज भी ऐसे मनुष्य कम नहीं हैं जो आकृति-से-तो-मनुष्य हैं; किन्तु प्रकृति-से-पशु हैं, और हिंसक वृत्ति का परिचय दे रहे हैं।

सत्संग में जब बात चल रही थी, तब एक बन्धु आँसू बहाते हुए आकर कहने लगे : महाराज, मैंने इस अनित्य शरीर के संयोग का अभिमान किया। 'मैं घर का प्रमुख हूँ' इस मिथ्या बड़प्पन का मुझे अहंकार हो आया। मैं क्रोध के अधीन हो गया। मैंने अपने चारों लड़कों को मार-मार कर कितनी ही बार उनकी खाल लाल कर दी। इतना ही नहीं, मैंने अपने पिता पर भी हाथ उठाया। आश्चर्य हुआ मुझे सुन कर। मैंने कहा मनुष्य तेरे मुँह से यह क्या सुनने को मिल रहा है? क्या तुम ही राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर के वंशज हो ? क्या श्रवणकुमार, जिसने माँ-बाप की सेवा के लिए काँवड़ कन्धों पर ढोयी थी वह सब इसी देश में नहीं हुआ था ! ! क्या इसी देश में जन्म लेने वाले बेटे अब अपने माँ-बाप पर हाथ उठायेंगे ? ऐसे व्यक्ति इस धरती पर भार है। उन्होंने इस पवित्र धरती को कलंकित किया है।

ऐसे लोगों ने ही इस धरती को, और इसके गौरव को धूल में मिलाने का घृणित कार्य किया है। वे अपनी प्रकृति के दास बन गये हैं; क्योंकि सत्संग में कभी गये नहीं। उन्हें नही मालूम कि यह उनका सहज स्वभाव नहीं है। जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों से उनकी आत्मा प्रभावित है और ये संयोग-संबंध ही उसे ऐसे ग़लत और क्रूर काम करने की प्रेरणा देते हैं। प्रकृति सदा नहीं रहती, व्यक्ति को ऐसा विश्वास होना चाहिए; किन्तु ऐसा होगा कब ? तब, जब वह सत्संग में आयेगा और वहाँ सुनेगा कि संयोग सहज नहीं है। उसे बदला जा सकता है। सबसे पहले मुझे अपने ही स्वभाव में जो संयोग है, ईर्ष्या का, द्वेष का, कोध का, उसे क्षीण करना है। इस संयोग-संबंध को कमज़ोर करने के लिए हमें नियमित अभ्यास करना होगा; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों के ये संस्कार आज भले हीं संयोग-सम्बन्ध के रूप में हैं, किन्तु एक दिन या एक ज़िन्दगी में इन सबकी सफाई बहुत मुश्किल है। हाँ, यदि पुरुषार्थ जाग जाए, लगन लग जाए और चित्त समर्पित हो जाए, तो बात अलग है; किन्तु सामान्य पुरुपार्थ से हम एकदम इस सारे कालुष्य को धो नहीं सकेंगे। संस्कार बहुत गहन हैं, जन्म-जन्मान्तरों के हैं; किन्तु हमें विश्वास करना है कि 'परिवर्तन संभव है' क्योंकि परिवर्तन की समीचीन दिशा मिलने पर कितने ही ऐसे नर हैं; हज़ारों-हज़ार ऐसे लोग हुए हैं, जो महात्मा बने हैं, जो परमात्मा बने हैं। जब हम उनकी जीवन-गाथा सुनते हैं, पढ़ते हैं; उनका प्रारंभिक जीवन देखते हैं, तो बड़ा विचित्र लगता है। कोई चोर-से-संत बना है, कोई डाकू-से-संत बना है, कोई व्यभिचारी-से-महात्मा बना है। धन को दबाने वाला, सर्वस्व छोड़कर चला गया; किन्तु कब ? जब मन बदल गया, जब सत्संग में, सद्ग्रंथों के प्रभाव में वह आया या प्रकृति से हीं कोई निमित्त उसे मिल गया तब। हम स्वयं को बदल सकते हैं, यदि संयोग-सम्बन्ध को संयोग-सम्बन्ध

मानकर हम चलें। हमें बहुत बदलना पड़ेगा। हर प्रभाव की छान-बीन करनी पड़ेगी। वह आदत देखनी पड़ेगी। उसे शान्त करने के लिए महापुरुषों के जीवन से उदाहरण लेकर हमें पूरी ताक़त लगानी पड़ेगी। मन उछल-कूद करेगा, वह घबरायेगा, परेशान होगा, फिर भी हम उसे सुधारने के लिए प्रयत्न करेंगे, उसे दण्डित करेंगे।

मन उच्छृंखल होता है, उद्दण्ड होता है, दूसरों को अशान्ति देने में निमित्त बनता है। इसका मूल कारण है वर्तमान संयोग-सम्बन्ध, विपुल भौतिक अनुकूलताएँ। उसे इसका अभिमान नहीं होगा यदि वह जान सके कि यह सब संयोग-सम्बन्ध है; बदलने वाला है। न सदा था, न सदा रहेगा। मैं सदा था, मैं सदा रहूँगा। इस समय मैं मनुष्य-पर्याय में हूँ। मनुष्य पर्याय मेरा "हाल मुकाम" है; "हाल मुकाम"। कई बार मैं कहा करती हूँ कि जैसे कोई मद्रास में व्यापार कर रहा है, कोई बैंगलौर में कमा रहा है, कोई बंबई में, और कोई किसी और शहर में है; किन्तु ये व्यक्ति जब तीर्थयात्रा पर निकलते हैं या अपने गाँव में किसी धर्मशाला या स्कूल के निर्माण में हजारों की सम्पत्ति लगाते हैं तब वे अपने बाप-दादाओं का नाम लिखाते हैं स्वयं का नाम लिखाते हैं, साथ ही यह भी दर्ज कराते हैं कि वे अमुक गाँव के मूल निवासी हैं और उनका हाल मुकाम मद्रास, बैंगलौर, बम्बई या और कोई शहर है।

ज्ञानी भगवन्त कहते हैं कि मनुष्य-शरीर में हम 'हाल-मुकाम' के रूप में बैठे हैं, यहाँ सदा रहेंगे नहीं। यह अनित्य संयोग-सम्बन्ध है। इस अनित्य संयोग-सम्बन्ध में जो नित्य है, जो शाश्वत है, जो चैतन्य है, जो चिदानन्द है, उसे समझना है। संयोग-सम्बन्ध जैसा भी मिला है, उसमें ज्ञान और वैराग्य का समागम करना है; और स्वयं ही अपने मन को बदलना है। किसी और के मन को बदलने का प्रयास नहीं करना है, अपना मन बदलना है। स्वयं-को स्वयं-का मन बदलना है, जिसकी पहली सीढ़ी है सत्संग।

उपदेश देने के लिए नहीं, लेने के लिए है। उपदेश दिया है, पर किसने? उसने, जिसने इसे पहले अपने जीवन में जिया है, उसे अक्षरशः उतारा है। आप देखते हैं गाँवों में, शहरों में, गर्मी में कितनी प्याऊ होती हैं। लोगों को जगह-जगह पानी पिलाया जाता है। पानी पिलाने के लिए एक व्यक्ति रामझारा लेकर बैठ जाता है। क्या यह प्याऊ पिलाने वाले की है? प्याऊ तो किसी सेठ की है। पिलाने वाला तो ड्यूटीमैन है। पानी पिलाना उसकी जिम्मेदारी है। इससे अधिक प्याऊ का अधिकार उसके पास नहीं है। प्याऊ उसकी नहीं है, पीने वाला भी दूसरा है; वह तो मात्र निमित्त है, माध्यम है। पानी वह स्वयं भी पीता है, दूसरों को भी पिलाता है। ठीक उसी

प्रकार सत्संग में आपको, मुझे, सबको अपना-ही-मन सुधारना है। उपदेश देने की भूमिका यह नहीं है। इतने पर भी यदि हम यह भाव करते हैं कि हम किसी को उपदेश देंगे तो इससे अधिक अज्ञान और क्या होगा?

यदि आपने अपने अज्ञान का निवारण नहीं किया, तो दूसरों के अज्ञान की निवृत्ति में आप निमित्त बन सकते हैं ऐसा सोचना अपने-आप में भारी दम्भ है, अज्ञान है, आत्मवंचना है। जिनमें योग्यता होगी वे ही कुछ कर सकेंगे; इसलिए प्रयास तो हम सभी करते हैं। नामालूम किसकी योग्यता का विकास हो जाए, नामालूम किसकी योग्यता प्रमाणित हो जाए। जिसकी योग्यता सिद्ध होगी, विकास उसी का होगा, कल्याण उसी का होगा। हम मंगल कामना करें; अपने लिए, आपके लिए, सबके लिए। हम मनुष्य जीवन के अनित्य संयोग-सम्बन्धों की निष्पक्ष व्याख्या करें, उनकी अनुकूलता में सहनशील बनें; प्रतिकूलता में धैर्य रखें; क्योंकि दोनों ही बदलने वाली हैं, आज भाग्य से यदि वे अनुकूल हैं तो हम उनका आत्म-कल्याण और लोक कल्याण में उपयोग करें।

—बालाघाट : 26 जुलाई 1983

बीज-में-वृक्ष

बारह भावना के अन्तर्गत तीसरी "संसार" भावना का विवेचन चल रहा है। संसार: जिसका न ओर है, न छोर; जिसका न आदि है, न अन्त, ऐसे अनन्त अपार संसार में यह जीवात्मा "शाश्वत चैतन्य चिदानन्द" स्वरूप जीवात्मा, स्वयं अपने ही ज्ञान से अपरिचित होने की स्थिति में सदा-सदा से भटक रहा है। जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी रहती है, जैसे गधे की पीठ पर चन्दन का ढेर लदा रहता है, जैसे बीज में वृक्ष होता है, वैसे ही आत्मा में परमातम शक्ति सुषुप्त है; किन्तु अपनी ही परमातम शक्ति से हम अपरिचित हैं और इस अपरिचय के कारण ही जड़ में लिप्त हैं; मिथ्या भ्रम में लिप्त हैं, अज्ञान में लिप्त हैं; जैसे मकड़ी स्वयं ही लार बनाती है और उसी से स्वयं जाला बुनती है, उसी के भीतर स्वयं अपना स्थान बनाती है और उस जाल में स्वयं ही फँस जाती है। इसे मकड़जाल कहते हैं। हम सब इसी तरह के स्वयं-निर्मित मायाजाल में फंसे हुए हैं, और अधिक फँसते जाते हैं।

ज्ञानी भगवन्त बार-बार कह रहे हैं, प्रेरणा दे रहे हैं कि तू इससे बाहर आ, किन्तु उनकी यह सुनता कौन है? "उत्तराध्ययन" का एक सूत्र है:

जन्मं दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हि संसारो, जत्थ कीसंति जन्तवो।।

(जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, और मृत्यु दुःख है। अहो! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहा है!!!)

जहाँ जीव पीड़ा का अनुभव करता है, दुःख का अनुभव करता है, वेदना का अनुभव करता है, वह संसार है। जन्म को दुःखमय बताया गया है और यदि जन्म से पूर्व गर्भावस्था का चिन्तन करें तो उसमें भी अनन्त पीड़ा है। हम अपनी बुद्धि का उपयोग खूब होशियारी से करते हैं। अपने अतीत के सम्बन्धों को हम अनेक बार संस्मरण के रूप में मन-ही-मन याद करते हैं,

दूसरों को सुनाते हैं। अतीत को हम याद करते हैं। उसे कथा-रूप में सुनाते हैं। वचपन की घटनाएँ सुनाते हैं। जवानी की घटनाएँ सुनाते हैं। ग़रीवी का हाल वताते हैं। अमीरी का परिचय देते हैं। और अपनी ज़िंदगी की जो विविधता, विचित्रता है उसे सुनाते हैं। कभी कोई व्यक्ति कहता है: मेरे सुख तो तुम सुनते ही रह जाओगे; मैं यदि अपनी ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव सुनाऊँ तो तुम हैरान रह जाओगे। भैया! मैं किसी की कहानी क्यों कहूँ; अपनी ही यदि लिखूँ तो हज़ार-दो-हज़ार पृष्ठों की पोथी वन जाएगी। मेरे इतने कटु और मधुर अनुभव हैं; किन्तु उन सारे ही अनुभवों में, उन सारी ही स्मृतियों में वही-वही है; वार-वार वही ही है। ज्ञानी वताते हैं कि इससे पहले की भी हमारी जीवन-यात्रा है। एक शरीर की अपेक्षा से यह जीवन-यात्रा जहाँ से शुरू होती है, वहाँ से हम उसका चिंतन करें।

जव हम तरल रूप में माँ के गर्भ में आते हैं तव वहीं से हमारा शरीर के साथ संयोग-सम्वन्ध वनता है। वहीं से मनुष्य-ज़िंदगी का प्रारंभ होता है। उस समय से लेकर जो नौ महीने की गर्भावधि है उसे भी हमने कभी याद नहीं किया। इस सिलसिले में शास्त्रों को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की ज़रूरत नही है, किसी का कहना मानने की भी ज़रूरत नहीं है, यह तो हम अपने ही अनुभव के आधार पर स्वीकार करते हैं। इसे हम नकार नहीं सकते। उस यथार्थ पर हमारी दृष्टि भले ही न जाए; किन्तु वह भी एक समय है, जिसके विना आज हम होते ही नहीं? कितने समय से, किस तरह की ज़िंदगी हम विता रहे हैं, क्या इस ओर कभी हमारी दृष्टि जाती है? क्या इस पर हम कभी विचार करते हैं?

ज़िंदगी की कई घटनाएँ हम एक-दूसरे को सुनाते हैं, किन्तु क्या कभी उन पर गंभीरता से विचार करते हैं? उदाहरण के लिए, आप वस में चढ़ते हैं। वहुत ज्यादा भीड़ है; इतनी अधिक कि एक-दूसरे की साँसों से भी एक-दूसरे को परेशानी होती है, एक-दूसरे के शरीर के स्पर्श से भी गर्मी का अनुभव होता है। इस घुटन और परेशानी में कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि इस तरह खड़े रहने से तो कूद पड़ना अच्छा है, उतर जाना अच्छा है, दूसरी वस का इन्तज़ार कर लेना अच्छा है; किन्तु ऐसी भीड़! यह मेरे वश की वात नहीं है।

इस क्षण में आप स्वयं से प्रश्न करें कि माँ के गर्भ में जिस समय नौ मास रहे तव वहाँ तो इतनी भी सुविधा नहीं थी। न कोई खिड़की, न कोई वारी, न कोई झरोखा; फिर वहाँ रहे या नहीं? कौन है ऐसा व्यक्ति, जिसने उस "अवस्था" के विना ही अपने जन्म-की-थाली वजवा ली? किसी के

भी जन्म-की-थाली विना गर्भावस्था के नहीं बजती। तो किसी तरह संकट का यह समय व्यतीत किया ही होगा। कितने घिनौने स्थान में यह जीव रहा है; किन्तु आज थोड़ी-सी गंदगी से इसका मन परेशान होता है, दुःखी होता है, अशान्त होता है। विचार आता है कि वहाँ सिवाय घिनौने संयोग के और क्या था? यह है यथार्थ; फिर आप इसे मानें, या न मानें; आपकी मर्जी।

ज्ञानियों ने कहा है कि "चैतन्य चिदानन्द" तूने कभी अपने सहज सुख को याद नहीं किया इसीलिए जन्म-मरण, आधि-व्याधि-उपाधि के तमाम दुःख तुझे सहने पड़ते हैं। यह तेरी ही भूल का दुष्परिणाम है कि बार-बार इस प्रकार की क्रियाओं से तेरा संयोग-वियोग चल रहा है।

ज्ञानी भगवन्त कहते हैं कि तू अपनी बुद्धि का उपयोग कभी अपने लिए भी कर। कभी अपने स्वरूप-चिन्तन के लिए भी कर। कभी अपनी इस यात्रा के संस्मरण भी सुना कि 'अनन्त काल का राही मैं कहाँ-कहाँ नहीं गया'? किन-किन अवस्थाओं से नहीं गुज़रा? उस अतीत पर यदि दृष्टि जाएगी तो स्थिति क्या होगी? याद करके भी क्या करेगा? सोचेगा; क्या भूलूँ, क्या याद करूँ? क्या याद करेगा? एक जीवन भी पूरा याद नहीं है। तो फिर 'अतीत' तेरी दृष्टि में कैसे आयेगा? यह सचाई है। सचाई है, पर उसका इससे क्या वास्ता? वह बेखबर है, इसलिए जन्म की वेदना से वह मुक्त नहीं होगा। जब कभी यहाँ से प्रस्थान करेगा तब फिर उसे वहीं जाना होगा, जहाँ से वह आया है।

कभी-कभार कोई व्यक्ति कह देता है: छोड़िये, अतीत की बातों से क्या लेना, क्या देना? जो सुख-दुःख भोगना था, भोग लिया। बिलकुल ठीक है; जो भोगना था, भोग लिया। अब तो नहीं भोगेंगे। अब तो ऐसे कर्म नहीं कर रहे हैं। अब तो ऐसी व्यवस्था नहीं है, हमारे जीवन की। भोग ही लिया, फिर कहाँ जाना है? तो सुनो, फिर गर्भ की उसी वेदना को सहन करने जाना है। जाना ही है। जहाँ से आये हैं, जिन परिस्थितियों से गुज़र कर आये हैं; वहीं फिर जाना होगा। यह दुर्निवार है।

व्यक्ति रोज रोचक संस्मरण सुनाता है, पर ऐसी चर्चा कभी नहीं करता; क्योंकि सचाई तो इसे पसंद ही नहीं है। जो सहज है, जो यथार्थ है, जो सत्य है, जो त्रिकालवर्ती है, उसकी चर्चा इसे पसंद नहीं है। जन्म के दुःख को यह कभी याद नहीं करेगा। मृत्यु के दुःख को यह क़भी याद नहीं करेगा। बीमारी के दुःख को यह कभी याद नहीं करेगा। इष्ट-वियोग अनिष्ट-संयोग की वेदना को भी यह याद नहीं करेगा। थोड़े-से-सुख में और वह भी

कैसे सुख में? मात्र काल्पनिक सुख में, सिर्फ कहने के सुख में, केवल मन की मान्यता के सुख में, बूँद-भर सुख में; उस सुख में जिसमें सिर्फ घना दुःख छिपा है; आनन्द का अनुभव करने लगा है। ज्ञानियों के दोहे इसे कभी याद नहीं आते। पहले कभी वचपन में ऐसे दोहे, ऐसे सवैये याद कराये जाते थे कि जो ज़िंदगी के रहस्य को समझाते थे। चाणक्य-नीति आदि के रूप में सौ-सौ श्लोक एक-एक व्यक्ति को याद होते थे, जिनमें सव प्रकार की नीति आ जाती थी। आत्मा से संबंधित सत्य उन दोहों में आ जाता था।

यदि विवेकी परिवार में जन्म हो तो वचपन में ही ऐसे शब्द सुनने को मिल जाते हैं कि तुम 'चैतन्य चिदानन्द' हो; कर्मों का फल भोगने आज तुम मनुष्य-शरीर में हो पर अन्ततः तुम 'चैतन्य चिदानंद' ही हो। गुरुवर्याश्री विचक्षणश्रीजी, जिनकी दृष्टि में संसार के दुःख प्रायः आँखों में वेदना वन कर उमड़ आते थे, ऐसी ही परम विभूति थीं। जव कभी उनके चरणों में आशीर्वाद लेने लोग आते थे; वच्चों को लेकर जन्म के ४० दिन बाद (आज भी यह/ऐसी परम्परा है कि वच्चे को पहले गुरु का आशीर्वाद दिलाते हैं) तव एक बार नहीं, मैंने अनेक बार निकट से देखा कि जैसे ही कोई बच्चा उनके पास आशीर्वाद देने के लिए लाया जाता और उसे उनके चरणों में लिटाया जाता, उनकी आँखें भीग उठती थीं। उनमें करुणा और प्रीति की घटाएँ छा जाती थीं। उनका तन-मन पुलकित हो उठता था।

भाव-विह्वल हो वे कह उठती थीं: तीन लोक का नाथ, शुद्ध-वुद्ध, निरंजन, निराकार! यह कर्मों के वंधन में कैसा वँधा हुआ है! ओहो! यह जीव कैसा कठोर कारावास भोग रहा है? किस तरह इसे शरीर-संयोग में आना पड़ता है? किस और कैसी यातना का अनुभव इसे करना पड़ता है? उनकी आँखों से आंसू वरस पड़ते हैं। रोकने की कोशिश करतीं; किन्तु यह उनकी आत्मसम्बोधि के मार्मिक क्षण होते थे। कभी हम पूछ वैठते थे कि महाराज! आप आँसुओं को रोकने की कोशिश क्यों करती हैं? वे कहतीं— संयोग या वैराग्य या चैतन्य की जिस सहज स्थिति का चिन्तन कर हम वर्तमान की अवस्था पर खेद प्रकट करते हैं, उसे कौन जानेगा? हो सकता है आने वाली माताएँ, या दादी-माँएँ अनुभव करें कि खुशी के इन क्षणों में महाराज की आँखों में आँसू हैं, क्यों हैं? हमारा यह दिन तो एक आनन्द का दिन है, हम तो आशीर्वाद लेने आये हैं, और महाराज हैं कि आँसू बरसा रहे हैं? हमारे भावों को न जानने वाले कहीं अन्यथा न समझ लें इसलिए पूरे वेग में उमड़ते आँसुओं को हम रोक लेते हैं।

बन्धुओ! हमने अपनी ज़िन्दगी में आँसू बहुत बहाये हैं। जब लाभ के क्षण अलाभ के क्षण बने होंगे, तब आँखों से आँसू बरसे होंगे। जब जन्म के तुरन्त बाद अपनी सन्तान का वियोग हुआ होगा, तब आँसू बरसे होंगे। अनिष्ट जो नहीं चाहिए वह, मिला होगा तब आँसू बरसे होंगे। इष्ट के वियोग में प्राण तड़पड़ाये होंगे और आँसुओं को पोंछते हुए भी अन्दर-ही-अन्दर आँसू पी लिये होंगे।

आँसू आना नयी बात नहीं है, बड़ी बात नहीं है। शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जो यह कह सके कि मैंने अपनी ज़िंदगी में कभी आँसू नहीं बहाये। धन के लिए आँसू बहाये हों, धरती के लिए आँसू बहाये हों, अनित्य संयोगों में आँसू बहाये हों, और इष्ट-वियोग में आँसू बहाये हों, कौन जाने किन क्षणों में हमने आँसू बहाये हों; पर कभी न बहाये हों, यह संभव नहीं है। जब आशा निराशा बनी होगी, तब आँसू बहाये होंगे। ज़िन्दगी में आँसू बहुत बहे हैं; किन्तु यदि हम इन बहाये गये आँसुओं का मूल्यांकन करें तो स्वार्थ और मोह के कारण तो आँसू बहे होंगे, अतीत की किसी कसक में वे निकल पड़े होंगे; किन्तु हम सब अपने-आपसे यह प्रश्न करें कि क्या कभी 'प्रभु परमात्मा के दर्शन करूँ' इस भावना से किसी की आँखों में आँसू उमड़े हैं? इस संसार से मुक्ति मुझे कब मिलेगी? मेरी आत्मा का सहज आनन्द मुझे कब मिलेगा? ऐसे भाव-विलास में क्या कभी हमारी आँखें सजल हुई हैं? क्या कभी परमात्मा के चरण हमने अपने आँसुओं से पखारे हैं? क्या कभी अपने आराध्य के चरणों में अपने ही ग़लत कृत्यों पर नज़र डालकर, पाप-प्रवृत्तियों को याद कर उस भार से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त हमने किया है? कोई पश्चात्ताप किया है? क्या कभी अपनी ही दुर्भावनाओं को याद कर परमात्मा के चरणों में हमने आँसू बहाये हैं और कहा है कि प्रभो, मैंने ऐसा जीवन जिया, जैसा मुझे नहीं जीना चाहिए था; किन्तु जो जी चुका; वह जी चुका, अब नहीं जिऊँगा; किन्तु क्या जो, जैसा जी चुके उसके लिए अनुताप और पश्चात्ताप के आँसू कभी आये? क्या कभी किसी ग़रीब से ज़रूरत-से-ज्यादा काम लेने पर आँसू आये? उसका दुःख और उसकी वेदना देख कर क्या कभी अनुकम्पा हुई? जैन पारिभाषिक शब्दावली में एक शब्द है—"अनुकम्पा"। दूसरों के दुःख में हमारी मानसिक समवेदना का उसी अनुपात में घटित होना अनुकम्पन है। "अनुकम्पन" का अर्थ है सहज कम्पन। क्या कभी इस सहज कम्पन का अनुभव हमने किया है? ऐसे व्यक्ति भी हैं जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए आँसू बहाते हैं। एक ऐसे व्यक्ति से भी मेरा परिचय हुआ, जिसने कहा—महाराज! ज़िन्दगी में और कोई इच्छा नहीं है और कोई तमन्ना नहीं है; बस यही कामना है कि सब सुखी हों। कहीं कोई दुःखी न हो।

कैसे सुख में? मात्र काल्पनिक सुख में, सिर्फ कहने के सुख में, केवल मन की मान्यता के सुख में, बूँद-भर सुख में; उस सुख में जिसमें सिर्फ घना दुःख छिपा है; आनन्द का अनुभव करने लगा है। ज्ञानियों के दोहे इसे कभी याद नहीं आते। पहले कभी बचपन में ऐसे दोहे, ऐसे सवैये याद कराये जाते थे कि जो ज़िंदगी के रहस्य को समझाते थे। चाणक्य-नीति आदि के रूप में सौ-सौ श्लोक एक-एक व्यक्ति को याद होते थे, जिनमें सब प्रकार की नीति आ जाती थी। आत्मा से संबंधित सत्य उन दोहों में आ जाता था।

यदि विवेकी परिवार में जन्म हो तो बचपन में ही ऐसे शब्द सुनने को मिल जाते हैं कि तुम 'चैतन्य चिदानन्द' हो; कर्मों का फल भोगने आज तुम मनुष्य-शरीर में हो पर अन्ततः तुम 'चैतन्य चिदानंद' ही हो। गुरुवर्याश्री विचक्षणश्रीजी, जिनकी दृष्टि में संसार के दुःख प्रायः आँखों में वेदना बन कर उमड़ आते थे, ऐसी ही परम विभूति थीं। जब कभी उनके चरणों में आशीर्वाद लेने लोग आते थे; बच्चों को लेकर जन्म के ४० दिन बाद (आज भी यह/ऐसी परम्परा है कि बच्चे को पहले गुरु का आशीर्वाद दिलाते हैं) तब एक बार नहीं, मैंने अनेक बार निकट से देखा कि जैसे ही कोई बच्चा उनके पास आशीर्वाद देने के लिए लाया जाता और उसे उनके चरणों में लिटाया जाता, उनकी आँखें भीग उठती थीं। उनमें करुणा और प्रीति की घटाएँ छा जाती थीं। उनका तन-मन पुलकित हो उठता था।

भाव-विह्वल हो वे कह उठती थीं: तीन लोक का नाथ, शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, निराकार! यह कर्मों के बंधन में कैसा बँधा हुआ है! ओहो! यह जीव कैसा कठोर कारावास भोग रहा है? किस तरह इसे शरीर-संयोग में आना पड़ता है? किस और कैसी यातना का अनुभव इसे करना पड़ता है? उनकी आँखों से आंसू बरस पड़ते हैं। रोकने की कोशिश करतीं; किन्तु यह उनकी आत्मसम्बोधि के मार्मिक क्षण होते थे। कभी हम पूछ बैठते थे कि महाराज! आप आँसुओं को रोकने की कोशिश क्यों करती हैं? वे कहतीं— संयोग या वैराग्य या चैतन्य की जिस सहज स्थिति का चिन्तन कर हम वर्तमान की अवस्था पर खेद प्रकट करते हैं, उसे कौन जानेगा? हो सकता है आने वाली माताएँ, या दादी-माँएँ अनुभव करें कि खुशी के इन क्षणों में महाराज की आँखों में आँसू हैं, क्यों हैं? हमारा यह दिन तो एक आनन्द का दिन है, हम तो आशीर्वाद लेने आये हैं, और महाराज हैं कि आँसू बरसा रहे हैं? हमारे भावों को न जानने वाले कहीं अन्यथा न समझ लें इसलिए पूरे वेग में उमड़ते आँसुओं को हम रोक लेते हैं।

बन्धुओ! हमने अपनी ज़िन्दगी में आँसू बहुत बहाये हैं। जब लाभ के क्षण अलाभ के क्षण बने होंगे, तब आँखों से आँसू बरसे होंगे। जब जन्म के तुरन्त बाद अपनी सन्तान का वियोग हुआ होगा, तब आँसू बरसे होंगे। अनिष्ट जो नहीं चाहिए वह, मिला होगा तब आँसू बरसे होंगे। इष्ट के वियोग में प्राण तड़पड़ाये होंगे और आँसुओं को पोंछते हुए भी अन्दर-ही-अन्दर आँसू पी लिये होंगे।

आँसू आना नयी बात नहीं है, बड़ी बात नहीं है। शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जो यह कह सके कि मैंने अपनी ज़िंदगी में कभी आँसू नहीं बहाये। धन के लिए आँसू बहाये हों, धरती के लिए आँसू बहाये हों, अनित्य संयोगों में आँसू बहाये हों, और इष्ट-वियोग में आँसू बहाये हों, कौन जाने किन क्षणों में हमने आँसू बहाये हों; पर कभी न बहाये हों, यह संभव नहीं है। जब आशा निराशा बनी होगी, तब आँसू बहाये होंगे। ज़िन्दगी में आँसू बहुत बहे हैं; किन्तु यदि हम इन बहाये गये आँसुओं का मूल्यांकन करें तो स्वार्थ और मोह के कारण तो आँसू बहे होंगे, अतीत की किसी कसक में वे निकल पड़े होंगे; किन्तु हम सब अपने-आपसे यह प्रश्न करें कि क्या कभी 'प्रभु परमात्मा के दर्शन करूँ' इस भावना से किसी की आँखों में आँसू उमड़े हैं? इस संसार से मुक्ति मुझे कब मिलेगी? मेरी आत्मा का सहज आनन्द मुझे कब मिलेगा? ऐसे भाव-विलास में क्या कभी हमारी आँखें सजल हुई हैं? क्या कभी परमात्मा के चरण हमने अपने आँसुओं से पखारे हैं? क्या कभी अपने आराध्य के चरणों में अपने ही ग़लत कृत्यों पर नज़र डालकर, पाप-प्रवृत्तियों को याद कर उस भार से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त हमने किया है? कोई पश्चात्ताप किया है? क्या कभी अपनी ही दुर्भावनाओं को याद कर परमात्मा के चरणों में हमने आँसू बहाये हैं और कहा है कि प्रभो, मैंने ऐसा जीवन जिया, जैसा मुझे नहीं जीना चाहिए था; किन्तु जो जी चुका; वह जी चुका, अब नहीं जिऊँगा; किन्तु क्या जो, जैसा जी चुके उसके लिए अनुताप और पश्चात्ताप के आँसू कभी आये? क्या कभी किसी ग़रीब से ज़रूरत-से-ज्यादा काम लेने पर आँसू आये? उसका दुःख और उसकी वेदना देख कर क्या कभी अनुकम्पा हुई? जैन पारिभाषिक शब्दावली में एक शब्द है—"अनुकम्पा"। दूसरों के दुःख में हमारी मानसिक समवेदना का उसी अनुपात में घटित होना अनुकम्पन है। "अनुकम्पन" का अर्थ है सहज कम्पन। क्या कभी इस सहज कम्पन का अनुभव हमने किया है? ऐसे व्यक्ति भी हैं जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए आँसू बहाते हैं। एक ऐसे व्यक्ति से भी मेरा परिचय हुआ, जिसने कहा—महाराज! जिन्दगी में और कोई इच्छा नहीं है और कोई तमन्ना नहीं है; बस यही कामना है कि सब सुखी हों। कहीं कोई दुःखी न हो।

कैसे सुख में? मात्र काल्पनिक सुख में, सिर्फ कहने के सुख में, केवल मन की मान्यता के सुख में, बूंद-भर सुख में; उस सुख में जिसमें सिर्फ घना दुःख छिपा है; आनन्द का अनुभव करने लगा है। ज्ञानियों के दोहे इसे कभी याद नहीं आते। पहले कभी बचपन में ऐसे दोहे, ऐसे सवैये याद कराये जाते थे कि जो ज़िंदगी के रहस्य को समझाते थे। चाणक्य-नीति आदि के रूप में सौ-सौ श्लोक एक-एक व्यक्ति को याद होते थे, जिनमें सब प्रकार की नीति आ जाती थी। आत्मा से संबंधित सत्य उन दोहों में आ जाता था।

यदि विवेकी परिवार में जन्म हो तो बचपन में ही ऐसे शब्द सुनने को मिल जाते हैं कि तुम 'चैतन्य चिदानन्द' हो; कर्मों का फल भोगने आज तुम मनुष्य-शरीर में हो पर अन्ततः तुम 'चैतन्य चिदानंद' ही हो। गुरुवर्याश्री विचक्षणश्रीजी, जिनकी दृष्टि में संसार के दुःख प्रायः आँखों में वेदना बन कर उमड़ आते थे, ऐसी ही परम विभूति थीं। जब कभी उनके चरणों में आशीर्वाद लेने लोग आते थे; बच्चों को लेकर जन्म के ४० दिन बाद (आज भी यह/ऐसी परम्परा है कि बच्चे को पहले गुरु का आशीर्वाद दिलाते हैं) तब एक बार नहीं, मैंने अनेक बार निकट से देखा कि जैसे ही कोई बच्चा उनके पास आशीर्वाद देने के लिए लाया जाता और उसे उनके चरणों में लिटाया जाता, उनकी आँखें भीग उठती थीं। उनमें करुणा और प्रीति की घटाएँ छा जाती थीं। उनका तन-मन पुलकित हो उठता था।

भाव-विह्वल हो वे कह उठती थीं: तीन लोक का नाथ, शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, निराकार! यह कर्मों के बंधन में कैसा बँधा हुआ है! ओहो! यह जीव कैसा कठोर कारावास भोग रहा है? किस तरह इसे शरीर-संयोग में आना पड़ता है? किस और कैसी यातना का अनुभव इसे करना पड़ता है? उनकी आँखों से आंसू बरस पड़ते हैं। रोकने की कोशिश करतीं; किन्तु यह उनकी आत्मसम्बोधि के मार्मिक क्षण होते थे। कभी हम पूछ बैठते थे कि महाराज! आप आँसुओं को रोकने की कोशिश क्यों करती हैं? वे कहतीं— संयोग या वैराग्य या चैतन्य की जिस सहज स्थिति का चिन्तन कर हम वर्तमान की अवस्था पर खेद प्रकट करते हैं, उसे कौन जानेगा? हो सकता है आने वाली माताएँ, या दादी-माँएँ अनुभव करें कि खुशी के इन क्षणों में महाराज की आँखों में आँसू हैं, क्यों हैं? हमारा यह दिन तो एक आनन्द का दिन है, हम तो आशीर्वाद लेने आये हैं, और महाराज हैं कि आँसू बरसा रहे हैं? हमारे भावों को न जानने वाले कहीं अन्यथा न समझ लें इसलिए पूरे वेग में उमड़ते आँसुओं को हम रोक लेते हैं।

बन्धुओ! हमने अपनी जिन्दगी में आँसू बहुत बहाये हैं। जब लाभ के क्षण अलाभ के क्षण बने होंगे, तब आँखों से आँसू बरसे होंगे। जब जन्म के तुरन्त बाद अपनी सन्तान का वियोग हुआ होगा, तब आँसू बरसे होंगे। अनिष्ट जो नहीं चाहिए वह, मिला होगा तब आँसू बरसे होंगे। इष्ट के वियोग में प्राण तड़पड़ाये होंगे और आँसुओं को पोंछते हुए भी अन्दर-ही-अन्दर आँसू पी लिये होंगे।

आँसू आना नयी बात नहीं है, बड़ी बात नहीं है। शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जो यह कह सके कि मैंने अपनी ज़िंदगी में कभी आँसू नहीं बहाये। धन के लिए आँसू बहाये हों, धरती के लिए आँसू बहाये हों, अनित्य संयोगों में आँसू बहाये हों, और इष्ट-वियोग में आँसू बहाये हों, कौन जाने किन क्षणों में हमने आँसू बहाये हों; पर कभी न बहाये हों, यह संभव नहीं है। जब आशा निराशा बनी होगी, तब आँसू बहाये होंगे। जिन्दगी में आँसू बहुत बहे हैं; किन्तु यदि हम इन बहाये गये आँसुओं का मूल्यांकन करें तो स्वार्थ और मोह के कारण तो आँसू बहे होंगे, अतीत की किसी कसक में वे निकल पड़े होंगे; किन्तु हम सब अपने-आपसे यह प्रश्न करें कि क्या कभी 'प्रभु परमात्मा के दर्शन करूँ' इस भावना से किसी की आँखों में आँसू उमड़े हैं? इस संसार से मुक्ति मुझे कब मिलेगी? मेरी आत्मा का सहज आनन्द मुझे कब मिलेगा? ऐसे भाव-विलास में क्या कभी हमारी आँखें सजल हुई हैं? क्या कभी परमात्मा के चरण हमने अपने आँसुओं से पखारे हैं? क्या कभी अपने आराध्य के चरणों में अपने ही ग़लत कृत्यों पर नजर डालकर, पाप-प्रवृत्तियों को याद कर उस भार से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त हमने किया है? कोई पश्चात्ताप किया है? क्या कभी अपनी ही दुर्भावनाओं को याद कर परमात्मा के चरणों में हमने आँसू बहाये हैं और कहा है कि प्रभो, मैंने ऐसा जीवन जिया, जैसा मुझे नहीं जीना चाहिए था; किन्तु जो जी चुका; वह जी चुका, अब नहीं जिऊँगा; किन्तु क्या जो, जैसा जी चुके उसके लिए अनुताप और पश्चात्ताप के आँसू कभी आये? क्या कभी किसी ग़रीब से जरूरत-से-ज्यादा काम लेने पर आँसू आये? उसका दुःख और उसकी वेदना देख कर क्या कभी अनुकम्पा हुई? जैन पारिभाषिक शब्दावली में एक शब्द है—"अनुकम्पा"। दूसरों के दुःख में हमारी मानसिक समवेदना का उसी अनुपात में घटित होना अनुकम्पन है। "अनुकम्पन" का अर्थ है सहज कम्पन। क्या कभी इस सहज कम्पन का अनुभव हमने किया है? ऐसे व्यक्ति भी हैं जो अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए आँसू बहाते हैं। एक ऐसे व्यक्ति से भी मेरा परिचय हुआ, जिसने कहा—महाराज! ज़िन्दगी में और कोई इच्छा नहीं है और कोई तमन्ना नहीं है; बस यही कामना है कि सब सुखी हों। कहीं कोई दुःखी न हो।

वे बहुत बड़े पद पर थे। अब निवृत्त हो चुके हैं। निवृत्त होने के बाद जैसा निर्मल जीवन उन्होंने जिया; लाखों में से शायद ही कोई ऐसा जीवन जी पाता है। कितना [illegible]! कितना स्वच्छ!! जब कभी वे मुझसे मिलने आते हैं, सुखद होता है वह सब। जोधपुर-चातुर्मास की बात है। उन्होंने कहा—मेरी एक मात्र इच्छा है महाराज कि प्रभु परमात्मा के दर्शन कर मेरी आँखों से अश्रुधार बहे। उसके बाद भले ही मेरी मृत्यु हो जाए; पर एक बार तो मैं उस प्रभु परमात्मा के चरणों में आँसू बहा लूँ।

हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री महादेवीजी ने तो यहाँ तक कह दिया है: "मैं नीर-भरी दुःख की बदली"। कई व्यक्तियों की आँखों में आँसू तो इतनी जल्दी आते हैं कि उनके आँसुओं का मूल्य ही नहीं होता। उनके आँसुओं की कीमत ही नहीं होती। अपरिचित जब पूछ बैठते हैं कि क्यों रो रहे हैं? तो परिजन उत्तर देते हैं—अरे रो रहे होंगे उनकी तो आदत ही पड़ गयी है। अरे साहब! ये तो छोटी-छोटी बातों में ही रो देते हैं। कई लोग टिप्पणी कर देते हैं कि तुम्हारी इन आँखों में तो समुद्र ही उमड़ आया है। कितने आँसू इकट्ठा कर रखे हैं भीतर कि जब चाहो तब बहा लो। रोना बड़ी बात नहीं है, आँसू बहाना भी कोई नई बात नहीं है; वे तो जन्म-से-मृत्यु पर्यन्त बहते ही हैं; किन्तु क्या कभी आँसू इस प्रश्न पर बहे कि मैं संसार में क्यों हूँ? मैं "सच्चिदानन्द परम आत्मा" लक्ष चौरासी योनि-रूप इस जेल में क्यों जकड़ा हुआ हूँ? मैं पराधीन क्यों हूँ?

छह वर्षों से लगातार बिस्तर पर पड़े एक ऐसे व्यक्ति को मैंने देखा जिसके गले में छेद करके नली के जरिये चाय, दूध, आदि पहुँचाये जाते थे। मल-मूत्र की भी सुध उन्हें नहीं थी। केवल दिन में नौकर, या परिवार के सदस्य ही घुमाकर देख लेते थे कि उनके नीचे कोई गीलापन, या गंदगी तो नहीं है। छह वर्ष से उस व्यक्ति को उसी जीर्ण-शीर्ण शरीर में रहना पड़ा, जबकि उनके इस तरह रहने की न कोई ज़रूरत उन्हें थी, न परिवार को। कर्मफल-भोग, किन्तु अटल हैं; चूँकि उस शरीर के रहते जितने कर्मफल उन्हें भोगने हैं, उतने तो भोगने ही होंगे, तब तक आयुष्य की व्यवस्था भी समाप्त नहीं होगी।

कितने ही ऐसे लोग हैं कि जो जीना चाहते हैं, अभी जीने से जिनका जी भरा नहीं है; किन्तु इससे पहले ही उन्हें यहाँ से प्रस्थान कर जाना होता है क्या यह पराधीनता नहीं है? क्या इसे हम घोर विवशता नहीं कहेंगे?

ऐसे कितने ही लोग हैं, जो मरते समय परिवार के सामने आँखें पसार-पसार कर देखते हैं, और अपनी दयनीय स्थिति का परिचय देते हैं। वह रोगी बता रहा है कि मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता हूँ। बोल भले ही न सकूँ; किन्तु अपनी इस कामना को वह आँसुओं की अविरल धार से प्रकट कर रहा है। आँसू टपा-टप गिर रहे हैं; आँसू बह रहे हैं और कह रहे हैं कि मैं तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता, किन्तु छोड़ना पड़ रहा है। कितनी पराधीनता है। परिवार के सदस्य भी आँसू पोछ कर कह रहे हैं कि हम भी तुमसे अलग होना नहीं चाहते, पर होना पड़ रहा है। दोनों अपनी लाचारी बता रहे हैं और दोनों अपने भाव आँसुओं के माध्यम से ही व्यक्त कर पा रहे हैं। कितनी विवशता, कितनी लाचारी है इस संसार-रूपी जेल में!! व्यक्ति नहीं चाहता कि मुझे गर्मी लगे फिर भी उसे गर्मी का अनुभव करना पड़ता है, क्या यह बन्धन नहीं है ऋतु का? व्यक्ति नहीं चाहता कि वह वृद्ध हो फिर भी उसे वृद्धावस्था का अनुभव करना पड़ता है। व्यक्ति नहीं चाहता कि इतनी कड़ाके की सर्दी पड़े कि वह ठिठुर जाए फिर भी उसे सहन करना पड़ता है। व्यक्ति नहीं चाहता कि उसका अपना कोई व्यक्ति पराया हो जाए फिर भी यदि हो जाए तो वह क्या कर सकता है? जिन्दगी में ऐसी अनेक उलझनें आती हैं जब इसे आँसुओं से धरती को धो डालना होता है, पर कभी भी उन आँसुओं के भीतर होकर उसकी दृष्टि इस सचाई पर नहीं गई कि आखिर जन्म क्यों है, मृत्यु क्यों है, बुढ़ापा क्यों है, इष्ट-का-वियोग क्यों है; अनिष्ट-का-संयोग क्यों है, इस शरीर में वेदना क्यों है, रोग क्यों है? क्यों है, हम उनके असली कारण नहीं ढूँढ़ते। वस्तुतः ये सारे दुःख किसी के दिये हुए नहीं हैं, हमारे स्वयं के अज्ञान के परिणाम हैं। ये दिये हुए नहीं हैं, लिये हुए हैं। हमने ही लिये हैं, क्षण-भर के इन्द्रिय-सुख के निमित्त। कामना की एक बूँद है जिसने आकर इतना दुःख हमें विरासत मे दिया है। इसे हमने बहुत बार लिया है, बहुत बार दिया है; फिर भी हमारे भावों में परिवर्तन नहीं आया। किसी ने ठीक ही कहा है: दुःख का सूत्रधार सुख ही है। सुख ही दुःख का सूत्रधार है, पर व्यक्ति कभी इस बात का चिन्तन नहीं करता। पढ़ लेता है। सबके पास अपने-अपने धर्म की मान्यता है। उस मान्यता के ग्रन्थ हैं। उन ग्रन्थों का अध्ययन जिन्दगी में कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप में वह करता है और यदि करता है तो सारी बातें उसे पढ़ने को मिलती हैं। वह पढ़ लेता है, किन्तु पढ़ने में अपनी बुद्धि की उचित पकड़, या गहराई से वह उस तत्त्व का चिन्तन नहीं करता। पढ़ लेना चाहिए, बस इसलिए पढ़ लेता है! पढ़ता है, किन्तु पढ़ने के बाद उसका जीवन नहीं बदलता। कैसे बदलेगा? उसके बदलने के भाव ही नहीं

हैं; जब बदलने के भाव ही नहीं हैं, तब भला वह क्यों कर बदलेगा? कैसे बदलेगा? स्वाभाविक है कि हम जिन भावों में जी रहे हैं, उन्हीं भावों में जीना पसंद करते, हम किसी भाव से मुक्त नही होना चाहते; किसी भाव को हम छोड़ना नहीं चाहते; दुःख की कहानियाँ फिर भले ही ढेर सारी सुन लें। सुख के किस्से भी सुन लें, किन्तु जीवन के बदलने का प्रश्न नहीं है? वह तो ज्यों-का-त्यों खड़ा है, खड़ा रहेगा। यह जानकर भी कि मनुष्य-जीवन दुर्लभ है, एक क़दम भी आगे वह नही बढ़ता :

देह दुर्लभ नर की नर तुझको मिली।
बीत गई उमर न आये निज गली ॥
लाख यत्न करो बहिर्मुख सुख नहीं।
लक्ष्य दृष्टा में धरो न फिरो कहीं ॥
जैन सच्चा हो जिनेश्वर-पथ चले।
नर स्व-सहजानन्द पद में जा मिले ॥

किससे मिलेगा, स्वयं-ही-स्वयं-से। और जब स्वयं-स्वयं से मिल जाएगा तब दूसरों से मिलने की भूख, दूसरों से मिलने की कामना, दूसरों से मिलने-लिपटने की ललक-लालसा अपने-आप खाक हो जाएगी, शान्त हो जाएगी; कब? तब, जब दृष्टि में स्वयं का "चैतन्य चिदानन्द" आ जाएगा; पर इस जीव को ऐसी क्या पड़ी है? यह तो सारा इतिहास दोहरायेगा। ज़िन्दगी-भर की घटनाएँ सुनायेगा, पर "मैं आत्मा हूँ" ऐसा वाक्य इसके मुँह से कभी नहीं निकलेगा। मैं आत्मा हूँ, इस समय मनुष्य-शरीर में हूँ, केवल ६०—७० वर्ष की मेरी यह ज़िन्दगी है इसके बाद मुझे यहाँ से जाना है, और जाकर फिर मुझे अपना घर बसाना है, फिर नये परिवार से जुड़ना है, फिर नये सिरे से उन सबके बीच ज़िन्दगी बितानी है और यही हँसने-रोने का खेल फिर खेलना है। वहाँ भी क्या करना है, यही—फिर विदाई, फिर प्रस्थान, फिर प्रवेश। कितनी बार हुआ है यह सब? देखें, जब आत्मा का अस्तित्व चिरन्तन है तब कर्म-संयोगी आत्मा का एक शरीर की अपेक्षा जो अनित्य संबंध है उस दृष्टि से उसका प्रवेश और प्रस्थान जन्म-मरण कहलाता है। प्रवेश होता है तब सब स्वागत करते हैं, खुशियाँ मनाते हैं, गाजे-बाजे के साथ नाचते-कूदते हैं और मृत्यु के समय में, विदाई-समारोह में सब आँसू बहाते हैं। जब प्रवेश है, तब प्रस्थान तो होगा ही; रात है, तो सुबह होगी ही; यदि जन्म है, तो मृत्यु दुर्निवार है; किन्तु इस अद्भुत व्यक्ति को देखो कि यह संसार में है और कभी संसार के स्वरूप का विचार ही नहीं करता। विचार

तो खूब करता है, पूरे दिन करता है; किन्तु व्यापार का, मकान का, परिवार का, राजनीति का, जो जिस पार्टी का है उस पार्टी को, सम्प्रदाय के मत-मोह का, अपनी-अपनी परम्परा को पकड़े रखने का, हमारे दल में से कोई व्यक्ति हट न जाए, कोई व्यक्ति बदल न जाए, कोई टूट न जाए, कोई इधर-से-उधर न हो जाए; इस सबकी उसे बहुत चिन्ता है; चिन्ता है, चिन्तन नहीं है। सबमें अपनी-अपनी सीमा के विस्तार की चिन्ता है। सब सोचते हैं कि कहीं सीमा घट न जाए, इधर-से-उधर हो न जाए। इन सारी उलझनों में जीता है यह व्यक्ति; किन्तु मैं आत्मा हूँ, यह भाव इसमें नहीं आता। सबकी चिन्ता यह करेगा, पर अपनी चिन्ता नहीं करेगा।

ज्ञानी कहते हैं: "तू अपनी चिन्ता कर; क्योंकि तेरी चिन्ता तुझे छोड़कर कोई दूसरा करने वाला नहीं है।" गुरुवर्याश्री विचक्षणश्रीजी महाराज जब किसी को ५०–६० वर्ष की ज़िन्दगी तक व्यापार-धन्धे से चिपटा देखतीं तो कह उठतीं––सेठ अब तो समझो! अब तो परिवार के सारे सदस्य होशियार हो गये हैं, स्वतन्त्र हो गये हैं, खाने-कमाने योग्य हो गये हैं, अब और कब तक लिपटे रहोगे इस संसार से? अब तो तत्त्व-चिन्तामणि प्राप्त करने की बात सोचो। तब वह व्यक्ति जवाब देता––महाराज! क्या करूँ, कुछ भी छूटता नहीं है, छूटता नहीं है! (मृत्यु छुड़ा देगी उस क्षण क्या होगा?) दुकान थोड़ी देर तो देखनी ही पड़ती है। बच्चों के भरोसे उसे कैसे छोड़ दूँ?

यह सब मिथ्या मान्यता है! अन्त में सब छोड़ना पड़ेगा। दुकान सब सँभाल लेंगे। जिस पैसे के माह से तुम दुकान से चिपके हो, तुम्हारे पीछे आने वाले जो लोग दुकान पर बैठेंगे वे उसे जीत कर आगे नहीं आयेंगे, इसलिए तुम इसे छोड़ो ताकि तुम्हारी यह सम्यग्ज्ञान-कला वे सब भी सीख सकें। तुम निश्चिन्त बनो। मस्त रहो। तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि पैसे का मोह तुम्हें ही है, उन्हें भी है। याद रखो, मृत्यु के बाद ही सारा हिसाब-किताब एक-दो वर्षों में व्यवस्थित हो जाता है। दुकान की व्यवस्था पीछे वाले सँभाल लेते हैं, किन्तु यह बताओ दुर्गति में तुम्हें कौन सँभालेगा? हम यदि मोह में पागल बनकर, इन्द्रिय-सुख में उन्मत्त बनकर परिवार के लिए, धन जोड़ने के लिए दुनिया-भर का ग़लत ढंग अपने जीवन में जी कर यदि दुर्गति में चले गये तो वहाँ हमारा रक्षक कौन होगा? वहाँ हमारा संरक्षक कौन होगा? वहाँ कौन हमारी साल-सँभाल करेगा? पूछा मैंने उस व्यक्ति से जो पहरेदार बना खड़ा था। किले के नीचे जोधपुर में जब प्रवचन था तब कुछेक व्यक्तियों का सुझाव था कि महाराज, अपने पुराने रहन-सहन के

वातावरण को, राजा-महाराजाओं की व्यवस्था को देखने चलना चाहिये। मन पहले नहीं था; आग्रह से हो गया। चलने लगी तो मन फिर बदल गया। लगा, कहाँ आ गये? क्या मतलब है इस सबसे? फिर वापस बदला मन कि जब आ ही गये हैं तब इस समय का सदुपयोग करो; अब व्यर्थ की बातें क्यों सोचते हो?

हॉल में जाकर जब मैं खड़ी हुई तब देखा कि एक विशाल सभा-भवन है जिसका राजा जिस समय वहाँ बैठता होगा; तब कितना वैभव रहा होगा! बढ़िया कालीन है, बैठक की कुर्सी है, साफा है, शेरवानी है, तलवार है, सब कुछ है। जब ऊपर की ओर नज़र डाली तब एकदम पीला-ही-पीला रंग देखा। मैंने पहरेदार से पूछा—भैया, यह क्या है? महाराज, यह छत है। किससे बनी है? सोने से। पलस्तर सोने का है। कितना सोना लगा होगा। यही लगभग ८० किलो। इसे सोने का इसलिए बनाया गया कि यह उनके बैठने का खास कक्ष है; अतः उनके अनुरूप ही सोने-चाँदी की इस छत का निर्माण कराया गया।

वैभव बिखरा पड़ा था। सोना-चाँदी उस महल में कम न था। उसकी सुरक्षा के लिए पहरेदार भी खड़े थे। मैंने पूछा—पहरेदार भाई, तू मात्र इतना ही बता दे कि जिस सोने की छत का तू पहरा दे रहा है, इस छत के नीचे बैठने वाला राजा कहाँ है? उसकी सुरक्षा का क्या प्रबन्ध है? यह सब तो तुम सँभाल रहे हो, पर उसे कौन सँभाल रहा है? प्रहरी मुस्कुराने लगा। कहने लगा—महाराज, इस प्रश्न का उत्तर मेरे पास तो क्या संसार में किसी के पास नहीं है। सामान ही सँभाला जा सकता है। शरीर और परिवार, धन और धरती को ही सँभाला जा सकता है; किन्तु मनुष्य की आत्मा को तो स्वयं ही सँभालना होता है; क्योंकि जो जैसे भावों में जियेगा, उन/वैसे भावों से उसका अगला पड़ाव निर्धारित होगा।

—बालाघाट : 5 अगस्त, 1983

जड़-में-से पकड़ जड़

पाँच मिनिट का यह प्रयोग जो हमने प्रारम्भ किया है, इससे यह न सोचें कि मैं ध्यान करती हूँ, या आपको ध्यान कराती हूँ; मुझे ध्यान करना आता ही नहीं, तब फिर आपको कराने की वात ही कहाँ उठती है? कोई ग़लत प्रचार न हो, इसलिए सचाई हो वहीं तक प्रचार करना उचित है। पाँच मिनिट की यह जो क्रिया हमने चालू की है, उसका मात्र इतना ही लक्ष्य है कि व्यक्ति यहाँ नामालूम किन-किन प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर पहुँचता है; अतः सत्संग में वह अपने मन की विखरी हुई वृत्तियों को समेटने का प्रयत्न करे; दूसरी वात यह कि उसे इस वात का भी पता चले कि पाँच मिनिट का समय वास्तव में होता कितना है?

तीसरी बात यह कि हम अपने मन की चंचलता (धूमधाम) से परिचित हों कि पाँच मिनिट में वह कितनी वार इधर-से-उधर होता है। इस प्रयास में हमें मालूम होगा कि हमारा यह शरीर पाँच मिनिट भी स्थिर नहीं रह सकता अर्थात् काया की चंचलता हममें कितनी है? मात्र अपनी प्रकृति, या प्रवृत्ति से परिचित होने के लिए ही यह प्रयास किया गया है। शान्त वातावरण में मन कितना आनन्दित होता है, इसका भी यह एक अवसर है।

स्वाध्याय के क्षणों में पढ़ा—"रात्रि व्यतीत थई, द्रव्यनिद्रा टूटी, हवे भावनिद्रा तोड़वानो प्रयत्न करजो"। गृहस्थ-वेश में भी अपूर्व संत-साधक श्रीमद्‌राजचन्द्र किसी आत्मार्थी को पत्र लिखते हुए उस का प्रारंभ यहीं से कर रहे थे। पत्र प्रातःकाल लिखा गया होगा—"रात्रि व्यतीत थई, द्रव्यनिद्रा टूटी, हवे भावनिद्रा तोड़वानो प्रयत्न करजो"। इस वाक्य से वुद्धि का उपयोग सीखें। वुद्धि को काम में लें; उसी तरह जैसे मकान वनाने में, व्यापार करने में, किसी पदार्थ को खरीदने में, किसी पदार्थ को वेचने में, कहीं सगाई-सम्वन्ध निश्चित करने में, हम उसका उपयोग करते हैं। उस समय हम अपनी ज्ञान-शक्ति का भरपूर उपयोग करते हैं, तव क्या कुछ समय के लिए इस वुद्धि का उपयोग हम अपने आध्यात्मिक जागरण में नहीं कर सकते?

सत्संग में, सामूहिक स्वाध्याय में, महापुरुषों के जिन वचनों को सुनने हम बैठे हैं, उन शब्दों से ... नियों का आशय क्या है ? इन शब्दों के पीछे उनका भाव क्या है? क्या वे कहना चाहते हैं उनके द्वारा ? उन सारे भावों को समझने में क्या कभी हम अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं? घर-बार चलाने में, सत्ता और सम्पत्ति बटोरने में, रंग-रूप के मोह में, तो हमारी बुद्धि सदा समर्पित रहती है, वहाँ बुद्धि कम काम नहीं करती, वहाँ बुद्धि बहुत चलती है, किन्तु जहाँ उसका असली उपयोग है, वहाँ वह चूक जाती है। वहाँ बुद्धि का उपयोग कर हम संसार-परिभ्रमण में निमित्त बनते हैं, पाप का उपार्जन करते हैं, चतुराई और चालाकी से सच को झूठ करते हैं, सचाई को छुपाते हैं। इन कामों में बुद्धि का जो उपयोग है उसकी प्रशंसा संसार में भले ही कितनी हो; किन्तु "सत्य ही जिन्दगी-का-सार है": ऐसा विवेक जिसकी बुद्धि में समा गया है, उसकी दृष्टि में तो लौकिक बुद्धि सुबुद्धि नही है, दुर्बुद्धि है। दुर्बुद्धि इसलिए कि उसने जो असत्य है, उसे ही सत्य मान लिया है; जो नाशवान है, उसे ही अविनाशी मान लिया है; जो शरीर है, उसे ही आत्मा मान लिया है। आज हमारी बुद्धि का उपयोग पूरे समय मात्र जड़, और जड़ में ही हो रहा है; जैसे एक राजकुमार किसी वेश्या के घर में जम गया, बुद्धि को भी उसने वहीं जमा लिया, अपने शरीर को भी वहीं जमा दिया; खाना भी वहीं, पीना भी वहीं, सोना भी वहीं, बैठना भी वहीं, खेलना भी वहीं, बातें करना भी वहीं; मन वचन, काया तीनों योगों की प्रवृत्ति उसने पूरी तरह से उस वेश्या के चरणों में समर्पित कर दी है। वह उसी की सोचता है, उसी से बोलता है, उसी की मानता है। उसके अलावा सोचने का कोई विषय ही नहीं है उसके पास। दस-बारह वर्ष बाद जब राजा के एक मित्र ने आकर पूछा : "कहिये, आपका पुत्र कहाँ है, राजकुमार कहाँ है?" तब पिता ने कहा—"उसे तुम राजकुमार मत कहो? अब कहाँ है वह राजकुमार ? अब तो उसके वेश्या के घर में रहने से मैं नहीं मानता कि वह मेरा पुत्र है, वह तो वेश्या-पति है।" "राजकुमार" शब्द तो औपचारिक है, वास्तव में उसकी बुद्धि का उपयोग, उसका रहन-सहन, उसका सोचना-समझना, जो भी है उस दृष्टि से उसे अब "राजकुमार" कहने का कोई अर्थ नहीं रह गया है।" अनंतकाल से ऐसे ही यह जीवात्मा अपने आत्म-स्वभाव में, अपनी शक्ति का उपयोग न करते हुए मात्र जिस भव में जो शरीर मिला, जो परिवार मिला, उसी में तनमन से निमग्न है, सराबोर है। वह जितना भी सोचता है, जितना भी बोलता है, जितना भी समझता है, जितने भी कार्य करता है, २४ घंटों में से एक मिनिट भी

उसका ऐसा नहीं जाता कि जब उसका कार्यक्षेत्र "जड़" न हो; इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है: "जड़ में जड़-सा ही जीव रहा"।

जीव है, पर जीव को स्वयं अपनी ही आत्मशक्ति का भान नहीं है। वह जड़ में रह रहा है, इसलिए जड़-जैसा ही हो गया है। जड़-जैसा क्यों हो गया है ? इसलिए कि सिवाय जड़ के इसे और कोई दिखायी ही नहीं देता। परीक्षा भी करेगा तो जड़ की, प्रशंसा भी करेगा तो जड़ की, प्रसन्नता भी होगी तो जड़ से। यदि मनपसंद भोजन मिल गया तो मन प्रसन्नता का अनुभव करता है। भोजन की क्रिया से निवृत्त होकर हाथ मिलाता है और कहता है—मजा आ गया। आपने क्या भोजन कराया, आपने जो भोजन-व्यवस्था की है, उसकी जितनी भी प्रशंसा करूँ, उतनी कम ही है। भोजन क्या है, अमृत है। ऐसे ही यदि किसी ने वस्त्र दिया और ढाई तीन हज़ार का दे दिया तो देने वाले संबंधी से मिलने वाला सम्बन्धी कहता है कि ताज़िन्दगी कपड़े वहुत पहने, बहुत पहनूँगा पर आपने जो ड्रेस दी है, उसे कभी भूल नहीं सकूँगा।

ऐसे क्षणों में जो जिसका व्यापारी है, उस वस्तु की परीक्षा में वह अपनी वुद्धि का उपयोग करता है। कमाने में, खाने में, पहनने में, ओढ़ने में, सम्बन्ध निभाने में, जब आप अपने किसी मित्र के घर जाते हैं, और मित्र चार-पाँच शब्द आपके अनुकूल बोल देता है तो आपका मन उसी क्षण कहने लगता है कि ऐसे व्यक्ति से तो मित्रता अवश्य करनी चाहिए। स्वागत में आपको चाय की जगह वादाम-पिश्ते का दूध दे दिया, नाश्ते में कोई विशेष चीज दे दी, और कभी पुनः गये तो आतिथ्य में अत्यधिक उदारता का परिचय दे दिया तो मन में आया कि ऐसे व्यक्ति को तो छोड़ना ही नही चाहिये। ऐसे व्यक्ति का तो बराबर फायदा उठाना चाहिये। यह सारा चिन्तन जड़ की वुनियाद पर चल रहा है; भोजन है तो जड़ है, वस्त्र है तो जड़ है। सत्संग में जड़ की व्याख्या, जड़ का विश्लेषण अनेक बार हो चुका है। जो नये हैं, या आगन्तुक हैं, या जिनमें स्वभाव को जानने की रुचि नही है, उनकी वात अलग है।

वैसे हर पदार्थ का स्वभाव है; किन्तु स्वभाव को जानने का भाव उसमें नहीं है। हीरा है, हीरे का अपना स्वभाव है, उसका अपना चमकीलापन है। मक्खन है, मक्खन का अपना स्वभाव है, खाने वाले को शक्ति देना, कोमलता, चिकनापन उसका स्वभाव है। ऐसा ही सोना है। चाँदी है। उन सब के अपने-अपने स्वभाव हैं। मिश्री लें। मिठास उसका स्वभाव है। मिश्री कभी अपने स्वभाव को छोड़कर नहीं रह सकती। नमक का अपना

स्वभाव है। मिश्री का अपना स्वभाव है; किन्तु उसे जानने का भाव जड़ में नहीं है। मिश्री के स्वभाव की व्याख्या मिश्री कर दे असंभव है, मिश्री के स्वभाव की व्याख्या करने के लिए तो "चैतन्य चिदानन्द" की ही ज़रूरत पड़ेगी। आप कह सकते हैं कि जो चैतन्य है; वह अजर, अमर, अविचल, अविनाशी है। ऐसे उसके लक्षण हैं। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श से वह रहित है। उसका रूप नहीं है, रंग नहीं है; वह अरूपी है। अरूपी के वह व्यक्त कैसे करेगा भाषा-व्यवस्था वहाँ कैसे बनेगी? सही है। परमात्म स्वभाव, जिसे प्राप्त हो गया, वाणी की व्यवस्था वहाँ समाप्त हो गई; पर जब तक शरीर-संयोगी आत्मा है, तब तक तो मन, वचन, काय, योग की व्यवस्था है। कहने का प्रयोजन यह है कि शरीर-संयोगी आत्मा ही किसी पदार्थ के स्वभाव की अभिव्यक्ति कर सकती है। इस व्याख्येय को, जिसकी, व्याख्या की जानी है, हम जड़ कहते हैं। २४ घंटों में जीव जड़ के संयोग में, जड़ के सम्पर्क में, जड़ के चिन्तन में, जड़ के ही सुमरण में, जड़ की ही कल्पना में, डूबा रहता है। आप कहेंगे इससे उसका क्या सम्बन्ध है, वह तो चेतन है; उसे आपने जड़ कैसे कह दिया?

एक बेटा जो बाप के साथ व्यवहार कर रहा है, बाप जो बेटे के साथ कर्तव्य निभा रहा है; उसे आपने जड़ कैसे कह दिया? एक मित्र जो मित्र के साथ बातचीत कर रहा है, उसे आपने जड़ कैसे कह दिया? वह तो चेतन है; हाँ, है; पर हमने जो सम्बन्ध बनाया है, इन सम्बन्धों का जो आधार है, वह शाब्दिक है। आत्मिक दृष्टि से हमारा उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने जाना है, रंग के आधार पर, रूप के आधार पर, सत्ता के आधार पर, सम्पत्ति के आधार पर, या रक्त, या वंश परम्परा के आधार पर, या सम्बन्ध के आधार पर। उससे हमारा शारीरिक सम्बन्ध है। इसी के आधार पर हमने उस व्यक्ति से पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किये हैं; इसलिए ये सम्बन्ध भी जड़ ही ठहरते हैं।

ज्ञानी भगवन्त कहते हैं कि भावनिद्रा का त्याग करो। और भावनिद्रा के त्याग करने का अवसर केवल मनुष्य-जीवन में ही है। द्रव्यनिद्रा-निद्रा है, पर उस निद्रा का कोई महत्त्व नहीं है। द्रव्यनिद्रा तो सब जगह है। एक पक्षी, एक पशु भी रात्रि में विश्राम करता है। एक पक्षी, एक पशु भी रात्रि में पूरी तरह निद्रा के अधीन हो जाता है। प्रातःकाल उसकी निद्रा भी टूटती है। पर उस निद्रा के टूटने पर भी हमारी जो भावनिद्रा है, वह तो ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। भावनिद्रा क्या है? ज्ञानी भगवन्त कहते हैं–

"भावनिद्रा त्याग कर तू भाव में ही जाग जा ।
जग-फन्द छूटा तो जन्म-मरण भी तोड़ जा ।।

अवसर है, चान्स है, भावनिद्रा को त्यागने का। भावनिद्रा का त्याग तव होगा, जव देह में आत्मवुद्धि की भ्रान्ति टूटेगी। जव तक देह में आत्म-वुद्धि की भ्रान्ति नहीं टूटेगी, तव तक भावनिद्रा जड़ पदार्थों में, जड़ संयोगों में, इष्ट-वियोग में, अनित्य संयोग में, नहीं टूटेगी। यह सव मोह-की-मूर्च्छा है। यही मूर्च्छा भावनिद्रा है। जव तक यह मूर्च्छा नहीं टूटेगी, तव तक भावनिद्रा नहीं जाएगी।

इसी सन्दर्भ में हमारा नियमित प्रवचन चल रहा है कि आत्मकल्याण की पूरी-पूरी सम्भावना मनुष्य-जीवन में ही है; पर कव, जव आत्मकल्याण के योग्य भूमिका वने, यह भूमिका तैयार कव होगी ? जव सद्‌गुणों का विकास होगा। सद्‌गुणों का विकास कव होगा ? जव मैत्री, प्रमोद, माध्यस्थ्य, करुणा मन में जागेंगे।

द्रव्य-संयोगों से आत्मा को जो पीड़ा है, उससे जव तक हमारा मन परेशान नहीं होगा, जब तक उसके लिए कुछ करने के भाव हममें पैदा नहीं होंगे, तव तक उस अध्यात्म-भूमिका में पहुँचने के योग्य हम नहीं वन पायेंगे। सुयोग अलग वात है, और "सुयोग" में "सुयोग्य" होना अलग वात है। आज आपको, हमको, सवको सुयोग मिला है। यह सुयोग, एक सुन्दर योग है। सुयोग है, अच्छे-में-अच्छा योग है। चौरासी लाख योनियों में जहाँ अधिकांशत: आत्मतत्त्व को समझने की व्यवस्थां नहीं है, मनुष्य-जिन्दगी ही एक ऐसा योग है, जिसे संतों ने सुयोग कहा है। जहाँ स्व-पर का भेद-विज्ञान होता है, इसलिए सुयोग है, पर हम सुयोग्य कव होंगे ? जव हम सुयोग्य वनेंगे तव "सुयोग" काम आयेगा ? "सुयोग" एक दुर्लभ अवसर है। "सुयोग्य होना" वातावरण की अनुकूलता है। सुयोग हमारे पूर्व के कर्मों का परिचय है; किन्तु सुयोग्यता वर्तमान के विवेक पर निर्भर करती है। यदि वर्तमान में विवेक (हेय-उपादेय-वुद्धि) जागृत नहीं होगा, तो सुयोग मिलने पर भी हम "सुयोग्य" वन निकलें, यह विलकुल ज़रूरी नहीं है।

मेघकुमार से जो मेघमुनि वने और जिन्होंने आत्मकल्याण की उत्कृष्ट साधना में जीवन को पूर्णतया अर्पित कर दिया, इसके जीवन्त उदाहरण हैं। उनमें भावनिद्रा के टूटने से एक युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। यह अपूर्व परिवर्तन था, जिसका अनुभव उनके मन ने किया। कहाँ मखमल के गद्दे और कहाँ कँकरीली कठोर भूमि!! कहाँ एकान्त और शान्त वातावरण और कहाँ वरिष्ठ मुनियों की पंक्ति में सव में पीछे आने वाला

स्वभाव है। मिश्री का अपना स्वभाव है; किन्तु उसे जानने का भाव जड़ में नहीं है। मिश्री के स्वभाव की व्याख्या मिश्री कर दे असंभव है, मिश्री के स्वभाव की व्याख्या करने के लिए तो "चैतन्य चिदानन्द" की ही ज़रूरत पड़ेगी। आप कह सकते हैं कि जो चैतन्य है; वह अजर, अमर, अविचल, अविनाशी है। ऐसे उसके लक्षण हैं। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श से वह रहित है। उसका रूप नहीं है, रंग नहीं है; वह अरूपी है। अरूपी के वह व्यक्त कैसे करेगा। भाषा-व्यवस्था वहाँ कैसे बनेगी? सही है। परमात्म स्वभाव, जिसे प्राप्त हो गया, वाणी की व्यवस्था वहाँ समाप्त हो गई; पर जब तक शरीर-संयोगी आत्मा है, तब तक तो मन, वचन, काय, योग की व्यवस्था है। कहने का प्रयोजन यह है कि शरीर-संयोगी आत्मा ही किसी पदार्थ के स्वभाव की अभिव्यक्ति कर सकती है। इस व्याख्येय को, जिसकी, व्याख्या की जानी है, हम जड़ कहते हैं। २४ घंटों में जीव जड़ के संयोग में, जड़ के सम्पर्क में, जड़ के चिन्तन में, जड़ के ही सुमरण में, जड़ की ही कल्पना में, डूबा रहता है। आप कहेंगे इससे उसका क्या सम्बन्ध है, वह तो चेतन है; उसे आपने जड़ कैसे कह दिया?

एक बेटा जो बाप के साथ व्यवहार कर रहा है, बाप जो बेटे के साथ कर्तव्य निभा रहा है; उसे आपने जड़ कैसे कह दिया? एक मित्र जो मित्र के साथ बातचीत कर रहा है, उसे आपने जड़ कैसे कह दिया? वह तो चेतन है; हाँ, है; पर हमने जो सम्बन्ध बनाया है, इन सम्बन्धों का जो आधार है, वह शाब्दिक है। आत्मिक दृष्टि से हमारा उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने जाना है, रंग के आधार पर, रूप के आधार पर, सत्ता के आधार पर, सम्पत्ति के आधार पर, या रक्त, या वंश परम्परा के आधार पर, या सम्बन्ध के आधार पर। उससे हमारा शारीरिक सम्बन्ध है। इसी के आधार पर हमने उस व्यक्ति से पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित किये हैं; इसलिए ये सम्बन्ध भी जड़ ही ठहरते हैं।

ज्ञानी भगवन्त कहते हैं कि भावनिद्रा का त्याग करो। और भावनिद्रा के त्याग करने का अवसर केवल मनुष्य-जीवन में ही है। द्रव्यनिद्रा-निद्रा है, पर उस निद्रा का कोई महत्त्व नहीं है। द्रव्यनिद्रा तो सब जगह है। एक पक्षी, एक पशु भी रात्रि में विश्राम करता है। एक पक्षी, एक पशु भी रात्रि में पूरी तरह निद्रा के अधीन हो जाता है। प्रातःकाल उसकी निद्रा भी टूटती है। पर उस निद्रा के टूटने पर भी हमारी जो भावनिद्रा है, वह तो ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। भावनिद्रा क्या है? ज्ञानी भगवन्त कहते हैं–

धरती पर रखने लगे, वैसे ही तुमने देखा कि एक खरगोश प्राण-रक्षा के लिए वहाँ आ बैठा है। उसकी करुणा दृष्टि तुम्हारे दिमाग में समा गयी। तुम विचार करने लगे कि यदि मेरा यह पाँव इस पर पड़ गया, तो इसके प्राणों का अन्त हो जाएगा। "आत्मा मरती नहीं है?" यह सत्य है; किन्तु शरीर के इस तरह वियुक्त होने का नाम ही मृत्यु है। हिंसा क्या है? तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार–"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा (७-८)– प्रमत्त योग से होने वाला प्राणवध हिंसा है।

अर्थात् किसी भी प्राणी को उसके प्राणों से वियुक्त करना हिंसा है। व्यवहार में इसे ही मृत्यु कहते हैं। भगवान् महावीर कहते गये – इस तरह हाथी के भव में तुम्हें करुणा आ गई, दया आ गई, उस खरगोश के प्रति तुम्हारे मन में ऐसे भाव आ गये कि यदि मेरा पाँव इस पर पड़ गया तो इसके प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे; इसके प्राण निकल जाएँगे। माना, मुझे अपने पाँव को आराम देना है, किन्तु इसके प्राणों का वह अंत है। इसके प्राणों को बचाना मेरा कर्तव्य है। उसे बचाने के लिए तुमने हाथी के भव में पाँव नहीं रखा। पाँव उठा-का-उठा रखा। कितने समय तक? पूरे ढाई दिन तक ढाई दिन तक पाँव नीचे नहीं रखा!!! इस दया, इस अनुकम्पा का महत्त्व कम नहीं है। स्वयं दुःख झेलकर दूसरों को सुख पहुँचाना बहुत बड़ी बात है।

स्वयं सुख लेते हुए दूसरों को सुख देना भी अच्छी बात है; किन्तु वे लोग तो बहुत निम्न स्तर के हैं, जो अपना सुख बटोरने के लिए दूसरों के सुख छीनते हैं; स्वयं सुख पाने के लिए किसी अन्य को दुःख में धकेल देते हैं। वे आकृति के मनुष्य हैं, मूल में मनुष्य नहीं है। प्रकृति से तो उनमें कहीं-न-कहीं राक्षसी वृत्ति ही है। वे निम्न स्तर के आदमी हैं, वे क्षुद्र हृदय के जीव हैं, जो स्वयं के सुख के लिए दूसरों को सुख से वंचित करते हैं और उन्हें दुःख में धकेलते हैं। स्वयं सुख भोगते हुए दूसरों को सुख देना यह भी अच्छी बात है परन्तु महान् हैं वे जो स्वयं कष्ट सहकर, स्वयं तकलीफ उठाकर, स्वयं पीड़ा झेलकर दूसरों को सुख देते हैं।

भगवान् महावीर कह रहे हैं – मेघमुनि, तुमने तिर्यञ्च गति में प्राणि-दया के भाव से कितना कष्ट सहन किया और कितने समय तक सहन किया; यहाँ तक कि सहन करते-करते तुम्हारा पाँव ही अकड़ गया और मृत्यु का योग भी बन गया; किन्तु दूसरों के प्राणों को बचाने की भावना ने तुम्हें मनुष्य-जिन्दगी का सुयोग दिया; तुम्हें राजकुमार होने का अवसर दिया।

उनका क्रम !! रात्रि के बारह-एक बजे हैं। निद्रा नहीं आ रही है। कोई कायोत्सर्ग के लिए बैठा है, कोई ध्यान में खड़ा है; सब साधनोन्मुख हैं।

कोई मुनि कायोत्सर्ग के लिए, कोई ध्यान के लिए, कोई जप के लिए, कोई तत्त्व-चिन्तन के लिए उपस्थित है। कई बैठने से पहले, खड़े होने से पहले, कई अपरिहार्य आवश्यकता से किंचित् इधर-से. उधर हो रहे हैं। इसी तरह मेघमुनि किसी के पाँव की आहट से चौंक पड़ते हैं। किसी का पाँव उन्हें छू जाता है। उनके मन में भाव आ गया कि जब प्रथम रात्रि ही इतनी परेशानी में बीत रही है, तब पूरी जिन्दगी कैसे बीतेगी ?

सोचने लगे इतना कष्ट सहन करना मेरे वश की बात नहीं है। यही सोचते-सोचते वे प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच गये। उन सर्वज्ञ देवाधिदेव के चरणों में जिनका ज्ञान गुण सर्वथा निर्मल था, जिनके ज्ञान में प्रत्येक आत्मा अपनी सहज स्थिति में मालूम होती थी। मेघमुनि जैसे ही पहुँचे और उनके चरणों मे वन्दना के लिए झुके, वैसे ही प्रभु परमात्मा कहने लगे "मेघ" क्या आज रात तुम परेशान रहे ? मेघमुनि कुछ कहें इसके पहले उन्होंने स्वयं कह दिया कि आज रात तुम्हें नींद नहीं आई। क्या इस प्रकार के कष्ट सहने से मन घबरा गया है ? आह ! आत्मकल्याण के लिए, आत्मोत्थान के लिए, भावनिद्रा का त्याग करने के लिए, जन्म-मरण की जंजीर काटने के लिए आत्म-साधना के एक सामान्य से कष्ट में तुम अपने मन को नहीं सँभाल पाये ? याद करो, अपने अतीत को याद करो। मनुष्य नहीं, तुम कभी पशु की ज़िन्दगी में थे । एक हाथी के रूप में तुम्हारी आत्मा जीवन व्यतीत कर रही थी। आज तुम्हें मनुष्य-शरीर मिला है; किन्तु तीन भव तुम्हें हाथी का शरीर मिला था। जब जंगल में आग लगी, जब दावानल दहक उठा, और तुम अपने ही स्थान पर अविचल खड़े रहे। आग के भड़कने पर वन में विचरने वाले पशु-पक्षी तड़फड़ाने लगे। कई समाप्त हो गये। कई भाग गये। कई भागने वालों में से प्राण-रक्षा की भावना से तुम्हारे मण्डप में आ गये। इनमें एक खरगोश भी था। वह वहाँ पहुँच गया, जहाँ तुम खड़े थे । संयोग कि जैसे ही तुमने कान खुजलाने के लिए (यहाँ भगवान् महावीर मेघमुनि को प्रेरणा देने के लिए उन्हीं के अतीत जीवन की उन्हें याद दिला रहे हैं) अपना पाँव ऊँचा किया, वैसे ही अग्नि से भयभीत वह खरगोश उस उठे हुए पाँव के नीचे आकर बैठ गया। एक मात्र वही जगह थी। इससे अधिक जगह इधर-उधर थी नहीं। पहले ही बहुत से पशु इकट्ठा हो गये थे। मात्र उतनी ही जगह शेष थी। कौन-सी ? जहाँ तुमने पाँव ऊपर किया था, उससे खाली हुई जगह। खरगोश वहाँ आकर बैठ गया; किन्तु जैसे ही कान खुजलाने के बाद तुम अपना पाँव

धरती पर रखने लगे, वैसे ही तुमने देखा कि एक खरगोश प्राण-रक्षा के लिए वहाँ आ बैठा है। उसकी करुणा दृष्टि तुम्हारे दिमाग में समा गयी। तुम विचार करने लगे कि यदि मेरा यह पाँव इस पर पड़ गया, तो इसके प्राणों का अन्त हो जाएगा। "आत्मा मरती नहीं है?" यह सत्य है; किन्तु शरीर के इस तरह वियुक्त होने का नाम ही मृत्यु है। हिंसा क्या है? तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार-"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा (७-८)- प्रमत्त योग से होने वाला प्राणवध हिंसा है।

अर्थात् किसी भी प्राणी को उसके प्राणों से वियुक्त करना हिंसा है। व्यवहार में इसे ही मृत्यु कहते हैं। भगवान् महावीर कहते गये – इस तरह हाथी के भव में तुम्हें करुणा आ गई, दया आ गई, उस खरगोश के प्रति तुम्हारे मन में ऐसे भाव आ गये कि यदि मेरा पाँव इस पर पड़ गया तो इसके प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे; इसके प्राण निकल जाएँगे। माना, मुझे अपने पाँव को आराम देना है, किन्तु इसके प्राणों का वह अंत है। इसके प्राणों को बचाना मेरा कर्तव्य है। उसे बचाने के लिए तुमने हाथी के भव में पाँव नहीं रखा। पाँव उठा-का-उठा रखा। कितने समय तक? पूरे ढाई दिन तक ढाई दिन तक पाँव नीचे नहीं रखा!!! इस दया, इस अनुकम्पा का महत्त्व कम नहीं है। स्वयं दुःख झेलकर दूसरों को सुख पहुँचाना बहुत बड़ी बात है।

स्वयं सुख लेते हुए दूसरों को सुख देना भी अच्छी बात है; किन्तु वे लोग तो बहुत निम्न स्तर के हैं, जो अपना सुख बटोरने के लिए दूसरों के सुख छीनते हैं; स्वयं सुख पाने के लिए किसी अन्य को दुःख में धकेल देते हैं। वे आकृति के मनुष्य हैं, मूल में मनुष्य नहीं है। प्रकृति से तो उनमें कहीं-न-कहीं राक्षसी वृत्ति ही है। वे निम्न स्तर के आदमी हैं, वे शूद्र हृदय के जीव हैं, जो स्वयं के सुख के लिए दूसरों को सुख से वंचित करते हैं और उन्हें दुःख में धकेलते हैं। स्वयं सुख भोगते हुए दूसरों को सुख देना यह भी अच्छी बात है परन्तु महान् हैं वे जो स्वयं कष्ट सहकर, स्वयं तकलीफ उठाकर, स्वयं पीड़ा झेलकर दूसरों को सुख देते हैं।

भगवान् महावीर कह रहे हैं – मेघमुनि, तुमने तिर्यञ्च गति में प्राणि-दया के भाव से कितना कष्ट सहन किया और कितने समय तक सहन किया; यहाँ तक कि सहन करते-करते तुम्हारा पाँव ही अकड़ गया और मृत्यु का योग भी बन गया; किन्तु दूसरों के प्राणों को बचाने की भावना ने तुम्हें मनुष्य-ज़िन्दगी का सुयोग दिया; तुम्हें राजकुमार होने का अवसर दिया।

उनका क्रम ! ! रात्रि के बारह-एक बजे हैं। निद्रा नहीं आ रही है। कोई कायोत्सर्ग के लिए बैठा है, कोई ध्यान में खड़ा है; सब साधनोन्मुख हैं।

कोई मुनि कायोत्सर्ग के लिए, कोई ध्यान के लिए, कोई जप के लिए, कोई तत्त्व-चिन्तन के लिए उपस्थित है। कई बैठने से पहले, खड़े होने से पहले, कई अपरिहार्य आवश्यकता से किंचित् इधर-से. उधर हो रहे हैं। इसी तरह मेघमुनि किसी के पाँव की आहट से चौंक पड़ते हैं। किसी का पाँव उन्हें छू जाता है। उनके मन में भाव आ गया कि जब प्रथम रात्रि ही इतनी परेशानी में बीत रही है, तब पूरी जिन्दगी कैसे बीतेगी ?

सोचने लगे इतना कष्ट सहन करना मेरे वश की बात नहीं है। यही सोचते-सोचते वे प्रभु महावीर के चरणो में पहुँच गये। उन सर्वज्ञ देवाधिदेव के चरणों में जिनका ज्ञान गुण सर्वथा निर्मल था, जिनके ज्ञान में प्रत्येक आत्मा अपनी सहज स्थिति में मालूम होती थी। मेघमुनि जैसे ही पहुँचे और उनके चरणों में वन्दना के लिए झुके, वैसे ही प्रभु परमात्मा कहने लगे "मेघ" क्या आज रात तुम परेशान रहे ? मेघमुनि कुछ कहें इसके पहले उन्होंने स्वयं कह दिया कि आज रात तुम्हें नींद नहीं आई। क्या इस प्रकार के कष्ट सहने से मन घबरा गया है ? आह ! आत्मकल्याण के लिए, आत्मोत्थान के लिए, भावनिद्रा का त्याग करने के लिए, जन्म-मरण की जंजीर काटने के लिए आत्म-साधना के एक सामान्य से कष्ट में तुम अपने मन को नहीं सँभाल पाये ? याद करो, अपने अतीत को याद करो। मनुष्य नहीं, तुम कभी पशु की ज़िन्दगी में थे। एक हाथी के रूप में तुम्हारी आत्मा जीवन व्यतीत कर रही थी। आज तुम्हें मनुष्य-शरीर मिला है; किन्तु तीन भव तुम्हें हाथी का शरीर मिला था। जब जंगल में आग लगी, जब दावानल दहक उठा, और तुम अपने ही स्थान पर अविचल खड़े रहे। आग के भड़कने पर वन में विचरने वाले पशु-पक्षी तड़फड़ाने लगे। कई समाप्त हो गये। कई भाग गये। कई भागने वालों में से प्राण-रक्षा की भावना से तुम्हारे मण्डप में आ गये। इनमें एक खरगोश भी था। वह वहाँ पहुँच गया, जहाँ तुम खड़े थे। संयोग कि जैसे ही तुमने कान खुजलाने के लिए (यहाँ भगवान् महावीर मेघमुनि को प्रेरणा देने के लिए उन्हीं के अतीत जीवन की उन्हें याद दिला रहे हैं) अपना पाँव ऊँचा किया, वैसे ही अग्नि से भयभीत वह खरगोश उस उठे हुए पाँव के नीचे आकर बैठ गया। एक मात्र वही जगह थी। इससे अधिक जगह इधर-उधर थी नहीं। पहले ही बहुत से पशु इकट्ठा हो गये थे। मात्र उतनी ही जगह शेष थी। कौन-सी ? जहाँ तुमने पाँव ऊपर किया था, उससे खाली हुई जगह। खरगोश वहाँ आकर बैठ गया; किन्तु जैसे ही कान खुजलाने के बाद तुम अपना पाँव

धरती पर रखने लगे, वैसे ही तुमने देखा कि एक खरगोश प्राण-रक्षा के लिए वहाँ आ बैठा है। उसकी करुणा दृष्टि तुम्हारे दिमाग में समा गयी। तुम विचार करने लगे कि यदि मेरा यह पाँव इस पर पड़ गया, तो इसके प्राणों का अन्त हो जाएगा। "आत्मा मरती नहीं है?" यह सत्य है; किन्तु शरीर के इस तरह वियुक्त होने का नाम ही मृत्यु है। हिंसा क्या है? तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार–"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा (७-८)– प्रमत्त योग से होने वाला प्राणवध हिंसा है।

अर्थात् किसी भी प्राणी को उसके प्राणों से वियुक्त करना हिंसा है। व्यवहार में इसे ही मृत्यु कहते हैं। भगवान् महावीर कहते गये – इस तरह हाथी के भव में तुम्हें करुणा आ गई, दया आ गई, उस खरगोश के प्रति तुम्हारे मन में ऐसे भाव आ गये कि यदि मेरा पाँव इस पर पड़ गया तो इसके प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे; इसके प्राण निकल जाएँगे। माना, मुझे अपने पाँव को आराम देना है, किन्तु इसके प्राणों का वह अंत है। इसके प्राणों को बचाना मेरा कर्तव्य है। उसे बचाने के लिए तुमने हाथी के भव में पाँव नहीं रखा। पाँव उठा-का-उठा रखा। कितने समय तक? पूरे ढाई दिन तक ढाई दिन तक पाँव नीचे नहीं रखा!!! इस दया, इस अनुकम्पा का महत्त्व कम नहीं है। स्वयं दुःख झेलकर दूसरों को सुख पहुँचाना बहुत बड़ी बात है।

स्वयं सुख लेते हुए दूसरों को सुख देना भी अच्छी बात है; किन्तु वे लोग तो बहुत निम्न स्तर के हैं, जो अपना सुख बटोरने के लिए दूसरों के सुख छीनते हैं; स्वयं सुख पाने के लिए किसी अन्य को दुःख में धकेल देते हैं। वे आकृति के मनुष्य हैं, मूल में मनुष्य नहीं है। प्रकृति से तो उनमें कहीं-न-कहीं राक्षसी वृत्ति ही है। वे निम्न स्तर के आदमी हैं, वे शूद्र हृदय के जीव हैं, जो स्वयं के सुख के लिए दूसरों को सुख से वंचित करते हैं और उन्हें दुःख में धकेलते हैं। स्वयं सुख भोगते हुए दूसरों को सुख देना यह भी अच्छी बात है परन्तु महान् हैं वे जो स्वयं कष्ट सहकर, स्वयं तकलीफ उठाकर, स्वयं पीड़ा झेलकर दूसरों को सुख देते हैं।

भगवान् महावीर कह रहे हैं – मेघमुनि, तुमने तिर्यञ्च गति में प्राणि-दया के भाव से कितना कष्ट सहन किया और कितने समय तक सहन किया; यहाँ तक कि सहन करते-करते तुम्हारा पाँव ही अकड़ गया और मृत्यु का योग भी बन गया; किन्तु दूसरों के प्राणों को बचाने की भावना ने तुम्हें मनुष्य-जिन्दगी का सुयोग दिया; तुम्हें राजकुमार होने का अवसर दिया।

उनका क्रम ! ! रात्रि के बारह-एक बजे हैं। निद्रा नहीं आ रही है। कोई कायोत्सर्ग के लिए बैठा है, कोई ध्यान में खड़ा है; सब साधनोन्मुख हैं।

कोई मुनि कायोत्सर्ग के लिए, कोई ध्यान के लिए, कोई जप के लिए, कोई तत्त्व-चिन्तन के लिए उपस्थित है। कई बैठने से पहले, खड़े होने से पहले, कई अपरिहार्य आवश्यकता से किंचित् इधर-से- उधर हो रहे हैं। इसी तरह मेघमुनि किसी के पाँव की आहट से चौंक पड़ते हैं। किसी का पाँव उन्हें छू जाता है। उनके मन में भाव आ गया कि जब प्रथम रात्रि ही इतनी परेशानी में बीत रही है, तब पूरी जिन्दगी कैसे बीतेगी ?

सोचने लगे इतना कष्ट सहन करना मेरे वश की बात नहीं है। यही सोचते-सोचते वे प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच गये। उन सर्वज्ञ देवाधिदेव के चरणों में जिनका ज्ञान गुण सर्वथा निर्मल था, जिनके ज्ञान में प्रत्येक आत्मा अपनी सहज स्थिति में मालूम होती थी। मेघमुनि जैसे ही पहुँचे और उनके चरणों में वन्दना के लिए झुके, वैसे ही प्रभु परमात्मा कहने लगे "मेघ" क्या आज रात तुम परेशान रहे ? मेघमुनि कुछ कहें इसके पहले उन्होंने स्वयं कह दिया कि आज रात तुम्हें नींद नहीं आई। क्या इस प्रकार के कष्ट सहने से मन घबरा गया है ? आह ! आत्मकल्याण के लिए, आत्मोत्थान के लिए, भावनिद्रा का त्याग करने के लिए, जन्म-मरण की जंजीर काटने के लिए आत्म-साधना के एक सामान्य से कष्ट में तुम अपने मन को नहीं सँभाल पाये ? याद करो, अपने अतीत को याद करो। मनुष्य नहीं, तुम कभी पशु की ज़िन्दगी में थे। एक हाथी के रूप में तुम्हारी आत्मा जीवन व्यतीत कर रही थी। आज तुम्हें मनुष्य-शरीर मिला है; किन्तु तीन भव तुम्हें हाथी का शरीर मिला था। जब जंगल में आग लगी, जब दावानल दहक उठा, और तुम अपने ही स्थान पर अविचल खड़े रहे। आग के भड़कने पर वन में विचरने वाले पशु-पक्षी तड़फड़ाने लगे। कई समाप्त हो गये। कई भाग गये। कई भागने वालों में से प्राण-रक्षा की भावना से तुम्हारे मण्डप में आ गये। इनमें एक खरगोश भी था। वह वहाँ पहुँच गया, जहाँ तुम खड़े थे। संयोग कि जैसे ही तुमने कान खुजलाने के लिए (यहाँ भगवान् महावीर मेघमुनि को प्रेरणा देने के लिए उन्हीं के अतीत जीवन की उन्हें याद दिला रहे हैं) अपना पाँव ऊँचा किया, वैसे ही अग्नि से भयभीत वह खरगोश उस उठे हुए पाँव के नीचे आकर बैठ गया। एक मात्र वही जगह थी। इससे अधिक जगह इधर-उधर थी नहीं। पहले ही बहुत से पशु इकट्ठा हो गये थे। मात्र उतनी ही जगह शेष थी। कौन-सी ? जहाँ तुमने पाँव ऊपर किया था, उससे खाली हुई जगह। खरगोश वहाँ आकर बैठ गया; किन्तु जैसे ही कान खुजलाने के बाद तुम अपना पाँव

धरती पर रखने लगे, वैसे ही तुमने देखा कि एक खरगोश प्राण-रक्षा के लिए वहाँ आ बैठा है। उसकी करुणा दृष्टि तुम्हारे दिमाग में समा गयी। तुम विचार करने लगे कि यदि मेरा यह पाँव इस पर पड़ गया, तो इसके प्राणों का अन्त हो जाएगा। "आत्मा मरती नहीं है?" यह सत्य है; किन्तु शरीर के इस तरह वियुक्त होने का नाम ही मृत्यु है। हिंसा क्या है? तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार–"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा (७-८)– प्रमत्त योग से होने वाला प्राणवध हिंसा है।

अर्थात् किसी भी प्राणी को उसके प्राणों से वियुक्त करना हिंसा है। व्यवहार में इसे ही मृत्यु कहते हैं। भगवान् महावीर कहते गये – इस तरह हाथी के भव में तुम्हें करुणा आ गई, दया आ गई, उस खरगोश के प्रति तुम्हारे मन में ऐसे भाव आ गये कि यदि मेरा पाँव इस पर पड़ गया तो इसके प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे; इसके प्राण निकल जाएँगे। माना, मुझे अपने पाँव को आराम देना है, किन्तु इसके प्राणों का वह अंत है। इसके प्राणों को बचाना मेरा कर्त्तव्य है। उसे बचाने के लिए तुमने हाथी के भव में पाँव नहीं रखा। पाँव उठा-का-उठा रखा। कितने समय तक? पूरे ढाई दिन तक ढाई दिन तक पाँव नीचे नहीं रखा!!! इस दया, इस अनुकम्पा का महत्त्व कम नहीं है। स्वयं दुःख झेलकर दूसरों को सुख पहुँचाना बहुत बड़ी बात है।

स्वयं सुख लेते हुए दूसरों को सुख देना भी अच्छी बात है; किन्तु वे लोग तो बहुत निम्न स्तर के हैं, जो अपना सुख बटोरने के लिए दूसरों के सुख छीनते हैं; स्वयं सुख पाने के लिए किसी अन्य को दुःख में धकेल देते हैं। वे आकृति के मनुष्य हैं, मूल में मनुष्य नहीं है। प्रकृति से तो उनमें कहीं-न-कहीं राक्षसी वृत्ति ही है। वे निम्न स्तर के आदमी हैं, वे शूद्र हृदय के जीव हैं, जो स्वयं के सुख के लिए दूसरों को सुख से वंचित करते हैं और उन्हें दुःख में धकेलते हैं। स्वयं सुख भोगते हुए दूसरों को सुख देना यह भी अच्छी बात है परन्तु महान् हैं वे जो स्वयं कष्ट सहकर, स्वयं तकलीफ उठाकर, स्वयं पीड़ा झेलकर दूसरों को सुख देते हैं।

भगवान् महावीर कह रहे हैं – मेघमुनि, तुमने तिर्यञ्च गति में प्राणि-दया के भाव से कितना कष्ट सहन किया और कितने समय तक सहन किया; यहाँ तक कि सहन करते-करते तुम्हारा पाँव ही अकड़ गया और मृत्यु का योग भी बन गया; किन्तु दूसरों के प्राणों को बचाने की भावना ने तुम्हें मनुष्य-ज़िन्दगी का सुयोग दिया; तुम्हें राजकुमार होने का अवसर दिया।

वहाँ तो तुम्हारा विवेक जागृत रहा, और यहाँ तुम अपना विवेक खो रहे हो !! आज तुम पाँवों की इतनी-सी आहट से, या किसी के पाँव के स्पर्श से इतने बेचैन हो उठे हो !!! तुम्हें इतनी परेशानी हो गयी। विचार करो कि तिर्यंच गति में तुमने जब अपने कर्मों का फल भोगा होगा, वज़न ढोया होगा, और निद्रा लेने के समय निद्रा का त्याग करना पड़ा होगा.....।

निद्रा लेने के समय चलना और चलने के साथ-साथ वज़न ढोना, और वज़न ढोने के साथ ऊपर से मार खाना। कुत्ते की ज़िन्दगी में इस जीव ने कितनी भूख सहन की है, कितना कुछ सहन किया है? है कोई हिसाब? पशु-जगत्, पक्षी-जगत् हमारी आँखों के सामने है। इस सबके लिए शास्त्रों के प्रमाण की ज़रूरत नहीं हैं। कितने जीव ऐसे हैं जो वर्षा में भीगते हैं और असह्य पीड़ा सहन करते हैं; कितने प्राणी ऐसे हैं जो गर्मी में तड़-फड़ाते हैं, जिनका शरीर सूख जाता है, किन्तु जिन्हें कहीं चारा नहीं मिल पाता; नहीं मिलता।

भगवान् महावीर कहते हैं अनन्त काल तक अज्ञान के परिणाम-स्वरूप भावनिद्रा के कारण तुमने जो कष्ट सहन किये हैं, उनकी यदि तुम कल्पना करो तो वे सारे कष्ट सिन्धु हैं और मनुष्य-ज़िन्दगी में आत्मकल्याण के लिए यम, नियम, संयम के आधार पर जो कष्ट सहन करने का संकल्प तुमने किया है, यह तो उस महान् सिंधु में एक लघु बिन्दु है और फिर इसमें सद्गुरु की वाणी का अनुसरण है, परमात्मा की आज्ञा का पालन है, भला जीवन का इससे अधिक आनन्द और क्या हो सकता है ?

उद्बोधन के इन क्षणों में मेघमुनि की भावनिद्रा टूट गई। प्रभु पर-मात्मा के याद दिलाने पर उन्हें स्मृति आ गई। अतीत स्मृति का विषय बन गया। उसी क्षण उनके भावों में इतना परिवर्तन हुआ कि, मन की सारी शिथिलताएँ धुल गयीं। मन को विचलित करने वाले थोड़े-बहुत जो भी विचार आये, मेघमुनि ने प्रभु परमात्मा के चरणों में उनकी आलोचना की। उनके लिए पश्चात्ताप किया, और दृढ़ संकल्प किया कि हे प्रभो! आजीवन इस पूरे शरीर के किसी भी अंग में, किसी भी प्रकार से कोई भी वेदना हो, कोई भी उपसर्ग हो, कोई भी परीषह हो, मैं अपने मन के संतुलन को जाने नहीं दूंगा। भावचक्षुओं के अतिरिक्त पूरे शरीर के मोह का मैं त्याग करता हूँ, किया भी था, इसी प्रकार किया था। अब भावनिद्रा टूट गयी है, अज्ञान का अन्त हुआ है, भाव में जागृति आयी है, देह में आत्मबुद्धि की भ्रान्ति टूट गयी है। उक्त उदाहरण चिरपरिचित है, किन्तु हम उसे भूल रहे हैं।

आज अवसर है कि हम इसके मर्म को समझें और अपनी भावनिद्रा को क्रमशः भंग करें।

भगवान् महावीर उस जंगल में पहुँच गये जिसमें जाने के लिए हर व्यक्ति काँपता था। जिसमें नही जाने के लिए कई लोगों ने रास्ते बदल दिये थे; अपनी आजीविका का साधन होते हुए भी उस जगह, उस जंगल का मोह उन्होने छोड़ दिया था। उस जंगल से गुज़रने में प्राणों का खतरा था। एक विषैला सर्प, क्रोध की ज्वाला छोड़ने वाला चण्डकौशिक सर्प वहाँ रात-दिन फुफकारता रहता था। पहुँच गये भगवान् महावीर वहाँ। कइयों ने कहा: प्रभो! मत जाओ, मत जाओ। वहाँ; आप-जैसे त्यागी-तपस्वी संत उस जंगल में यदि चले गये तो भले ही आपको अपने प्राणों का मोह न हो; किन्तु प्रभु आपकी इस वीतराग मुद्रा के दर्शन फिर हमें नहीं मिल पायेंगे। आप जाएँ इतनी ही देर है, वहाँ तो निश्चित ही आपको काल का कवल बनना ही पड़ेगा; किन्तु वहाँ जीवन और मरण का प्रश्न कहाँ था; वहाँ जीने की कामना और मरने की खेद-खिन्नता कहाँ थी, वहाँ तो आत्म स्वभाव में परिपूर्ण लीनता थी; अतः वे किसी की सुने विना वहाँ पहुँच गये। अनुकम्पा से पहुँचे गये। दया से पहुँच गये, और खड़े हो गये अभीत चण्ड-कौशिक के सम्मुख। ज़हरीले नाग ने अपने स्वभाव का परिचय दिया, उसने जैसे ही विषदंश किया वैसे ही भगवान् महावीर ने उसे वात्सल्य से अभिषिक्त कर दिया और कहा—"वुज्झ, वुज्झ"! (चण्डकौशिक वोधि को प्राप्त कर)।

भावनिद्रा को त्यागने की वात थी। प्रभु ने कहा—तुम्हें नहीं पता इस क्रोध के कारण तुम्हारी कितनी दुर्गति हुई है। इसने ही तुम्हें तिर्यञ्च गति में धकेला है। तुम्हारे दुर्भाव ही तुम्हारे दुश्मन वने हैं। तुम्हारे भावों से ही तुमने मनुष्य-ज़िंदगी से हाथ धोकर सर्प की इस जिंदगी को पाया है। तुम्हें नहीं पता कि तुम कभी एक महान् तपस्वी थे जिसने एक नहीं, अनेक मास-क्षमण किये थे; किन्तु आत्मज्ञान के विना तुम्हारा तप व्यर्थ गया। तुम्हें उसका अजीर्ण हो गया। तुम्हारा क्रोध भड़क उठा। क्रोध वढ़ गया। शास्त्रों में कहा गया है कि आत्मज्ञान के बिना यदि व्यक्ति को अत्यधिक ज्ञान मिल जाए तो उसका अजीर्ण "अहम्" होता है, इसी तरह तप का अजीर्ण क्रोध होता है। यदि कोई स्वयं विशेष रूप से त्यागी-तपस्वी है, अच्छी क्रिया करता है और दूसरों के प्रति उसके मन में तिरस्कार के भाव आते हैं तो उसकी यह क्रिया तप का अजीर्ण है।

ज्ञान का भी अजीर्ण होता है, तप का भी, क्रिया का भी। मद क्या हैं? सव अजीर्ण हैं। भगवान् ने कहा—तुम्हें नहीं पता इस क्रोध के कारण

तुम्हारी क्या दुर्गति हुई है? मैं आया हूँ, इसीलिए आया हूँ कि तुम इस क्रोध का त्याग कर दो। क्रोध तुम्हारा स्वभाव नहीं है, क्रोध विभाव है। यह संयोगी परिणाम है। यह विकारी भाव है। तुम अपने भाव से परिचित बनो। तुम्हारी अनन्त काल की जन्म-मरण की शृंखल टूट जाएगी। भगवान् की उस अपूर्व वाणी, उस शान्ति-मुद्रा, उस सौम्य भाव ने चण्डकौशिक का जीवन ही बदल दिया। वह कुछ-का-कुछ हो गाया।

प्रवचन में किसी दिन मैंने कहा था कि जिसके विषय-कषाय के परिणाम जितने मंद हो जाएँगे, जिसका क्रोध भाव जितना ज्यादा चला जाएगा उस व्यक्ति की आकृति में सहज सौम्यता होगी, सहज प्रसन्नता होगी और वह प्रसन्नता अपने-आप में अपूर्व होगी, अनुपम होगी। यह प्रसन्नता किसी भौतिक सुख की बुनियाद पर खड़ी नहीं होगी; यह होगी तब जब आत्मा की सहज योग्यता होगी, सहज सौम्यता को आप पायेंगें। आप देखेंगे कि जो साधक त्यागी, तपस्वी, संत भावनात्मक स्तर पर साधना में लग गये हैं, उनकी आकृति भी उनकी प्रकृति का बहुत कुछ परिचय दे देती है; किन्तु हमें समझने की क्षमता हो, हमारी गफलाने की स्थिति न हो, धोखा खाने की बुद्धि हममें न हो, कृत्रिमता और वास्तविकता में भेद करने की क्षमता हममें हो तो ही उसका लाभ मिल सकता है। जहाँ क्रोध भाव अत्यन्त मंद हो जाएगा, विष-वासना अत्यन्त मंद हो जाएगी, हमारे ज्ञानी भगवंतों ने तो यहाँ तक कहा कि भीतर के भावों की दुर्गन्ध जितनी कम होगी, पसीने तथा मल-मूत्र की दुर्गन्ध भी कम हो जाएगी। जिसके भावों की दुर्गन्ध कम हो जाएगी, उसके चतुर्दिक् वायुमण्डल पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा। आपने सुना होगा कि ऐसा पूर्ण ब्रह्मचारी, जिसने मन, वचन, काय के योग से, पूरे आत्म-भावों से पाँचों इन्द्रियों के विषयों में विचरण नहीं किया है, वह ब्रह्मज्ञानी, जो द्रव्य-भाव पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है, किसी स्थान पर छह मास यदि रह ले, साधना कर ले, तो उस स्थान पर विषय-विकारी मन भी यदि जाकर दम्पत्तिरूप में रहेगा तो भी उसके मन में विकार के परमाणु उछल-कूद नहीं करेंगे। वातावरण का ऐसा प्रभाव होता है। चण्डकौशिक के मन में कषायों का अभाव हो गया, उसके फन पर सहज सौम्यता, सहज मुस्कान नाचने लगी। उसने महावीर पर विष-प्रहार किया तो, किन्तु स्वाद उसे कैसा आया? दूध-जैसा। वह प्रतिबोध पा गया। उसकी भावनिद्रा टूट गई। जिस क्रोध भाव के कारण उसकी दुर्गति हुई, उस क्रोध भाव से वह मुक्त हो गया।

सब जानते हैं कि महावीर जब वापिस लौटे तो गाँव के सारे लोग उमड़ पड़े। खुशियाँ मनाने लगे। झूम उठे। हर्ष-विभोर बोले—प्रभो, आप वापिस

आ गये!! क्या आपके दुस्सह तेज से वह सर्प मर गया! बहुत सारी बातें होने लगीं। जब लोगों को मालूम पड़ गया सब कुछ, तब वे आश्वस्त हो गये। पहुँच गये वहाँ, जहाँ नागदेवता पड़े थे। किसी ने घी डाला। किसी ने दूध के छींटे दिये। किसी ने कुछ और डाला, और कहने लगे नाग देवता शान्त हो गये हैं। इनकी पूजा करो।

नाग देवता शान्त हैं, मौन हैं, पर जितनी अधिक पूजा की गई, जितनी अधिक भक्ति की गई, वह उनके लिए उतनी अधिक घातक सिद्ध हुई। जो मीठा भक्तिवश चढ़ाया गया उस पर हज़ारों-लाखों चीटियाँ इकट्ठा हो गईं। साँप की कोमल चमड़ी पर उन चीटियों ने साम्राज्य जमा लिया। कल्पना करें, सर्प का वह शरीर, उसकी कोमल त्वचा, और लाखों-लाख चीटियाँ!! वे चट, चट, चट काट रही हैं पर बिल में मुँह डाल कर लेटने वाले उस चण्डकौशिक ने त्याग कर दिया, भावनिद्रा का त्याग कर दिया, जिन भावों के कारण अनन्त काल से द्रव्यनिद्रा का योग बना रहा है, जन्म-मरण का योग बना रहा है, उन सारे भावों से छुट्टी पाने के लिए उसने जैसा पुरुषार्थ किया, वैसा पुरुषार्थ, विवेकी मन का वह पुरुषार्थ क्या आज कोई कर सकता है? चण्डकौशिक हम सबके लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है।

तिर्यञ्च गति में ऐसे कई उदाहरण हैं; किन्तु याद रखिये मनुष्य-ज़िंदगी में जिसने आत्मसाधना के संस्कार मजबूत किये हैं, किसी भूल के कारण यदि वह तिर्यञ्च होता भी है तो वह सँभल सकता है। मनुष्य-ज़िंदगी में की जाने वाली आत्मआराधना बहुत महत्त्व की वस्तु है। हम भावनिद्रा त्याग करने का प्रयत्न करें भावनिद्रा त्यागने के लिए आत्मबोध ज़रूरी है आत्मबोध के लिए सत्संग, स्वाध्याय, तत्त्व-चिन्तन, तत्त्व-मनन, और यह अभीक्ष्ण विचार कि "मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ, शरीर के ये संयोग जिनका न कोई आदि है न अन्त; सब यूँ ही रखे रह जाएँगे" ऐसा यदि हम सोचें तो हमारा सब कुछ बदल सकता है। ऐसा कुछ बदलेगा कि फिर कभी यह जड़-संयोगी फिल्म आँखों के सामने नहीं आयेगी। जड़ संयोगों में, जड़ सम्पर्कों में, जड़-सुविधाओं और साधनों में से मन हट जाएगा; किन्तु कब? तब जबकि हम आत्म स्वभाव को जानेंगे, उसे जड़ से भिन्न मानेंगे, भेदविज्ञानी की तरह धर्म के इस मर्म को समझेंगे कि जड़ जड़ हैं, और चेतन चेतन। स्वभाव दोनों के अलग-अलग हैं। □

—बालाघाट : 30 अगस्त 1983

तुम्हारी क्या दुर्गति हुई है? मैं आया हूँ, इसीलिए आया हूँ कि तुम इस क्रोध का त्याग कर दो। क्रोध तुम्हारा स्वभाव नहीं है, क्रोध विभाव है। यह संयोगी परिणाम है। यह विकारी भाव है। तुम अपने भाव से परिचित वनो। तुम्हारी अनन्त काल की जन्म-मरण की शृंखल टूट जाएगी। भगवान् की उस अपूर्व वाणी, उस शान्ति-मुद्रा, उस सौम्य भाव ने चण्डकौशिक का जीवन ही बदल दिया। वह कुछ-का-कुछ हो गाया।

प्रवचन में किसी दिन मैंने कहा था कि जिसके विषय-कषाय के परिणाम जितने मंद हो जाएँगे, जिसका क्रोध भाव जितना ज्यादा चला जाएगा उस व्यक्ति की आकृति में सहज सौम्यता होगी, सहज प्रसन्नता होगी और वह प्रसन्नता अपने-आप में अपूर्व होगी, अनुपम होगी। यह प्रसन्नता किसी भौतिक सुख की वुनियाद पर खड़ी नहीं होगी; यह होगी तव जव आत्मा की सहज योग्यता होगी, सहज सौम्यता को आप पायेंगें। आप देखेंगे कि जो साधक त्यागी, तपस्वी, संत भावनात्मक स्तर पर साधना में लग गये हैं, उनकी आकृति भी उनकी प्रकृति का वहुत कुछ परिचय दे देती है; किन्तु हमें समझने की क्षमता हो, हमारी गफलाने की स्थिति न हो, धोखा खाने की वृद्धि हममें न हो, कृत्रिमता और वास्तविकता में भेद करने की क्षमता हममें हो तो ही उसका लाभ मिल सकता है। जहाँ क्रोध भाव अत्यन्त मंद हो जाएगा, विप-वासना अत्यन्त मंद हो जाएगी, हमारे ज्ञानी भगवंतों ने तो यहाँ तक कहा कि भीतर के भावों की दुर्गन्ध जितनी कम होगी, पसीने तथा मल-मूत्र की दुर्गन्ध भी कम हो जाएगी। जिसके भावों की दुर्गन्ध कम हो जाएगी, उसके चतुर्दिक् वायुमण्डल पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा। आपने सुना होगा कि ऐसा पूर्ण ब्रह्मचारी, जिसने मन, वचन, काय के योग से, पूरे आत्म-भावों से पाँचों इन्द्रियों के विषयों में विचरण नहीं किया है, वह ब्रह्मज्ञानी, जो द्रव्य-भाव पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है, किसी स्थान पर छह मास यदि रह ले, साधना कर ले, तो उस स्थान पर विपय-विकारी मन भी यदि जाकर दम्पत्तिरूप में रहेगा तो भी उसके मन में विकार के परमाणु उछल-कूद नहीं करेंगे। वातावरण का ऐसा प्रभाव होता है। चण्डकौशिक के मन में कपायों का अभाव हो गया, उसके फन पर सहज सौम्यता, सहज मुस्कान नाचने लगी। उसने महावीर पर विप-प्रहार किया तो, किन्तु स्वाद उसे कैसा आया? दूध-जैसा। वह प्रतिवोध पा गया। उसकी भावनिद्रा टूट गई। जिस क्रोध भाव के कारण उसकी दुर्गति हुई, उस क्रोध भाव से वह मुक्त हो गया।

सव जानते हैं कि महावीर जव वापिस लौटे तो गाँव के सारे लोग उमड़ पड़े। खुशियाँ मनाने लगे। झूम उठे। हर्प-विभोर वोले—प्रभो, आप वापिस

आ गये ! ! क्या आपके दुस्सह तेज से वह सर्प मर गया ! बहुत सारी बातें होने लगीं । जब लोगों को मालूम पड़ गया सब कुछ, तब वे आश्वस्त हो गये । पहुँच गये वहाँ, जहाँ नागदेवता पड़े थे । किसी ने घी डाला । किसी ने दूध के छींटे दिये । किसी ने कुछ और डाला, और कहने लगे नाग देवता शान्त हो गये हैं । इनकी पूजा करो ।

नाग देवता शान्त हैं, मौन हैं, पर जितनी अधिक पूजा की गई, जितनी अधिक भक्ति की गई, वह उनके लिए उतनी अधिक घातक सिद्ध हुई । जो मीठा भक्तिवश चढ़ाया गया उस पर हज़ारों-लाखों चीटियाँ इकट्ठा हो गईं । साँप की कोमल चमड़ी पर उन चीटियों ने साम्राज्य जमा लिया । कल्पना करें, सर्प का वह शरीर, उसकी कोमल त्वचा, और लाखों-लाख चीटियाँ ! ! वे चट, चट, चट काट रही हैं पर बिल में मुँह डाल कर लेटने वाले उस चण्डकौशिक ने त्याग कर दिया, भावनिद्रा का त्याग कर दिया, जिन भावों के कारण अनन्त काल से द्रव्यनिद्रा का योग बना रहा है, जन्म-मरण का योग बना रहा है, उन सारे भावों से छुट्टी पाने के लिए उसने जैसा पुरुपार्थ किया, वैसा पुरुपार्थ, विवेकी मन का वह पुरुषार्थ क्या आज कोई कर सकता है ? चण्डकौशिक हम सबके लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है ।

तिर्यञ्च गति में ऐसे कई उदाहरण हैं; किन्तु याद रखिये मनुष्य-ज़िंदगी में जिसने आत्मसाधना के संस्कार मजबूत किये हैं, किसी भूल के कारण यदि वह तिर्यञ्च होता भी है तो वह सँभल सकता है । मनुष्य-ज़िंदगी में की जाने वाली आत्मआराधना बहुत महत्त्व की वस्तु है । हम भावनिद्रा त्याग करने का प्रयत्न करें भावनिद्रा त्यागने के लिए आत्मबोध ज़रूरी है आत्मबोध के लिए सत्संग, स्वाध्याय, तत्त्व-चिन्तन, तत्त्व-मनन, और यह अभीक्ष्ण विचार कि "मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ, शरीर के ये संयोग जिनका न कोई आदि है न अन्त; सब यूँ ही रखे रह जाएँगे" ऐसा यदि हम सोचें तो हमारा सब कुछ बदल सकता है । ऐसा कुछ बदलेगा कि फिर कभी यह जड़-संयोगी फ़िल्म आँखों के सामने नहीं आयेगी । जड़ संयोगों में, जड़ सम्पर्कों में, जड़-सुविधाओं और साधनों में से मन हट जाएगा; किन्तु कब ? तब जबकि हम आत्म स्वभाव को जानेंगे, उसे जड़ से भिन्न मानेंगे, भेदविज्ञानी की तरह धर्म के इस मर्म को समझेंगे कि जड़ जड़ हैं, और चेतन चेतन । स्वभाव दोनों के अलग-अलग हैं ।

□

—बालाघाट : 30 अगस्त 1983

मन घूमता है : क्यों ?

चित्तवृत्ति को हर तरफ से समेट कर, सब ओर से अलग कर शाश्वत 'चैतन्य चिदानन्द' की बात समझाना, करना-कराना सत्संग का उद्देश्य है।

इस जीवन को समझने-समझाने के लिए महापुरुषों ने कोई कम प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने कई तरह से इसे समझाया है ताकि किसी भी प्रकार से इस जीव को यह बात समझ में आ जाए कि "चैतन्य चिदानन्द" सर्वोपरि है। बारह भावनाओं में अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाएँ हैं, *जिनमें एक-एक विषय पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है,* यह सोचकर कि इस जीव को किसी-न-किसी तरह "सत्" का स्वरूप समझ में आ जाए। ऐसी बात नहीं है कि जगत् के व्यवहार में, उसके आचरण में, उसके जीवन में ये बातें देखने-समझने को नहीं मिलतीं; व्यक्ति अपने जीवन में ही प्रतिदिन इनका अनुभव करता है, दूसरों के जीवन में भी अनुभव करता है; किन्तु अनुभव करने के बाद भी जिसका अनुभव उसे करना है, उसके अनुभव की बात दिमाग में नहीं आती, इसलिए ज्ञानियों ने कुछ ही शब्दों में कह दिया, कि यह उपदेश किसके मन पर असर करेगा, किसके मन से टकरायेगा, इसे कौन समझना चाहेगा, वह जिसे थकान का अनुभव हो रहा है। चलते-चलते बैठने की इच्छा उसी की होती है, जो थक जाता है। थकान के बाद ही आदमी बैठना चाहता है।

दो-तीन मास यदि हम नियमित पदयात्रा कर लें तो ऐसा कभी लगता ही है कि एक-दो घंटे विश्राम कर लिया जाए। आप लोग तो मुसाफिरी ट्रेन से करते हैं, उसमें भी एक-दो महीने बाद आपको ऐसा लगने लगता होगा कि 'अब घर चलें, बहुत घूम चुके, अब थक गये हैं'। विश्रामकी आवश्यकता वही व्यक्ति अनुभव करता है, जिसे थकान का अनुभव होता है। जब तक थकावट का अनुभव नहीं होगा, तब तक विश्राम की बात सोचने में नहीं जायेगी।

ज्ञानी कहते हैं कि जिसे इस विचित्र जगत् में जीवन व्यतीत करते-करते कुछ ऊब का अनुभव हुआ है, इस अद्भुत संसार से अपने-आपको अलग करने के भाव आये हैं, वही व्यक्ति महापुरुषों के बताये हुए नियमों पर अमल करेगा, आचरण करेगा, उनकी बात पर ध्यान देगा, और अपने को सुधारने की कोशिश करेगा। मन को सुधारने का प्रयत्न ही वस्तुतः सबमें बड़ी साधना है। मन स्वयं में क्या है? मात्र निमित्त। वह माध्यम है, वैसे-जैसे पॉवर हाउस। पॉवर हाउस से आपने जो लाइट ली है, उसके बीच में तार है। तार माध्यम है। आपके कमरे में जो बल्ब लगा है, तार उस तक करेंट फेंकता है अर्थात् उसके जरिये बल्ब तक रोशनी आती है। वह बीच का सूत्र है, माध्यम है। बिजली-घर की तरह मन पाँच इन्द्रियों को काम देता है। वह आत्मा से प्रभावित होता है और इन्द्रियों का संचालन करता है। मन की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। वह कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। वह पुद्गल-पिण्ड है, अचेतन है, जड़ है; किन्तु जब तक आत्मा के साथ उसका संयोग है, तब तक वह गतिवान है। इन्द्रियों के संचालन में मन की बहुत बड़ी भूमिका है; किन्तु मन भी जब उसे आत्मा से प्रेरणा मिलती है तब इन्द्रियों को माध्यम बनाकर उन भावों को प्रकट करने में निमित्त बनता है। ऐसा नहीं है कि मन ही सब कुछ है, आत्मा कुछ भी नहीं है। आत्मा ही सब कुछ है, मन नगण्य है।

जब तक चेतना की प्रेरणा न हो तब तक मन स्वयं कुछ कर नहीं सकता। भले ही देखने में, व्यवहार में, हमें ऐसा लगता है कि फैक्टरी का संचालक मैनेजर है, डायरेक्टर है, वही सब कुछ कर रहा है। वही सर्वत्र दिखायी देता है। नौकरों को, कर्मचारियों को, मशीन वगैरह सबको आदेश-निर्देश वही देता है, सबका मार्गदर्शक वही है, सबका अनुशासक वही है; किन्तु मूल में तो मालिक है, वही प्रमुख प्रेरक शक्ति है। प्रबन्धक को तो मालिक ने उस विशिष्ट कार्य के लिए नियुक्त किया है। ठीक इसी प्रकार आत्मा, मन, और इन्द्रियों के परस्पर संबंध हैं। मूल शक्ति आत्मा है। आत्मा यदि परिवर्तन की दिशा में चली जाए तो मन बेचारा कुछ भी नहीं कर सकता। मन तो सिर्फ आत्मा के संकेतों का अनुसरण करता है। संसार में कई ऐसे साधक हैं जो दो-दो, तीन-तीन दिन एक ही आसन में व्यतीत कर देते हैं। आज भी कई संत-साधक सूर्यास्त के समय आसनस्थ होकर सबसे पहले शरीर को निश्चल करते हैं फिर वाणी को, फिर मन को; क्योंकि मन-के-मौन के लिए वाणी-का-मौन जरूरी है। वाणी को चुप करने के लिए शरीर को चुप करना ज़रूरी है। इन तीनों योगों की स्थिरता जितनी-जितनी होगी,

मन घूमता है : क्यों ?

चित्तवृत्ति को हर तरफ से समेट कर, सब ओर से अलग कर शाश्वत 'चैतन्य चिदानन्द' की बात समझाना, करना-कराना सत्संग का उद्देश्य है।

इस जीवन को समझने-समझाने के लिए महापुरुषों ने कोई कम प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने कई तरह से इसे समझाया है ताकि किसी भी प्रकार से इस जीव को यह बात समझ में आ जाए कि "चैतन्य चिदानन्द" सर्वोपरि है। बारह भावनाओं में अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाएँ हैं, जिनमें एक-एक विषय पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है, यह सोचकर कि इस जीव को किसी-न-किसी तरह "सत्" का स्वरूप समझ में आ जाए। ऐसी बात नहीं है कि जगत् के व्यवहार में, उसके आचरण में, उसके जीवन में ये बातें देखने-समझने को नहीं मिलतीं; व्यक्ति अपने जीवन में ही प्रतिदिन इनका अनुभव करता है, दूसरों के जीवन में भी अनुभव करता है; किन्तु अनुभव करने के बाद भी जिसका अनुभव उसे करना है, उसके अनुभव की बात दिमाग में नहीं आती, इसलिए ज्ञानियों ने कुछ ही शब्दों में कह दिया, कि यह उपदेश किसके मन पर असर करेगा, किसके मन से टकरायेगा, इसे कौन समझना चाहेगा, वह जिसे थकान का अनुभव हो रहा है। चलते-चलते बैठने की इच्छा उसी की होती है, जो थक जाता है। थकान के बाद ही आदमी बैठना चाहता है।

दो-तीन मास यदि हम नियमित पदयात्रा कर लें तो ऐसा कभी लगता ही है कि एक-दो घंटे विश्राम कर लिया जाए। आप लोग तो मुसाफिरी ट्रेन से करते हैं, उसमें भी एक-दो महीने बाद आपको ऐसा लगने लगता होगा कि 'अब घर चलें, बहुत घूम चुके, अब थक गये हैं'। विश्रामकी आवश्यकता वही व्यक्ति अनुभव करता है, जिसे थकान का अनुभव होता है। जब तक थकावट का अनुभव नहीं होगा, तब तक विश्राम की बात सोचने में नहीं जायेगी।

ज्ञानी कहते हैं कि जिसे इस विचित्र जगत् में जीवन व्यतीत करते-करते कुछ ऊब का अनुभव हुआ है, इस अद्भुत संसार से अपने-आपको अलग करने के भाव आये हैं, वही व्यक्ति महापुरुषों के बताये हुए नियमों पर अमल करेगा, आचरण करेगा, उनकी बात पर ध्यान देगा, और अपने को सुधारने की कोशिश करेगा। मन को सुधारने का प्रयत्न ही वस्तुतः सबमें बड़ी साधना है। मन स्वयं में क्या है? मात्र निमित्त। वह माध्यम है, वैसे-जैसे पॉवर हाउस। पॉवर हाउस से आपने जो लाइट ली है, उसके बीच में तार है। तार माध्यम है। आपके कमरे में जो बल्ब लगा है, तार उस तक करेंट फेंकता है अर्थात् उसके जरिये बल्ब तक रोशनी आती है। वह बीच का सूत्र है, माध्यम है। बिजली-घर की तरह मन पाँच इन्द्रियों को काम देता है। वह आत्मा से प्रभावित होता है और इन्द्रियों का संचालन करता है। मन की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। वह कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। वह पुद्गल-पिण्ड है, अचेतन है, जड़ है; किन्तु जब तक आत्मा के साथ उसका संयोग है, तब तक वह गतिवान है। इन्द्रियों के संचालन में मन की बहुत बड़ी भूमिका है; किन्तु मन भी जब उसे आत्मा से प्रेरणा मिलती है तब इन्द्रियों को माध्यम बनाकर उन भावों को प्रकट करने में निमित्त बनता है। ऐसा नहीं है कि मन ही सब कुछ है, आत्मा कुछ भी नहीं है। आत्मा ही सब कुछ है, मन नगण्य है।

जब तक चेतना की प्रेरणा न हो तब तक मन स्वयं कुछ कर नहीं सकता। भले ही देखने में, व्यवहार में, हमें ऐसा लगता है कि फैक्टरी का संचालक मैनेजर है, डायरेक्टर है, वही सब कुछ कर रहा है। वही सर्वत्र दिखायी देता है। नौकरों को, कर्मचारियों को, मशीन वगैरह सबको आदेश-निर्देश वही देता है, सबका मार्गदर्शक वही है, सबका अनुशासक वही है; किन्तु मूल में तो मालिक है, वही प्रमुख प्रेरक शक्ति है। प्रबन्धक को तो मालिक ने उस विशिष्ट कार्य के लिए नियुक्त किया है। ठीक इसी प्रकार आत्मा, मन, और इन्द्रियों के परस्पर संबंध हैं। मूल शक्ति आत्मा है। आत्मा यदि परिवर्तन की दिशा में चली जाए तो मन बेचारा कुछ भी नहीं कर सकता। मन तो सिर्फ आत्मा के संकेतों का अनुसरण करता है। संसार में कई ऐसे साधक है जो दो-दो, तीन-तीन दिन एक ही आसन में व्यतीत कर देते हैं। आज भी कई संत-साधक सूर्यास्त के समय आसनस्थ होकर सबमें पहले शरीर को निश्चल करते हैं फिर वाणी को, फिर मन को; क्योंकि मन-के-मौन के लिए वाणी-का-मौन जरूरी है। वाणी को चुप करने के लिए शरीर को चुप करना जरूरी है। इन तीनों योगों की स्थिरता जितनी-जितनी होगी,

साधना उतनी-उतनी आसान होगी। साधना के लिए, अध्यात्म में उतरने के लिए व्यक्ति को तीनों योगों की प्रवृत्ति में अविचलता लानी होगी।

इस अविचलता का सूत्रपात कब होगा ? तब, जब बाहर की हाय-हाय से वह किंचित् अवकाश ग्रहण करेगा। घंटे-भर के लिए भी यदि कोई आसन जमाकर बैठना चाहता है, तो शुरू में वह बहुत मुश्किल होगा। बिना अभ्यास के संसार में कोई भी कार्य सधता नहीं है, कोई कार्य सहज नहीं होता, सरल नहीं होता। अभ्यास से हर काम सरल हो जाता है। पाँच मिनिट नियमित पद्मासन करने वाला, सिद्धासन करने वाला, अभ्यास को यदि क्रमशः बढ़ाता है, तो वह तीन घंटों का आसन भी साध लेगा; किन्तु यदि कोई चाहे कि आज ही वह तीन घंटे बैठ जाए तो यह उसके वश की बात नहीं है। कोई चाहे कि वह पहले दिन ही एक घंटे का पद्मासन लगा ले, तो असंभव है। उसके पाँव अकड़ जाएँगे, वह तनने लगेगा, उसका मन नहीं लगेगा। मन इतनी उछल-कूद मचायेगा कि उसे पाँव हटाने ही पड़ेंगे; क्योंकि हठयोग से वह कब तक अविचल रहेगा; बिना मन को साधे, तन नहीं सधेगा। सबको अभ्यास की आवश्यकता है, किन्तु अभ्यास करने वाले साधनों में शरीर को समायोजित करने के लिए, वाणी को शान्त करने के लिए, मन को निश्चल करने के लिए पहले पूर्व संकल्प तोड़ने होंगे ताकि विकल्पों की उथल-पुथल घट जाए, मस्तिष्क शान्त हो जाए।

अधिकांश व्यक्ति प्रश्न करते हैं – महाराज ! मन बहुत चंचल है। कहीं टिकता ही नहीं, समझता ही नहीं, समझाने पर भी शान्त नहीं होता। कुछ-न-कुछ विचार चलते ही रहते है, चलते ही रहते हैं। यह सचाई है, वास्तविकता है कि मन चंचल है–"मन चंचल है" इसकी तो चिन्ता हमें है; किन्तु क्यों है इस बात पर हमने कभी विचार नहीं किया ? मन चंचल है; पर चंचल वह क्यों है ? विचार आते हैं तो क्यों आते हैं, किससे सम्बन्धित आते हैं ? ध्यान रखिये, संकल्प के बिना विकल्प नहीं आते। संकल्प का अर्थ है : मन में किसी बात को अविचल बिठा लेना। परिवार, कुटुंब के प्रति मन में जो यह संकल्प है कि "सब मेरे हैं" बस, अब सारे विकल्प इसमें से ही आयेंगे। विकल्प किस आधार पर आ रहे हैं ? संकल्प के आधार पर।

पूरे बालाघाट में कितनी जमीन है ? किन्तु आपके मन में किस धरती से संबंधित विचार आते हैं, वह कौन-सी धरती है ? उसी के न; जिसे लेकर आपके मन में संकल्प है कि "यह धरती मेरी है"; जिस धरती को आपने "मेरी" कहकर माना है, स्वीकार किया है। यह आपका संकल्प है,

यह आपकी धारणा है, इसमें आपकी दृढ़ता है कि "यह धरती मेरी" है; फिर यह धरती भले ही चार मील की दूरी में फैली हो या दो मील की दूरी में। कहिये इस धरती से संबंधित विकल्प आते हैं या नहीं ? इसके संबन्ध में सोचने से मन घूमता है या नहीं ? घूमता है, क्यों, किसलिए ? इसलिए कि मन में गहन संकल्प है कि "यह धरती मेरी है"। पानी नहीं आया, तब भी मन में परेशानी है; पानी जरूरत से ज्यादा आ गया, तब भी परेशानी है; मजदूर खेत में काम करने नहीं आये, तब भी मन में परेशानी है; और काम बराबर हो रहा है तो मन में खुशी की लहरें उठ रही हैं। विकल्प बराबर आ रहे हैं। जिन-जिन के साथ हमारा संयोग-सम्बन्ध है, उन-उन से संबंधित विकल्प तो आयेंगे ही। वे दुर्निवार हैं। यदि कोई बीमार है, तो उसकी बीमारी के विकल्प आते हैं। यदि कोई व्यसन करता है तो उसके विकल्प आते हैं। यदि कोई पैसे में बहुत बढ़ रहा है, तो चित्त में विचार आते हैं कि उसने बड़ी उन्नति की है, उसने बहुत तरक्की की है। वास्तव में, हमने यह सोचा भी नहीं था कि वह व्यक्ति इतनी तरक्की करेगा। यदि स्नेहपूर्ण लगाव है तो उसकी उन्नति में, अवनति में, बीमारी में, दुःख में, सुख में आपका मन प्रसन्न या खिन्न होगा। ऐसे ही जो धन है, धरती है, सम्बन्ध है, परिचय है, जहाँ हमारे स्नेह, या द्वेष के भाव हैं, उन सब के लिए हममें विकल्प उठेंगे। शत्रु से संबंधित विचार भी आयेंगे। संभव नहीं है कि जो आपका शत्रु है उसके प्रति मन में कोई विचार न आये। उसके नुकसान में विचार आयेगा कि चलो अच्छा हुआ। उसने मेरे साथ ऐसा किया था, भगवान् ने उसके साथ यह बहुत अच्छा किया है। यह क्या है? यह भी विचार ही है। यह भी विकल्प ही है। शत्रु के प्रति भी विकल्प आते हैं और मित्र के प्रति भी। धन और धरती के प्रति भी विकल्प आते हैं, और जिन्हें आपने अनिष्ट (प्रतिकूल) माना है, उनके प्रति भी विचार आते हैं।

अनिष्ट रूप में जिसे आपने स्वीकार किया है, उसके प्रति आपके मन में आत्मीयता नहीं होगी, द्वेष होगा फिर वह चाहे सामान्य हो, या विशेष। द्वेष सामान्य भी होता है, विशेष भी। द्वेष जिसके प्रति होता है उसकी हम तनिक भी उन्नति नहीं देख सकते। यदि उसे कोई पद मिल जाता है, तो मन को खिन्नता होती है; उसके घर में यदि दस अतिथि आ जाते हैं तो मन को अच्छा नहीं लगता; उसका नाम फैलने लगता है, तो मन को अच्छा नहीं लगता; उसका व्यापार फलता-फूलता है तो भी मन को अच्छा नहीं लगता। व्यवहार में भले ही हम कह दें कि भगवन् हम तो रोज ही यह कामना करते थे कि उसका भला हो। कहना अलग बात है; पूछें, स्वयं से कि क्या मन में ऐसे भाव आते हैं कि उसका भला हो? कह देना बात बिल-

साधना उतनी-उतनी आसान होगी। साधना के लिए, अध्यात्म में उतरने के लिए व्यक्ति को तीनों योगों की प्रवृत्ति में अविचलता लानी होगी।

इस अविचलता का सूत्रपात कब होगा ? तब, जब बाहर की हाय-हाय से वह किंचित् अवकाश ग्रहण करेगा। घंटे-भर के लिए भी यदि कोई आसन जमाकर बैठना चाहता है, तो शुरू में वह बहुत मुश्किल होगा। बिना अभ्यास के संसार में कोई भी कार्य सधता नहीं है, कोई कार्य सहज नहीं होता, सरल नहीं होता। अभ्यास से हर काम सरल हो जाता है। पाँच मिनिट नियमित पद्मासन करने वाला, सिद्धासन करने वाला, अभ्यास को यदि क्रमशः बढ़ाता है, तो वह तीन घंटों का आसन भी साध लेगा; किन्तु यदि कोई चाहे कि आज ही वह तीन घंटे बैठ जाए तो यह उसके वश की बात नहीं है। कोई चाहे कि वह पहले दिन ही एक घंटे का पद्मासन लगा ले, तो असंभव है। उसके पाँव अकड़ जाएँगे, वह तनने लगेगा, उसका मन नहीं लगेगा। मन इतनी उछल-कूद मचायेगा कि उसे पाँव हटाने ही पड़ेंगे ; क्योंकि हठयोग से वह कब तक अविचल रहेगा; बिना मन को साधे, तन नहीं सधेगा। सबको अभ्यास की आवश्यकता है, किन्तु अभ्यास करने वाले साधनों में शरीर को सनायोजित करने के लिए, वाणी को शान्त करने के लिए, मन को निश्चल करने के लिए पहले पूर्व संकल्प तोड़ने होंगे ताकि विकल्पों की उथल-पुथल घट जाए, मस्तिष्क शान्त हो जाए।

अधिकांश व्यक्ति प्रश्न करते हैं – महाराज ! मन बहुत चंचल है। कहीं टिकता ही नहीं, समझता ही नहीं, समझाने पर भी शान्त नहीं होता। कुछ-न-कुछ विचार चलते ही रहते हैं, चलते ही रहते हैं। यह सचाई है, वास्तविकता है कि मन चंचल है–"मन चंचल है" इसकी तो चिन्ता हमें है; किन्तु क्यों है इस बात पर हमने कभी विचार नहीं किया ? मन चंचल है; पर चंचल वह क्यों है ? विचार आते हैं तो क्यों आते हैं, किससे सम्बन्धित आते हैं ? ध्यान रखिये, संकल्प के बिना विकल्प नहीं आते। संकल्प का अर्थ है : मन में किसी बात को अविचल बिठा लेना। परिवार, कुटुंब के प्रति मन में जो यह संकल्प है कि "सब मेरे हैं" बस, अब सारे विकल्प इसमें से ही आयेंगे। विकल्प किस आधार पर आ रहे हैं ? संकल्प के आधार पर।

पूरे बालाघाट में कितनी जमीन है ? किन्तु आपके मन में किस धरती से संबंधित विचार आते हैं, वह कौन-सी धरती है ? उसी के न; जिसे लेकर आपके मन में संकल्प है कि "यह धरती मेरी है"; जिस धरती को आपने "मेरी" कहकर माना है, स्वीकार किया है। यह आपका संकल्प है,

यह आपकी धारणा है, इसमें आपकी दृढ़ता है कि "यह धरती मेरी" है; फिर यह धरती भले ही चार मील की दूरी में फैली हो या दो मील की दूरी में। कहिये इस धरती से संबंधित विकल्प आते हैं या नहीं ? इसके संबन्ध में सोचने से मन घूमता है या नहीं ? घूमता है, क्यों, किसलिए ? इसलिए कि मन में गहन संकल्प है कि "यह धरती मेरी है"। पानी नहीं आया, तब भी मन में परेशानी है; पानी जरूरत से ज्यादा आ गया, तब भी परेशानी है; मजदूर खेत में काम करने नहीं आये, तब भी मन में परेशानी है; और काम बराबर हो रहा है तो मन में खुशी की लहरें उठ रही हैं। विकल्प बराबर आ रहे हैं। जिन-जिन के साथ हमारा संयोग-सम्बन्ध है, उन-उन से संबंधित विकल्प तो आयेंगे ही। वे दुर्निवार हैं। यदि कोई बीमार है, तो उसकी बीमारी के विकल्प आते हैं। यदि कोई व्यसन करता है तो उसके विकल्प आते हैं। यदि कोई पैसे में बहुत बढ़ रहा है, तो चित्त में विचार आते हैं कि उसने बड़ी उन्नति की है, उसने बहुत तरक्की की है। वास्तव में, हमने यह सोचा भी नहीं था कि वह व्यक्ति इतनी तरक्की करेगा। यदि स्नेहपूर्ण लगाव है तो उसकी उन्नति में, अवनति में, बीमारी में, दुःख में, सुख में आपका मन प्रसन्न या खिन्न होगा। ऐसे ही जो धन है, धरती है, सम्बन्ध है, परिचय है, जहाँ हमारे स्नेह, या द्वेष के भाव हैं, उन सब के लिए हममें विकल्प उठेंगे। शत्रु से संबंधित विचार भी आयेंगे। संभव नहीं है कि जो आपका शत्रु है उसके प्रति मन में कोई विचार न आये। उसके नुकसान में विचार आयेगा कि चलो अच्छा हुआ। उसने मेरे साथ ऐसा किया था, भगवान् ने उसके साथ यह बहुत अच्छा किया है। यह क्या है? यह भी विचार ही है। यह भी विकल्प ही है। शत्रु के प्रति भी विकल्प आते हैं और मित्र के प्रति भी। धन और धरती के प्रति भी विकल्प आते हैं, और जिन्हें आपने अनिष्ट (प्रतिकूल) माना है, उनके प्रति भी विचार आते हैं।

अनिष्ट रूप में जिसे आपने स्वीकार किया है, उसके प्रति आपके मन में आत्मीयता नहीं होगी, द्वेष होगा फिर वह चाहे सामान्य हो, या विशेष। द्वेष सामान्य भी होता है, विशेष भी। द्वेष जिसके प्रति होता है उसकी हम तनिक भी उन्नति नहीं देख सकते। यदि उसे कोई पद मिल जाता है, तो मन को खिन्नता होती है; उसके घर में यदि दस अतिथि आ जाते हैं तो मन को अच्छा नहीं लगता; उसका नाम फैलने लगता है, तो मन को अच्छा नहीं लगता; उसका व्यापार फलता-फूलता है तो भी मन को अच्छा नहीं लगता। व्यवहार में भले ही हम कह दें कि भगवन् हम तो रोज ही यह कामना करते थे कि उसका भला हो। कहना अलग बात है; पूछें, स्वयं से कि क्या मन में ऐसे भाव आते हैं कि उसका भला हो? कह देना बात विल-

कुछ अलग है और भाव आना बिलकुल अलग। मुँह से भले ही न कहे किन्तु यदि भाव आते हैं शत्रु के प्रति भी हित के, तो समझ लेना चाहिये कि वह व्यक्ति सज्जन है। निष्कर्ष यह हुआ कि हममें जितने भी विचार आते हैं, वे किसी-न-किसी से संबंधित अवश्य होते हैं।

आप यहाँ बैठे हैं : आपके आस-पास भी मकान हैं। उनमें भी परिवार हैं, उनके जीवन में भी सुख और दुःख के प्रसंग आये दिन आते हैं तो कला निकेतन हॉल के पास जो बस रहे हैं, जो रह रहे हैं और आप यदि इस, मोहल्ले में नहीं रहते हैं, आपके परिचित, आपका परिवार, आपके मित्र यदि उन घरों में नहीं हैं, तो पड़ोस के मकान में क्या हो रहा है, किस पर क्या गुज़र रही है, किसमें किस पर क्या बीत रही है, इस सिलसिले में आपके मन में क्या कोई भाव आते हैं, कोई विकल्प आते हैं, कोई विचार आता है? नहीं आता। क्यों नहीं आता? संकल्प नहीं है, इसलिए विकल्प नहीं बनता। क्या संकल्प नहीं है? यही न कि इष्ट, या अनिष्ट रूप में हमने इस मकान के आसपास के परिवार को नहीं माना है, न इष्ट रूप में माना है और न अनिष्ट रूप में। न तो हमने उसे शत्रु-रूप माना है, और न मित्र-रूप; इसलिए उनसे संबंधित कोई विचार हमारे मन में नहीं आता। विचार जितने भी आते हैं वे होते या तो स्मृति-रूप हैं, या भविष्य की कल्पना-रूप वर्तमान में मनुष्य का मन क्या करता है? यह जरा सोचने का विषय है। यह थोड़ा समझने का विषय है। दार्शनिक दृष्टिकोण से देखिये कि हम अपने मन का उपयोग कैसे करते हैं? क्या वर्तमान-में, वर्तमान-का-उपयोग हम कभी वर्तमान-के-लिए करते हैं?

हमारे ज्ञानी भगवन्तों ने कहा है: जो वर्तमान में विचरण करता है, जो वर्तमान में रहता है, जो वर्तमान में जीता है, जो वर्तमान का उपयोग वर्तमान के लिए करता है, वह विचक्षण है। हम वर्तमान का उपयोग किसमें करते हैं? स्मृति-रूप, या कल्पना-रूप ("ऐसा हुआ था" "उसने ऐसा किया था")। इस तरह या तो हम "था" में जीते हैं, या "गा" में, "है" में नहीं जीते। वर्तमान का उपयोग, या तो हम अतीत के स्मरण में करते हैं, या भविष्य की योजना में; और वह भी विचार के रूप में नहीं, राग-द्वेष के रूप में करते हैं। अतीत की कितनी सुखद घटनाएँ हमें याद आती हैं; "इस सुखद स्मरण में" हमारे वर्तमान का रास्ता बन्द हो जाता है। दुःख का स्मरण होता है, तो द्वेष भाव का बन्धन होता है; वर्तमान में वह व्यक्ति नहीं है, वह परिस्थिति भी नहीं है; व्यक्ति नहीं है, समय नहीं है, परिस्थिति नहीं है; वर्तमान में उस व्यक्ति के मन में भी वैसे भाव नहीं है; फिर भी स्मरण होता है।

कल्पना कीजिये कि आपने कहा कि पन्द्रह वर्ष पहले मेरे परिवार के एक सदस्य ने ऐसा किया था, उसने एक मामूली-सी बात में मुझे दो थप्पड़ मार दिये थे, मुझे धक्का दे कर घर से निकाल दिया था। यह जो प्रसंग आज हमारी स्मृति में आ रहा है, क्या मात्र प्रसंग है? क्या इस भाव में द्वेष नहीं है? क्या मन में अरति के भाव आ रहे हैं? कहने के क्षणों में भी मन दु:खी हो रहा है जब कि दु:ख का निमित्त वर्तमान में कुछ भी नहीं है, केवल स्मृति के रूप में एक घटना है जो मस्तिष्क में चित्र की तरह उभरती है और मन को द्वेष से भर देती है। जिस व्यक्ति के संदर्भ में चर्चा चल रही है, वह व्यक्ति भी नहीं है, उस व्यक्ति के मन में इस प्रकार के भाव भी इस समय नहीं हैं और वैसी परिस्थिति भी नहीं है और शायद वह समय भी नहीं है। समय बदल गया है, किन्तु वह "भूतकाल" हो गया है। व्यक्ति का मन बदल गया है, किन्तु यह दस वर्ष पहले की मन:स्थिति में लौट गया है। प्रश्न है; आज, इस क्षण उसके मन में क्या भाव है? नहीं पता; क्योंकि वह दो सौ मील की दूरी पर बैठा है। वह समय भी नहीं है, उस व्यक्ति के मन में वह भाव भी नहीं है, और आज (इस क्षण) वह हमारे लिए दु:ख का कारण भी नहीं है; किन्तु हम हैं कि वर्तमान में इस प्रकार विकल्प करके मन में द्वेष-भाव से पाप का बंध कर रहे हैं, और पाप का बंध करने में निमित्त किसे बना रहे हैं? अतीत को। उस अतीत को, जो गुज़र चुका है, समाप्त हो चुका है, जिसकी मौत हो चुकी है।

कल्पना कीजिये कोई व्यक्ति अपनी संतान की मोह-मूर्च्छा में उसके शव को छोड़ना नहीं चाहता। वह किसी दवाई आदि के प्रयोग से उस शव को रख, या कंधे पर लेकर घूम रहा है; यानी किसी भी तरह वह उसके शव से अलग नहीं होना चाहता है। यदि एक व्यक्ति दस दिन भी अपने प्रिय व्यक्ति के शव को कंधे पर लटकाये घूमता रहे; तो आप, हम सब उस व्यक्ति को क्या कहेंगे—अरे भाई! यह लाश क्यों ढो रहे हो; क्या कहेंगे? यही न कि इस लाश को क्यों ढो रहे हो? किसी लाश का इस तरह ढोया जाना कहाँ तक अच्छा है? जो वर्तमान नहीं है, अतीत हो चुका है, जो परिस्थिति बदल चुकी है, व्यक्ति का जो मन बदल चुका, उस सब के बावजूद हम वर्तमान में अतीत से अपने मन को जोड़ कर जो कर्मबंध करते हैं, वह मात्र मूर्खता है, विचक्षणता नहीं है। वस्तुत: इस रास्ते चल कर तो हम वर्तमान का दुरुपयोग ही कर रहे हैं, सदुपयोग नहीं कर रहे हैं। बतायें, वर्तमान में हम उस स्थिति की स्मृति से लाभ कमा रहे हैं, या हानि? क्या कमा रहे हैं? किन्तु आत्म-ज्ञान के बिना, सत्संग में विवेक प्राप्त किये बिना, व्यक्ति वर्तमान का अधिकतर उपयोग अतीत की स्मृति में ही करता है। जो अतीत की स्मृति में जा रहा

कुछ अलग है और भाव आना बिलकुल अलग। मुँह से भले ही न कहे किन्तु यदि भाव आते हैं शत्रु के प्रति भी हित के, तो समझ लेना चाहिये कि वह व्यक्ति सज्जन है। निष्कर्ष यह हुआ कि हममें जितने भी विचार आते हैं, वे किसी-न-किसी से संबंधित अवश्य होते हैं।

आप यहाँ बैठे हैं : आपके आस-पास भी मकान हैं। उनमें भी परिवार हैं, उनके जीवन में भी सुख और दुःख के प्रसंग आये दिन आते हैं तो कला निकेतन हॉल के पास जो बस रहे हैं, जो रह रहे हैं और आप यदि इस, मोहल्ले में नही रहते हैं, आपके परिचित, आपका परिवार, आपके मित्र यदि उन घरों में नहीं हैं, तो पड़ोस के मकान में क्या हो रहा है, किस पर क्या गुज़र रही है, किसमें किस पर क्या बीत रही है, इस सिलसिले में आपके मन में क्या कोई भाव आते हैं, कोई विकल्प आते हैं, कोई विचार आता है? नहीं आता। क्यों नहीं आता? संकल्प नहीं है, इसलिए विकल्प नहीं बनता। क्या संकल्प नहीं है? यही न कि इष्ट, या अनिष्ट रूप में हमने इस मकान के आसपास के परिवार को नहीं माना है, न इष्ट रूप में माना है और न अनिष्ट रूप में। न तो हमने उसे शत्रु-रूप माना है, और न मित्र-रूप; इसलिए उनसे संबंधित कोई विचार हमारे मन में नहीं आता। विचार जितने भी आते हैं वे होते या तो स्मृति-रूप हैं, या भविष्य की कल्पना-रूप वर्तमान में मनुष्य का मन क्या करता है? यह जरा सोचने का विषय है। यह थोड़ा समझने का विषय है। दार्शनिक दृष्टिकोण से देखिये कि हम अपने मन का उपयोग कैसे करते हैं? क्या वर्तमान-में, वर्तमान-का-उपयोग हम कभी वर्तमान-के-लिए करते हैं?

हमारे ज्ञानी भगवन्तों ने कहा है : जो वर्तमान में विचरण करता है, जो वर्तमान में रहता है, जो वर्तमान में जीता है, जो वर्तमान का उपयोग वर्तमान के लिए करता है, वह विचक्षण है। हम वर्तमान का उपयोग किसमें करते हैं? स्मृति-रूप, या कल्पना-रूप ("ऐसा हुआ था" "उसने ऐसा किया था")। इस तरह या तो हम "था" में जीते हैं, या "गा" में, "है" में नहीं जीते। वर्तमान का उपयोग, या तो हम अतीत के स्मरण में करते हैं, या भविष्य की योजना में; और वह भी विचार के रूप में नहीं, राग-द्वेष के रूप में करते हैं। अतीत की कितनी सुखद घटनाएँ हमें याद आती हैं; "इस सुखद स्मरण में" हमारे वर्तमान का रास्ता बन्द हो जाता है। दुःख का स्मरण होता है, तो द्वेष भाव का बन्धन होता है; वर्तमान में वह व्यक्ति नहीं है, वह परिस्थिति भी नहीं है; व्यक्ति नहीं है, समय नहीं है, परिस्थिति नहीं है; वर्तमान में उस व्यक्ति के मन में भी वैसे भाव नहीं है; फिर भी स्मरण होता है।

ऐसा कैसे होगा? जब आपके मन में ममत्व है तो उन पदार्थों से संबंधित विकल्प आपमें आयेंगे; निश्चित आयेंगे। विकल्प जितने कम करने हों उतनी ही आसक्ति कम करें; यही एक समाधान है वर्तमान में ठहरने का, और अतीत की लाश ढोने से बचने का।

जो भी जैन साधु-साध्वी बनते हैं, वे निश्चय ही धातु का त्याग करते हैं। जब धातु का त्याग करते हैं तब उसके बाद धातु से संबंधित विकल्प उनमें नहीं आते। संत आनंदघनजी ने बहुत अच्छा कहा है—"संकल्प तोड़ कर तू अपने-आप में विचरण कर, अनन्त काल से धन और धरती के प्रति, उन संयोग-संबंधों के प्रति जो तेरा संकल्प रहा है, वह संकल्प ही तुझे परिभ्रमण करा रहा है।"

संत स्वयं से कह रहे हैं: मस्त योगी, आनंदघन इस तन-मठ में तू क्यों सो रहा है? जाग जा और अपने ही घर में, अपने ही घट में चैतन्य चिदानन्द को देख, उसे कि जिसे देखने पर फिर किसी और को देखने की लालसा मन में नहीं रहती; उसे, जिसको पाने के बाद किसी और को पाने की भावना नहीं रहती। जब तक तू अपने-आपको खोये हुए है; खुद को तूने खोजा नहीं है, तब तक जगत् को पाने की लालसा तुझ में है, किन्तु जिस रोज "अपने" ही घट में तू "अपने" को पा लेगा, उस दिन फिर न बाहर में खोने का भाव रहेगा, न पाने का। पाना ही नहीं रहेगा, तो खोयेगा क्या? खोयेगा नहीं, तो पायेगा क्या? किन्तु ऐसा होगा कब? जब तू इस तथ्य का चिन्तन करेगा कि मैं अनन्त काल का एकाकी राही हूँ। मैं न किसी का हूँ और न कोई मेरा है; क्योंकि जिस शरीर में मैं चौबीसों घंटे अभिन्न रूप में रहता हूँ, "मैं" के रूप में उसकी कल्पना किये हुए हूँ, वह ही मेरा नहीं है। शरीर तो मेरा मकान है। "मैं" नहीं, "शरीर" मकान है। शरीर में रहने वाला "चैतन्य चिदानन्द", जिसमें अनुभूति की अपूर्व शक्ति है, वह क्या है? मालिक है; किन्तु मालिक को याद किये बिना अनन्त काल से हम मकान के पीछे ही भटक रहे हैं, इसीलिए है यह "मैं", यह "मेरा", यह "मैं", यह मेरा; यह "मैं", यह "मेरा"—इस आसक्ति का कोई अन्त नहीं है। यह मोह-मूर्च्छा अन्तहीन है। इसे छोड़, भीतर जाग; वहीं सब है। □

—बालाघाट: 26 सितम्बर, 1983

है वह दु:खात्मक स्मृतियाँ भी करेगा और सुखात्मक भी। सुखात्मक स्मृतियों में वह झूमता है, एक-एक घटना के वयान में रस लेता है। एक घटना के चित्रण में एक घंटे का समय ! ! वर्तमान के एक यथार्थ क्षण की, वीतराग क्षण की तुलना इससे कीजिये !

दस वर्ष पहले मैंने अमुक जगह दही-वड़े खाये थे। इतने अच्छे दही-वड़े तो मुझे इधर के दस वर्षों में एक बार भी नहीं मिले। अव वे दही-वड़े भी नहीं हैं, वह समय भी नहीं है, पेट में आज उसका इतना-सा अंश भी नहीं है, वह तो वेचारा कभी का मल के रूप में नष्ट, या खाद वन गया। खाद में से फिर खेत में आ गया। आज उसका अंश हमारे खेत में है, किन्तु उसकी कल्पना करते हुए व्यक्ति का चित्त आज फिर प्रसन्नता से भर उठा है। क्या यह रागभाव नही है? इसमें स्पष्टत: रागभाव का बंध है। तो असंदिग्ध है कि व्यक्ति अतीत और भविष्य के झूले में ही वर्तमान में झूलता है। झूलता रहा है वर्तमान में, और पैगें भर रहा है अतीत, या भविष्य में; है न सुखद आश्चर्य ?

ज्ञानी भगवंत कहते हैं : संवंधों में ममत्व का त्याग कर। त्याग उसे, और अनासक्त हो जा। जिसके प्रति तेरा जो कर्तव्य वनता है, उदारचेता वनकर उसकी सुख-शान्ति कायम कर और चित्त में जो अपना कर्तव्य वनता है, उसे पूरा कर; मन में कवि की इन पंक्तियों को गूँजने दे—

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय ।।

यह शरीर जब तेरा नहीं है, तव परिवार तेरा कैसे होगा ? मकान तेरा कैसे होगा ? धन और धरती तेरी कैसी होगी ? कैसे होगी, जब शरीर ही तेरा नहीं है तव ? "शरीर ही तेरा नहीं है" चर्चा का यह भाव जब तेरे मन में जम जाएगा, तो वर्तमान संयोग, संयोग के रूप में ही रहेंगे। उन संयोगों का उपयोग होगा, व्यवहार होगा, पर आसक्ति टूट जाएगी। आसक्ति टूटेगी तो "मैं" के रूप में जो संकल्प तेरा है, वह भी टूट जाएगा। संकल्प टूटेगा, तो आत्मसाधना में विकल्प तुझे नहीं सतायेंगें; क्योंकि विकल्प तव तक सतायेंगें, जव तक तूने संकल्प स्वीकार कर रखे हैं। हम संकल्प को तोड़ना नहीं चाहते और विकल्प से छुट्टी चाहते हैं; तो यह कैसे हो सकता है ? भोजन करना तो हम वंद नही करते और कहते हैं कि मल विसर्जित नहीं करना है, तो ऐसा कैसे होगा ? जनमना तो पसंद है और मरना पसंद नहीं है, तो यह/ऐसा कैसे होगा ? जवान होना पसंद है, वुढ़ापा पसंद नहीं है, तो

ऐसा कैसे होगा? जब आपके मन में ममत्व है तो उन पदार्थों से संबंधित विकल्प आपमें आयेंगें; निश्चित आयेंगें। विकल्प जितने कम करने हों उतनी ही आसक्ति कम करें; यही एक समाधान है वर्तमान में ठहरने का, और अतीत की लाश ढोने से बचने का।

जो भी जैन साधु-साध्वी बनते हैं, वे निश्चय ही धातु का त्याग करते हैं। जब धातु का त्याग करते हैं तब उसके बाद धातु से संबंधित विकल्प उनमें नहीं आते। संत आनंदघनजी ने बहुत अच्छा कहा है—"संकल्प तोड़ कर तू अपने-आप में विचरण कर, अनन्त काल से धन और धरती के प्रति, उन संयोग-संबंधों के प्रति जो तेरा संकल्प रहा है, वह संकल्प ही तुझे परिभ्रमण करा रहा है।"

संत स्वयं से कह रहे हैं: मस्त योगी, आनंदघन इस तन-मठ में तू क्यों सो रहा है? जाग जा और अपने ही घर में, अपने ही घट में चैतन्य चिदानन्द को देख, उसे कि जिसे देखने पर फिर किसी और को देखने की लालसा मन में नहीं रहती; उसे, जिसको पाने के बाद किसी और को पाने की भावना नहीं रहती। जब तक तू अपने-आपको खोये हुए है; खुद को तूने खोजा नहीं है, तब तक जगत् को पाने की लालसा तुझ में है, किन्तु जिस रोज "अपने" ही घट में तू "अपने" को पा लेगा, उस दिन फिर न बाहर में खोने का भाव रहेगा, न पाने का। पाना ही नही रहेगा, तो खोयेगा क्या? खोयेगा नहीं, तो पायेगा क्या? किन्तु ऐसा होगा कब? जब तू इस तथ्य का चिन्तन करेगा कि मैं अनन्त काल का एकाकी राही हूँ। मैं न किसी का हूँ और न कोई मेरा है; क्योंकि जिस शरीर में मैं चौबीसों घंटे अभिन्न रूप में रहता हूँ, "मैं" के रूप में उसकी कल्पना किये हुए हूँ, वह ही मेरा नहीं है। शरीर तो मेरा मकान है। "मैं" नहीं, "शरीर" मकान है। शरीर में रहने वाला "चैतन्य चिदानन्द", जिसमें अनुभूति की अपूर्व शक्ति है, वह क्या है? मालिक है; किन्तु मालिक को याद किये बिना अनन्त काल से हम मकान के पीछे ही भटक रहे हैं, इसीलिए है यह "मैं", यह "मेरा", यह "मैं", यह मेरा; यह "मैं", यह "मेरा"—इस आसक्ति का कोई अन्त नहीं है। यह मोह-मूर्च्छा अन्तहीन है। इसे छोड़, भीतर जाग; वहीं सब है। □

—बालाघाट : 26 सितम्बर, 1983

है वह दुःखात्मक स्मृतियाँ भी करेगा और सुखात्मक भी। सुखात्मक स्मृतियों में वह झूमता है, एक-एक घटना के बयान में रस लेता है। एक घटना के चित्रण में एक घंटे का समय ! ! वर्तमान के एक यथार्थ क्षण की, वीतराग क्षण की तुलना इससे कीजिये !

दस वर्ष पहले मैंने अमुक जगह दही-बड़े खाये थे। इतने अच्छे दही-बड़े तो मुझे इधर के दस वर्षों में एक बार भी नहीं मिले। अब वे दही-बड़े भी नहीं हैं, वह समय भी नहीं है, पेट में आज उसका इतना-सा अंश भी नहीं है, वह तो बेचारा कभी का मल के रूप में नष्ट, या खाद बन गया। खाद में से फिर खेत में आ गया। आज उसका अंश हमारे खेत में है, किन्तु उसकी कल्पना करते हुए व्यक्ति का चित्त आज फिर प्रसन्नता से भर उठा है। क्या यह रागभाव नही है? इसमें स्पष्टत: रागभाव का बंध है। तो असंदिग्ध है कि व्यक्ति अतीत और भविष्य के झूले में ही वर्तमान में झूलता है। झूलता रहा है वर्तमान में, और पैगें भर रहा है अतीत, या भविष्य में; है न सुखद आश्चर्य ?

ज्ञानी भगवंत कहते हैं : संबंधों में ममत्व का त्याग कर। त्याग उसे, और अनासक्त हो जा। जिसके प्रति तेरा जो कर्तव्य बनता है, उदारचेता बनकर उसकी सुख-शान्ति कायम कर और चित्त में जो अपना कर्तव्य बनता है, उसे पूरा कर; मन में कवि की इन पंक्तियों को गूँजने दे—

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय ।।

यह शरीर जब तेरा नहीं है, तब परिवार तेरा कैसे होगा ? मकान तेरा कैसे होगा ? धन और धरती तेरी कैसी होगी ? कैसे होगी, जब शरीर ही तेरा नहीं है तब ? "शरीर ही तेरा नही है" चर्चा का यह भाव जब तेरे मन में जम जाएगा, तो वर्तमान संयोग, संयोग के रूप में ही रहेंगे। उन संयोगों का उपयोग होगा, व्यवहार होगा, पर आसक्ति टूट जाएगी। आसक्ति टूटेगी तो "मैं" के रूप में जो संकल्प तेरा है, वह भी टूट जाएगा। संकल्प टूटेगा, तो आत्मसाधना में विकल्प तुझे नहीं सतायेंगें; क्योंकि विकल्प तब तक सतायेंगें, जब तक तूने संकल्प स्वीकार कर रखे हैं। हम संकल्प को तोड़ना नहीं चाहते और विकल्प से छुट्टी चाहते हैं; तो यह कैसे हो सकता है ? भोजन करना तो हम बंद नहीं करते और कहते हैं कि मल विसर्जित नहीं करना है, तो ऐसा कैसे होगा ? जनमना तो पसंद है और मरना पसंद नहीं है, तो यह/ऐसा कैसे होगा ? जवान होना पसंद है, बुढ़ापा पसंद नहीं है, तो

ऐसा कैसे होगा? जब आपके मन में ममत्व है तो उन पदार्थो से संबंधित विकल्प आपमें आयेंगें; निश्चित आयेंगें। विकल्प जितने कम करने हों उतनी ही आसक्ति कम करें; यही एक समाधान है वर्तमान में ठहरने का, और अतीत की लाश ढोने से बचने का।

जो भी जैन साधु-साध्वी बनते हैं, वे निश्चय ही धातु का त्याग करते हैं। जाव धातु का त्याग करते हैं तब उसके बाद धातु से संबंधित विकल्प उनमें नहीं आते। संत आनंदघनजी ने बहुत अच्छा कहा है—"संकल्प तोड़ कर तू अपने-आप में विचरण कर, अनन्त काल से धन और धरती के प्रति, उन संयोग-संबंधों के प्रति जो तेरा संकल्प रहा है, वह संकल्प ही तुझे परिभ्रमण करा रहा है।"

संत स्वयं से कह रहे हैं: मस्त योगी, आनंदघन इस तन-मठ में तू क्यों सो रहा है? जाग जा और अपने ही घर में, अपने ही घट में चैतन्य चिदानन्द को देख, उसे कि जिसे देखने पर फिर किसी और को देखने की लालसा मन में नहीं रहती; उसे, जिसको पाने के बाद किसी और को पाने की भावना नहीं रहती। जब तक तू अपने-आपको खोये हुए है; खुद को तूने खोजा नहीं है, तब तक जगत् को पाने की लालसा तुझ में है, किन्तु जिस रोज "अपने" ही घट में तू "अपने" को पा लेगा, उस दिन फिर न बाहर में खोने का भाव रहेगा, न पाने का। पाना ही नहीं रहेगा, तो खोयेगा क्या? खोयेगा नहीं, तो पायेगा क्या? किन्तु ऐसा होगा कब? जब तू इस तथ्य का चिन्तन करेगा कि मैं अनन्त काल का एकाकी राही हूँ। मैं न किसी का हूँ और न कोई मेरा है; क्योंकि जिस शरीर में मैं चौबीसों घंटे अभिन्न रूप में रहता हूँ, "मैं" के रूप में उसकी कल्पना किये हुए हूँ, वह ही मेरा नहीं है। शरीर तो मेरा मकान है। "मैं" नहीं, "शरीर" मकान है। शरीर में रहने वाला "चैतन्य चिदानन्द", जिसमें अनुभूति की अपूर्व शक्ति है, वह क्या है? मालिक है; किन्तु मालिक को याद किये बिना अनन्त काल से हम मकान के पीछे ही भटक रहे हैं, इसीलिए है यह "मैं", यह "मेरा", यह "मैं", यह मेरा; यह "मैं", यह "मेरा"—इस आसक्ति का कोई अन्त नहीं है। यह मोह-मूर्च्छा अन्तहीन है। इसे छोड़, भीतर जाग; वहीं सब है। □

—बालाघाट : 26 सितम्बर, 1983

है वह दु:खात्मक स्मृतियाँ भी करेगा और सुखात्मक भी। सुखात्मक स्मृतियों में वह झूमता है, एक-एक घटना के बयान में रस लेता है। एक घटना के चित्रण में एक घंटे का समय!! वर्तमान के एक यथार्थ क्षण की, वीतराग क्षण की तुलना इससे कीजिये!

दस वर्ष पहले मैंने अमुक जगह दही-बड़े खाये थे। इतने अच्छे दही-बड़े तो मुझे इधर के दस वर्षों में एक बार भी नहीं मिले। अब वे दही-बड़े भी नहीं हैं, वह समय भी नहीं है, पेट में आज उसका इतना-सा अंश भी नहीं है, वह तो बेचारा कभी का मल के रूप में नष्ट, या खाद बन गया। खाद में से फिर खेत में आ गया। आज उसका अंश हमारे खेत में है, किन्तु उसकी कल्पना करते हुए व्यक्ति का चित्त आज फिर प्रसन्नता से भर उठा है। क्या यह रागभाव नहीं है? इसमें स्पष्टत: रागभाव का बंध है। तो असंदिग्ध है कि व्यक्ति अतीत और भविष्य के झूले में ही वर्तमान में झूलता है। झूलता रहा है वर्तमान में, और पैगें भर रहा है अतीत, या भविष्य में; है न सुखद आश्चर्य?

ज्ञानी भगवंत कहते हैं: संबंधों में ममत्व का त्याग कर। त्याग उसे, और अनासक्त हो जा। जिसके प्रति तेरा जो कर्तव्य बनता है, उदारचेता बनकर उसकी सुख-शान्ति कायम कर और चित्त में जो अपना कर्तव्य बनता है, उसे पूरा कर; मन में कवि की इन पंक्तियों को गूंजने दे—

> जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
> घर सम्पत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय।।

यह शरीर जब तेरा नहीं है, तब परिवार तेरा कैसे होगा? मकान तेरा कैसे होगा? धन और धरती तेरी कैसी होगी? कैसे होगी, जब शरीर ही तेरा नहीं है तब? "शरीर ही तेरा नहीं है" चर्चा का यह भाव जब तेरे मन में जम जाएगा, तो वर्तमान संयोग, संयोग के रूप में ही रहेंगे। उन संयोगों का उपयोग होगा, व्यवहार होगा, पर आसक्ति टूट जाएगी। आसक्ति टूटेगी तो "मैं" के रूप में जो संकल्प तेरा है, वह भी टूट जाएगा। संकल्प टूटेगा, तो आत्मसाधना में विकल्प तुझे नहीं सतायेंगें; क्योंकि विकल्प तब तक सतायेंगें, जब तक तूने संकल्प स्वीकार कर रखे हैं। हम संकल्प को तोड़ना नहीं चाहते और विकल्प से छुट्टी चाहते हैं; तो यह कैसे हो सकता है? भोजन करना तो हम बंद नहीं करते और कहते हैं कि मल विसर्जित नहीं करना है, तो ऐसा कैसे होगा? जनमना तो पसंद है और मरना पसंद नहीं है, तो यह/ऐसा कैसे होगा? जवान होना पसंद है, बुढ़ापा पसंद नहीं है, तो

ऐसा कैसे होगा? जब आपके मन में ममत्व है तो उन पदार्थों से संबंधित विकल्प आपमें आयेंगें; निश्चित आयेंगें। विकल्प जितने कम करने हों उतनी ही आसक्ति कम करें; यही एक समाधान है वर्तमान में रहने का, और अतीत की लाश ढोने से बचने का।

जो भी जैन साधु-साध्वी बनते हैं, वे निश्चय ही धातु का त्याग करते हैं। जब धातु का त्याग करते हैं तब उसके बाद धातु से संबंधित विकल्प उनमें नहीं आते। संत आनंदघनजी ने बहुत अच्छा कहा है—"संकल्प तोड़ कर तू अपने-आप में विचरण कर, अनन्त काल से धन और धरती के प्रति, उन संयोग-संबंधों के प्रति जो तेरा संकल्प रहा है, वह संकल्प ही तुझे परिभ्रमण करा रहा है।"

संत स्वयं से कह रहे हैं: मस्त योगी, आनंदघन इस तन-मठ में तू क्यों सो रहा है? जाग जा और अपने ही घर में, अपने ही घट में चैतन्य चिदानन्द को देख, उसे कि जिसे देखने पर फिर किसी और को देखने की लालसा मन में नहीं रहती; उसे, जिसको पाने के बाद किसी और को पाने की भावना नहीं रहती। जब तक तू अपने-आपको खोये हुए है; खुद को तूने खोजा नहीं है, तब तक जगत् को पाने की लालसा तुझ में है, किन्तु जिस रोज "अपने" ही घट में तू "अपने" को पा लेगा, उस दिन फिर न बाहर में खोने का भाव रहेगा, न पाने का। पाना ही नहीं रहेगा, तो खोयेगा क्या? खोयेगा नहीं, तो पायेगा क्या? किन्तु ऐसा होगा कब? जब तू इस तथ्य का चिन्तन करेगा कि मैं अनन्त काल का एकाकी राही हूँ। मैं न किसी का हूँ और न कोई मेरा है; क्योंकि जिस शरीर में मैं चौबीसों घंटे अभिन्न रूप में रहता हूँ, "मैं" के रूप में उसकी कल्पना किये हुए हूँ, वह ही मेरा नहीं है। शरीर तो मेरा मकान है। "मैं" नहीं, "शरीर" मकान है। शरीर में रहने वाला "चैतन्य चिदानन्द", जिसमें अनुभूति की अपूर्व शक्ति है, वह क्या है? मालिक है; किन्तु मालिक को याद किये बिना अनन्त काल से हम मकान के पीछे ही भटक रहे हैं, इसीलिए है यह "मैं", यह "मेरा", यह "मैं", यह मेरा; यह "मैं", यह "मेरा"—इस आसक्ति का कोई अन्त नहीं है। यह मोह-मूर्च्छा अन्तहीन है। इसे छोड़, भीतर जाग; वहीं सब है। □

—बालाघाट : 26 सितम्बर, 1983

है वह दुःखात्मक स्मृतियाँ भी करेगा और सुखात्मक भी। सुखात्मक स्मृतियों में वह झूमता है, एक-एक घटना के बयान में रस लेता है। एक घटना के चित्रण में एक घंटे का समय!! वर्तमान के एक यथार्थ क्षण की, वीतराग क्षण की तुलना इससे कीजिये!

दस वर्ष पहले मैंने अमुक जगह दही-वड़े खाये थे। इतने अच्छे दही-बड़े तो मुझे इधर के दस वर्षों में एक बार भी नहीं मिले। अब वे दही-वड़े भी नहीं हैं, वह समय भी नही है, पेट में आज उसका इतना-सा अंश भी नहीं है, वह तो वेचारा कभी का मल के रूप में नष्ट, या खाद वन गया। खाद मे से फिर खेत में आ गया। आज उसका अंश हमारे खेत में है, किन्तु उसकी कल्पना करते हुए व्यक्ति का चित्त आज फिर प्रसन्नता से भर उठा है। क्या यह रागभाव नहीं है? इसमें स्पष्टतः रागभाव का बंध है। तो असंदिग्ध है कि व्यक्ति अतीत और भविष्य के झूले में ही वर्तमान में झूलता है। झूलता रहा है वर्तमान में, और पैंगें भर रहा है अतीत, या भविष्य में; है न सुखद आश्चर्य?

ज्ञानी भगवंत कहते हैं : संबंधों में ममत्व का त्याग कर। त्याग उसे, और अनासक्त हो जा। जिसके प्रति तेरा जो कर्तव्य बनता है, उदारचेता बनकर उसकी सुख-शान्ति कायम कर और चित्त में जो अपना कर्तव्य वनता है, उसे पूरा कर; मन में कवि की इन पंक्तियों को गूँजने दे—

> जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
> घर सम्पत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय।।

यह शरीर जब तेरा नहीं है, तब परिवार तेरा कैसे होगा? मकान तेरा कैसे होगा? धन और धरती तेरी कैसी होगी? कैसे होगी, जब शरीर ही तेरा नहीं है तब? "शरीर ही तेरा नही है" चर्चा का यह भाव जब तेरे मन में जम जाएगा, तो वर्तमान संयोग, संयोग के रूप में ही रहेंगे। उन संयोगों का उपयोग होगा, व्यवहार होगा, पर आसक्ति टूट जाएगी। आसक्ति टूटेगी तो "मैं" के रूप में जो संकल्प तेरा है, वह भी टूट जाएगा। संकल्प टूटेगा, तो आत्मसाधना में विकल्प तुझे नहीं सतायेंगें; क्योंकि विकल्प तब तक सतायेंगें, जब तक तूने संकल्प स्वीकार कर रखे हैं। हम संकल्प को तोड़ना नहीं चाहते और विकल्प से छुट्टी चाहते हैं; तो यह कैसे हो म्कता है? भोजन करना तो हम बंद नहीं करते और कहते हैं कि मल विसर्जित नहीं करना है, तो ऐसा कैसे होगा? जनमना तो पसंद है और मरना पसंद नहीं है, तो यह/ऐसा कैसे होगा? जवान होना पसंद है, बुढ़ापा पसंद नही है, तो

ऐसा कैसे होगा? जब आपके मन में ममत्व है तो उन पदार्थों से संबंधित विकल्प आपमें आयेंगें; निश्चित आयेंगें। विकल्प जितने कम करने हों उतनी ही आसक्ति कम करें; यही एक समाधान है वर्तमान में ठहरने का, और अतीत की लाश ढोने से बचने का।

जो भी जैन साधु-साध्वी बनते हैं, वे निश्चय ही धातु का त्याग करते हैं। जाब धातु का त्याग करते हैं तब उसके बाद धातु से संबंधित विकल्प उनमें नहीं आते। संत आनंदघनजी ने बहुत अच्छा कहा है—"संकल्प तोड़ कर तू अपने-आप में विचरण कर, अनन्त काल से धन और धरती के प्रति, उन संयोग-संबंधों के प्रति जो तेरा संकल्प रहा है, वह संकल्प ही तुझे परिभ्रमण करा रहा है।"

संत स्वयं से कह रहे हैं: मस्त योगी, आनंदघन इस तन-मठ में तू क्यों सो रहा है? जाग जा और अपने ही घर में, अपने ही घट में चैतन्य चिदानन्द को देख, उसे कि जिसे देखने पर फिर किसी और को देखने की लालसा मन में नहीं रहती; उसे, जिसको पाने के बाद किसी और को पाने की भावना नहीं रहती। जब तक तू अपने-आपको खोये हुए है; खुद को तूने खोजा नहीं है, तब तक जगत् को पाने की लालसा तुझ में है, किन्तु जिस रोज "अपने" ही घट में तू "अपने" को पा लेगा, उस दिन फिर न बाहर में खोने का भाव रहेगा, न पाने का। पाना ही नहीं रहेगा, तो खोयेगा क्या? खोयेगा नहीं, तो पायेगा क्या? किन्तु ऐसा होगा कब? जब तू इस तथ्य का चिन्तन करेगा कि मैं अनन्त काल का एकाकी राही हूँ। मैं न किसी का हूँ और न कोई मेरा है; क्योंकि जिस शरीर में मैं चौबीसों घंटे अभिन्न रूप में रहता हूँ, "मैं" के रूप में उसकी कल्पना किये हुए हूँ, वह ही मेरा नहीं है। शरीर तो मेरा मकान है। "मैं" नहीं, "शरीर" मकान है। शरीर में रहने वाला "चैतन्य चिदानन्द", जिसमें अनुभूति की अपूर्व शक्ति है, वह क्या है? मालिक है; किन्तु मालिक को याद किये बिना अनन्त काल से हम मकान के पीछे ही भटक रहे हैं, इसीलिए है यह "मैं", यह "मेरा", यह "मैं", यह मेरा; यह "मैं", यह "मेरा"—इस आसक्ति का कोई अन्त नहीं है। यह मोह-मूर्च्छा अन्तहीन है। इसे छोड़, भीतर जाग; वहीं सब है। □

—बालाघाट : 26 सितम्बर, 1983

अपनी चौकीदारी

महापुरुषों के जीवन के गुण सहज होते हैं, जिनके सतत् अभ्यास की चर्चा हम लोग बहुधा करते हैं। उनमें तो ये सहज होते हैं, किन्तु हमें इनका अभ्यास करना होता है। हमारा लक्ष्य इन्हें प्राप्त करने का होना चाहिये। सोचें कि हमने उन्हें महापुरुष क्यों कहा; इसलिए कि जन-जीवन से हट कर उनका व्यक्तित्व स्वयं में भी प्रेरक, अनमोल, अमोल है। एक नहीं, अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनकी चर्चा मैं समय-समय पर करती रही हूँ।

दो दिन पूर्व ही हमने सुना है कि भगवान् कृष्ण की गुणदृष्टि अपूर्व थी; इसीलिए एक विकृत शरीर मृत कुत्ते को देख कर भी उनके मुँह से यही निकला कि इसकी दन्तपंक्ति कितनी सुन्दर है! उनका बालसखा सुदामा जब उनसे मिलने गया, उनकी राजसभा में पहुँचा तब वे जिस आत्मीयता के साथ उससे मिले, उसे क्या भारतीय संस्कृति का इतिहास कभी विस्मृत कर सकेगा ? उनके इस मिलन में सुदामा के मैले-कुचैले वस्त्र बाधक नहीं बने, उसकी ग़रीबी बाधक नहीं बनी, उसकी दीनता या साधनहीनता बाधक नहीं बनी; किन्तु दूसरी ओर हम हैं कि हमारी नज़र दूसरों के दोषों पर ही चौबीसों घण्टे घूमती है, बुराई ही ढूँढ़ती रहती है।

दस बार अच्छा कार्य होगा, जीभ नहीं खुलेगी, और जैसे ही किसी कार्य में कमी आयी नहीं कि कमी बताने के लिए वह तुरन्त तैयार हो जाएगी। जब कहीं प्रशंसा का अवसर होगा, तब जीभ मौन रहेगी और थोड़ा भी ग़लत काम हुआ तो जिह्वा उस क्षण बहुत जल्दी खुलेगी, बहुत अधिक खुलेगी, बहुत-बहुत अधिक खुलेगी। यह असभ्यता का लक्षण है, द्वेष का परिचय है, आत्मीयता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि किसी के प्रति हममें ईर्ष्या है, द्वेष है, उसके लिए कालुष्य है, कोई पूर्वग्रह है तो वर्तमान में उसके हित में, उसकी प्रशंसा में, उसकी प्रसिद्धि में, उसकी अधिकार-वृद्धि में हम बाधक बनते हैं। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति

के प्रति हमारी आत्मीयता नहीं बनेगी। उसके प्रति मैत्री के भाव नहीं आयेंगे, उलटे जलन के भाव आयेंगे, ईर्ष्या के भाव आयेंगे, द्वेष के भाव आयेंगे; और ऐसी भावना से बोली गयी वाणी कभी मधुर नहीं होगी, मधुरता का नाटक होगी; मुस्कुराहट होगी, पर उसमें भी कोई प्रसन्नता या स्वाभाविकता नहीं होगी। चेहरे पर कोरी बनावट होगी। ऐसी बनावट तो व्यक्ति अनेक बार प्रकट करता है। भाव कुछ, भाषा कुछ; जहाँ ऐसे सम्बन्ध होते हैं, वहाँ सब कुछ औपचारिक होता है। मान लीजिये, एक अच्छी वस्तु, मनपसंद वस्तु, महत्त्वपूर्ण वस्तु, किसी को देना है: पर देने के भाव मन में नहीं हैं। वाणी में देने की औपचारिकता ज़रूर है, किन्तु भीतर-भीतर हम उसे देने से बच रहे हैं, इसीलिए आपके शब्द इस तरह के हैं: तुम्हें यह चीज लेनी है क्या? तुम लोगे क्या यह चीज? अर्थात् शब्दों में ऐसे भाव व्यक्त करेंगे कि सामने वाले का मन लेने का होता भी हो तो वह उसे नहीं लेगा; क्योंकि भीतर की कलुषता शब्दों में चिपटे बिना नहीं रहती। भावभिव्यक्ति के लिए शब्द ही प्रमाण हैं। मैं पूरी तरह से तो नहीं कहती, किन्तु यह मेरा अनुमान है; अनुमान भी कई बार काफी सही निकलता है।

सुनिये, जब तक हृदय में सात्विकता नहीं आयेगी, तब तक हम महापुरुषों की वाणी सुनने के बाद भी अपना जीवन सार्थक नहीं कर पायेंगे। और जब तक हमारा हृदय उनके गुणों से प्रभावित नहीं होगा; तब तक दूसरों के लिए हम किसी अच्छाई के निमित्त बन सकें, यह बहुत मुश्किल है; हमारी वाणी में ताक़त आयेगी ही नहीं। हमारे कहने का असर सामने वाले पर होगा ही नहीं। जो शब्द हम बोलेंगे उनका आंशिक प्रभाव ही हमारे जीवन पर होगा, भले ही सामने वालों का हृदय प्रभावित हो, किन्तु हम वंचित रह जाएँगे; और फिर बहुत कुछ सामने वाले की योग्यता, उसकी परिपक्वता, उसकी गुण-दृष्टि, उसके हृदय की मृदुता पर भी निर्भर करेगा।

कहने वाले का असर यदि होता है तो निश्चित ही वह बात किसी-न-किसी रूप में उसके जीवन में होनी चाहिये। जब तक उसके अपने जीवन में वह नहीं होगी, तब तक उसकी भाषा केवल हवा बनी रहेगी। सत्संग में हमें अपने सद्‌गुणों के विकास के लिए अन्तःशोधन करना चाहिये, अपना विश्लेषण करना चाहिये, स्वयं को समझने में ईमानदारी का परिचय देना चाहिये। आत्मालोचन का यह कार्य हम ही कर सकते हैं; क्योंकि दूसरों के दोष देखना तो कोई बड़ी बात नहीं है; पर अपने दोष देखना; जाँचना-परखना बहुत बड़ी बात है। जब अपने दोष हमें खुद दिखायी देने लगेंगे तब मानिये उस दिन से कि हमारे जीवन का सम्यक् विकास प्रारंभ हो गया है; किन्तु यह बहुत मुश्किल है कि हमें अपने दोष दिखायी दें।

अपनी चौकीदारी

महापुरुषों के जीवन के गुण सहज होते हैं, जिनके सतत् अभ्यास की चर्चा हम लोग बहुधा करते हैं। उनमें तो ये सहज होते हैं, किन्तु हमें इनका अभ्यास करना होता है। हमारा लक्ष्य इन्हें प्राप्त करने का होना चाहिये। सोचें कि हमने उन्हें महापुरुष क्यों कहा; इसलिए कि जन-जीवन से हट कर उनका व्यक्तित्व स्वयं में भी प्रेरक, अनमोल, अमोल है। एक नहीं, अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनकी चर्चा मैं समय-समय पर करती रही हूँ।

दो दिन पूर्व ही हमने सुना है कि भगवान् कृष्ण की गुणदृष्टि अपूर्व थी; इसीलिए एक विकृत शरीर मृत कुत्ते को देख कर भी उनके मुँह से यही निकला कि इसकी दन्तपंक्ति कितनी सुन्दर है! उनका बालसखा सुदामा जब उनसे मिलने गया, उनकी राजसभा में पहुँचा तब वे जिस आत्मीयता के साथ उससे मिले, उसे क्या भारतीय संस्कृति का इतिहास कभी विस्मृत कर सकेगा? उनके इस मिलन में सुदामा के मैले-कुचैले वस्त्र बाधक नहीं बने, उसकी ग़रीबी बाधक नहीं बनी, उसकी दीनता या साधनहीनता बाधक नहीं बनी; किन्तु दूसरी ओर हम हैं कि हमारी नजर दूसरों के दोषों पर ही चौबीसों घण्टे घूमती है, बुराई ही ढूँढ़ती रहती है।

दस बार अच्छा कार्य होगा, जीभ नहीं खुलेगी, और जैसे ही किसी कार्य में कमी आयी नहीं कि कमी बताने के लिए वह तुरन्त तैयार हो जाएगी। जब कहीं प्रशंसा का अवसर होगा, तब जीभ मौन रहेगी और थोड़ा भी ग़लत काम हुआ तो जिह्वा उस क्षण बहुत जल्दी खुलेगी, बहुत अधिक खुलेगी, बहुत-बहुत अधिक खुलेगी। यह असभ्यता का लक्षण है, द्वेष का परिचय है, आत्मीयता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि किसी के प्रति हममें ईर्ष्या है, द्वेष है, उसके लिए कालुष्य है, कोई पूर्वग्रह है तो वर्तमान में उसके हित में, उसकी प्रशंसा में, उसकी प्रसिद्धि में, उसकी अधिकार-वृद्धि में हम बाधक बनते हैं। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति

जाएगा। ज्ञानी कहते हैं कि जिस दोप पर जितनी ज्यादा दृष्टि तुम्हारी जाएगी वह दोप तुममें जितना है उससे ज्यादा बढ़ जाएगा; इसलिए दूसरों के दोप देखने में चौकीदार बनना कोई समझदारी नहीं है। जितना काम चौकीदार करता है, कृपया, उतना ही काम कीजिये यानी गेट पर खड़े रहिये। अपने मन के सिंहद्वार पर खड़े रहिये; किन्तु दूसरों का जीना हराम न कीजिये, अपने जीवन की शान्ति भंग मत कीजिये। अधिक कीजिये तो सार-संभाल के रूप में दूसरों की मदद कीजिये।

यदि कोई व्यक्ति चौकीदार से कहे कि चौकीदारजी, मैं यह थैला रख रहा हूँ, इसे सँभालना, इसका थोड़ा ध्यान रखना। मैं कुछ देर वाद इसे ले जाऊँगा, तो वह कहता है: ठीक है। रख जाइये। ध्यान रखूँगा। ऐसे में चौकीदार अपने मकान-मालिक की चौकीदारी भी कर रहा है, और जो सामान आपने उसे सँभलाया है, उसकी चौकीदारी भी कर रहा है। अव इस वीच यदि सामने के मकान से एक व्यक्ति आता है और कहता है कि चौकी-दारजी, तुम्हें मालूम है कि हमारे यहाँ चोरी कब हो गयी? चोर कव घुसा? कब वह निकला, कब वह आया, कव वह गया? तो भला वह उस सबका ध्यान कैसे रखेगा? नहीं रख सकेगा; इसलिए उसने कहा—मुझे क्या मालूम? अरे भई, तुम सामने ही तो हो; तुम यहाँ खड़े हो और तुम्हें यह नहीं मालूम? चौकीदार ने कहा—सुनिये सेठ साहव, मैं चौकीदार हूँ यह निश्चित है; किन्तु चौकीदार अपने मालिक का हूँ। नौकरी मैं उन्हीं की करता हूँ; आपकी नहीं।

हम भी अपने जीवन की वरावर चौकसी रखें, उसे वरावर देखें कि दस वरस पहले वह कैसा था, और अव कैसा है? उसमें से वुराइयाँ घट रही हैं, या उसमें वुराइयाँ और वढ़ रही हैं। पूछें: कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस वरस पहले आपके जीवन में कोई व्यसन नहीं था और अव आपके जीवन में व्यसन वढ़ गये हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस वरस पहले आप साल में दो वार थिएटर जाते थे, अव दस वार जाने लगे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस वर्ष पहले आपकी नज़र केवल अपनी पत्नी के अलावा किसी और पर उठती नहीं थी, वार-वार वहीं टिकती थी और अव दूसरी स्त्रियों पर भी आपकी नज़र उठने लगी है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि पहले आप कमाने में जैसा ग़लत ढंग अपनाते थे, उससे कहीं ज्यादा ग़लत ढंग अव अपनाने लगे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जितना पैसा वढ़ गया उतना ही उसका मद भी वढ़ गया है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हर समय आप दूसरों को गाली ही देते रहते हैं; उनसे आक्रोश-आवेश में ही वोलते रहते हैं? चौकीदारी कीजिये, अपने जीवन की। देखिये कि आपके जीवन में कौन-कौन से नये दोप-रूपी

दूसरों के दोष देख लेने में हमारी नज़र बड़ी पैनी है। कई व्यक्तियों की दृष्टि तो इस तरह घूमती रहती है कि दूसरों की हर गतिविधि की जानकारी उन्हें रहे; कहीं रहें वे, आँखें उनकी बराबर घूमती हैं। इस तरह दूसरों की हर प्रवृति का बोझ वे अपने मस्तिष्क पर ढोते रहते हैं। कोई प्रयोजन नहीं, कोई मतलब नहीं, उन दोषों को देखने से उनके जीवन-विकास में कोई लाभ नहीं। वैसा करने से उन्हें न तो रोटी मिलती है, न वस्त्र, फिर भी उनकी दोष-ढूंढ़ती नज़र बराबर घूमती रहती है। हर समय दूसरों की बुराई के निरीक्षक और परीक्षक बने वे फिरते रहते हैं। प्रश्न है: क्या हमने कभी स्वयं-को-स्वयं-का-चौकीदार बनाया है? 'चौकीदार' शब्द आपने बहुत बार सुना होगा; आखिर चौकीदार का काम क्या होता है?

जब कोई सेठ अपने मकान में, अपनी दुकान में, चौकीदार रखता है, तब चौकीदार ये काम करता है कि कौन आया, कौन गया, कौन क्या लाया, कौन क्या ले गया। उसकी ड्यूटी है: चौकीदारी। सेठ ने उसे यह कह कर ही रखा है कि भैया तुम ड्यूटी देना देहरी पर, दरवाजे पर, गेट पर। खड़े रहना पूरे दिन, और बराबर इस बात का ध्यान रखना कि कहाँ-क्या हो रहा है। ध्यान रखने की ड्यूटी उसे दी गयी है, 'ध्यान रखने' के पैसे उसे मिलते हैं, 'ध्यान रखना' उसकी नौकरी है।

जाएगा। ज्ञानी कहते हैं कि जिस दोष पर जितनी ज्यादा दृष्टि तुम्हारी जाएगी वह दोष तुममें जितना है उससे ज्यादा बढ़ जाएगा; इसलिए दूसरों के दोष देखने में चौकीदार बनना कोई समझदारी नहीं है। जितना काम चौकीदार करता है, कृपया, उतना ही काम कीजिये यानी गेट पर खड़े रहिये। अपने मन के सिंहद्वार पर खड़े रहिये; किन्तु दूसरों का जीना हराम न कीजिये, अपने जीवन की शान्ति भंग मत कीजिये। अधिक कीजिये तो साल-संभाल के रूप में दूसरों की मदद कीजिये।

यदि कोई व्यक्ति चौकीदार से कहे कि चौकीदारजी, मैं यह थैला रख रहा हूँ, इसे सँभालना, इसका थोड़ा ध्यान रखना। मैं कुछ देर बाद इसे ले जाऊँगा, तो वह कहता है: ठीक है। रख जाइये। ध्यान रखूंगा। ऐसे में चौकीदार अपने मकान-मालिक की चौकीदारी भी कर रहा है, और जो सामान आपने उसे सँभलाया है, उसकी चौकीदारी भी कर रहा है। अब इस बीच यदि सामने के मकान से एक व्यक्ति आता है और कहता है कि चौकी-दारजी, तुम्हें मालूम है कि हमारे यहाँ चोरी कब हो गयी? चोर कब घुसा? कब वह निकला, कब वह आया, कब वह गया? तो भला वह उस सबका ध्यान कैसे रखेगा? नहीं रख सकेगा; इसलिए उसने कहा—मुझे क्या मालूम? अरे भई, तुम सामने ही तो हो; तुम यहाँ खड़े हो और तुम्हें यह नहीं मालूम? चौकीदार ने कहा—सुनिये सेठ साहब, मैं चौकीदार हूँ यह निश्चित है; किन्तु चौकीदार अपने मालिक का हूँ। नौकरी मैं उन्हीं की करता हूँ; आपकी नहीं।

हम भी अपने जीवन की बराबर चौकसी रखें, उसे बराबर देखें कि दस बरस पहले वह कैसा था, और अब कैसा है? उसमें से बुराइयाँ घट रही हैं, या उसमें बुराइयां और बढ़ रही हैं। पूछें: कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस बरस पहले आपके जीवन में कोई व्यसन नहीं था और अब आपके जीवन में व्यसन बढ़ गये हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस बरस पहले आप साल में दो बार थिएटर जाते थे, अब दस बार जाने लगे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस वर्ष पहले आपकी नज़र केवल अपनी पत्नी के अलावा किसी और पर उठती नहीं थी, बार-बार वहीं टिकती थी और अब दूसरी स्त्रियों पर भी आपकी नज़र उठने लगी है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि पहले आप कमाने में जैसा ग़लत ढंग अपनाते थे, उससे कहीं ज्यादा ग़लत ढंग अब अपनाने लगे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जितना पैसा बढ़ गया उतना ही उसका मद भी बढ़ गया है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हर समय आप दूसरों को गाली ही देते रहते हैं; उनसे आक्रोश-आवेश में ही बोलते रहते हैं? चौकीदारी कीजिये, अपने जीवन की। देखिये कि आपके जीवन में कौन-कौन से नये दोष-रूपी

दूसरों के दोष देख लेने में हमारी नजर बड़ी पैनी है। कई व्यक्तियों की दृष्टि तो इस तरह घूमती रहती है कि दूसरों की हर गतिविधि की जानकारी उन्हें रहे; कहीं रहें वे, आँखें उनकी बराबर घूमती हैं। इस तरह दूसरों की हर प्रवृति का बोझ वे अपने मस्तिष्क पर ढोते रहते हैं। कोई प्रयोजन नहीं, कोई मतलब नहीं, उन दोषों को देखने से उनके जीवन-विकास में कोई लाभ नहीं। वैसा करने से उन्हें न तो रोटी मिलती है, न वस्त्र, फिर भी उनकी दोष-ढूंढ़ती नजर बराबर घूमती रहती है। हर समय दूसरों की बुराई के निरीक्षक और परीक्षक बने वे फिरते रहते हैं। प्रश्न है: क्या हमने कभी स्वयं-को-स्वयं-का-चौकीदार बनाया है? 'चौकीदार' शब्द आपने बहुत बार सुना होगा; आखिर चौकीदार का काम क्या होता है?

जब कोई सेठ अपने मकान में, अपनी दुकान में, चौकीदार रखता है, तब चौकीदार ये काम करता है कि कौन आया, कौन गया, कौन क्या लाया, कौन क्या ले गया। उसकी ड्यूटी है: चौकीदारी। सेठ ने उसे यह कह कर ही रखा है कि भैया तुम ड्यूटी देना देहरी पर, दरवाजे पर, गेट पर। खड़े रहना पूरे दिन, और बराबर इस बात का ध्यान रखना कि कहाँ-क्या हो रहा है। ध्यान रखने की ड्यूटी उसे दी गयी है, 'ध्यान रखने' के पैसे उसे मिलते हैं, 'ध्यान रखना' उसकी नौकरी है।

हम जरा अपने मन से पूछें कि हम कितने व्यक्तियों की अवैतनिक चौकीदारी करते हैं, कितनों के आचरण की निःशुल्क चौकीदारी करते हैं; जबकि वे दो टके भी इस चौकीदारी के हमें नहीं देते। यदि आपको चौकीदार ही बनना है, तो अवश्य बनिये, जल्द बनिये; पर चौकीदारी मात्र दूसरों ही की नहीं, आप अपने जीवन की भी कीजिये। आपने जिन व्यक्तियों के जीवन की जिम्मेदारी ली है, जिनका उत्तरदायित्व आप पर है, या जिन व्यक्तियों ने आपसे कहा है कि आप उनके जीवन की चौकीदारी करें, मात्र उतनों की ही चौकीदारी आप कीजिये; सारी दुनिया के चौकीदार आप मत बनिये।

चौकीदार बनना कोई बहुत अच्छी बात नहीं है। हर समय दूसरों के दोष देखने में आँख घुमाने वाला व्यक्ति अपने जीवन को ही 'दोषी' बनाता है, उसका जीवन दोषों का कचराघर बन जाता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद ने लिखा है: "मलिन चित्त की छाया भी हमारे चित्त को मलिन करती है"। मलिन चित्त की छाया भी जब हमारे चित्त को मलिन करती है तब हमारा चित्त जब हर समय दूसरों की मलिना ही देखता रहेगा तब तो फिर हमारा जीवन मलिनताओं का घूरा बन

जाएगा। ज्ञानी कहते हैं कि जिस दोष पर जितनी ज्यादा दृष्टि तुम्हारी जाएगी वह दोष तुममें जितना है उससे ज्यादा बढ़ जाएगा; इसलिए दूसरों के दोष देखने में चौकीदार बनना कोई समझदारी नहीं है। जितना काम चौकीदार करता है, कृपया, उतना ही काम कीजिये यानी गेट पर खड़े रहिये। अपने मन के सिंहद्वार पर खड़े रहिये; किन्तु दूसरों का जीना हराम न कीजिये, अपने जीवन की शान्ति भंग मत कीजिये। अधिक कीजिये तो सार-संभाल के रूप में दूसरों की मदद कीजिये।

यदि कोई व्यक्ति चौकीदार से कहे कि चौकीदारजी, मैं यह थैला रख रहा हूँ, इसे सँभालना, इसका थोड़ा ध्यान रखना। मैं कुछ देर बाद इसे ले जाऊँगा, तो वह कहता है: ठीक है। रख जाइये। ध्यान रखूंगा। ऐसे में चौकीदार अपने मकान-मालिक की चौकीदारी भी कर रहा है, और जो सामान आपने उसे सँभलाया है, उसकी चौकीदारी भी कर रहा है। अब इस बीच यदि सामने के मकान से एक व्यक्ति आता है और कहता है कि चौकी-दारजी, तुम्हें मालूम है कि हमारे यहाँ चोरी कब हो गयी? चोर कब घुसा? कब वह निकला, कब वह आया, कब वह गया? तो भला वह उस सबका ध्यान कैसे रखेगा? नहीं रख सकेगा; इसलिए उसने कहा—मुझे क्या मालूम? अरे भई, तुम सामने ही तो हो; तुम यहाँ खड़े हो और तुम्हें यह नहीं मालूम? चौकीदार ने कहा—सुनिये सेठ साहब, मैं चौकीदार हूँ यह निश्चित है; किन्तु चौकीदार अपने मालिक का हूँ। नौकरी मैं उन्हीं की करता हूँ; आपकी नहीं।

हम भी अपने जीवन की बराबर चौकसी रखें, उसे बराबर देखें कि दस बरस पहले वह कैसा था, और अब कैसा है? उसमें से बुराइयाँ घट रही हैं, या उसमें बुराइयाँ और बढ़ रही हैं। पूछें: कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस बरस पहले आपके जीवन में कोई व्यसन नहीं था और अब आपके जीवन में व्यसन बढ़ गये हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस बरस पहले आप साल में दो बार थिएटर जाते थे, अब दस बार जाने लगे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि दस वर्ष पहले आपकी नज़र केवल अपनी पत्नी के अलावा किसी और पर उठती नहीं थी, बार-बार वहीं टिकती थी और अब दूसरी स्त्रियों पर भी आपकी नजर उठने लगी है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि पहले आप कमाने में जैसा ग़लत ढंग अपनाते थे, उससे कहीं ज्यादा ग़लत ढंग अब अपनाने लगे हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जितना पैसा बढ़ गया उतना ही उसका मद भी बढ़ गया है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हर समय आप दूसरों को गाली ही देते रहते हैं; उनसे आक्रोश-आवेश में ही बोलते रहते हैं? चौकीदारी कीजिये, अपने जीवन की। देखिये कि आपके जीवन में कौन-कौन से नये दोष-रूपी

चोर घुस आये हैं। देखिये कि जो बुराइयाँ पहले नहीं थीं, वे बुराइयाँ अब तो नहीं आ गयी हैं?

उम्र जैसे बढ़ती जाए, वैसे दोष घटते जाएँ तो ज़िन्दगी का कोई अर्थ है; उम्र बढ़ती जाए और दोप घटते जाएँ, तो संतोप की साँस लीजिये, चित्त में प्रसन्नता का अनुभव कीजिये कि आपके जीवन में दोष घटते जा रहे हैं, किन्तु यदि जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जा रही है (उम्र बढ़ नहीं रही है मृत्यु की अपेक्षा घट रही है) और दोष बढ़ते जा रहे हैं तो ये दिन हँसने के नहीं हैं, रोने के हैं। संतोष की साँस लेने के क्षण नहीं है, सिसकियाँ भरने के क्षण हैं कि यह मनुष्य-ज़िन्दगी, इतना महँगा मानव-जीवन जो इतनी मुश्किल से मुझे मिला था, और मैंने उसे इस तरह बर्बाद कर दिया है; जैसे-जैसे इसकी बिदाई नजदीक आती जा रही है, वैसे-वैसे मैं अपने जीवन में दोषों को बढ़ाता जा रहा हूँ। यदि दोष इसी तरह बढ़ते गये तो क्या ज़िन्दगी का बढ़ना उपयोगी है?

बन्धुओ! जीवन को सँभालिये। अपने चरित्र को ऊपर उठाइये। चरित्र-धन ही सबसे बड़ा धन है। चरित्र ही मनुष्य का व्यक्तित्व है। जिसके जीवन में शील नहीं है, जिसका चरित्र सच्चा नहीं है, जिसका चरित्र अच्छा नहीं है, वह व्यक्ति केवल हाड़-मांस का निरर्थक ढाँचा है। सिर्फ खोखा है। उसका जीवन जब उसकी अपनी ही नज़रों में अच्छा नहीं है, तब दूसरों की नज़रों में भला वह कैसे होगा? जब उसे अपना मन ही काटता है किसी क्षण उसे अपने पर ही ग्लानि आती है; तब फिर दूसरे यदि उसे बुरी नज़र से देखें तो इसमें आश्चर्य कैसा? इसलिए हम महापुरुषों के जितने भी जीवन-चरित्र सुनें, अपने चरित्र को बनाने के लिए सुनें। पचास-साठ साल की इस यात्रा में यदि हमने दोषों का ही रोपण किया, यदि हमने विकारों को ही और अधिक मजबूत किया तो फिर क्या अर्थ है राम की इस महान् धरती पर आने का? क्या अर्थ है कृष्ण के उपदेश सुनने का? क्या अर्थ है महावीर की पूजा का? जीवन को यदि सार्थक करना है तो इसके एक अप्रमत्त चौकीदार बनिये। चौकीदार बनने में देखिये कि आपके जीवन का समय कैसा बीत रहा है? धन का उपयोग कैसा हो रहा है? क्या आपकी नज़र ठीक से घूम रही है? क्या आपका मन सद्विचार कर रहा है? बुरी बात क्यों सोचता है? मन को पाप से क्यों भरता है? बुद्धि को दुर्बुद्धि में क्यों बदलता है? इन आँखों से छिद्र, या दोप मत देख, स्वस्ति देख; यदि देखना ही है तो किसी संत को देख, किसी त्यागी-तपस्वी को देख। तुझे नज़र टिकानी ही है तो वहां टिका जहाँ मीराँ का चित्र है; वहाँ टिका, जहाँ द्रौपदी का चित्र है; वहाँ टिका, जहाँ सती सीता की तस्वीर है।

"मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे"—श्रीकृष्ण के चरणो में जिसने अपना जीवन समर्पित किया, भक्ति से जिसका मन ओत-प्रोत हो गया, और जिस अविचल भक्त हृदय को जीतने में उसका अपना परिवार भी समर्थ न हो सका; उस मीराँ की भक्ति के पवित्र परमाणु, उस भक्ति के विशुद्ध परमाणुओं ने क्या कर दिखाया? ज़हर को भी अमृत में वदल दिया। वह मीराँ जिसने तन, मन और धन तीनों अपने परम आराध्य पर न्यौछावर कर दिये, तीनो का मोह काट दिया; श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जिसके हृदय में किसी का आवास नही था, किसी का निवास नही था; किसी से सम्वन्ध नही था, किसी पर चित्त नही था, किसी की चर्चा नही थी; किसी अन्य को देखना, किसी अन्य से बोलना उसके लिए संभव ही नहीं था; उसके इन शब्दों में "मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे" वनावट नही थी, धोखा नहीं था, विश्वासघात नही था। ये शब्द केवल वोलने के लिए नहीं थे। इनके पीछे उसका अनन्य समर्पण था; ऐसा समर्पण जिसके लिए उसने लोक-लाज तक का त्याग किया। प्रभु-भक्ति में लीन होने के लिए त्याग किया; वेशर्म वनने के लिए लोकलाज नहीं छोड़ी।

किसी नारी के चरणों में लोटने के लिए लोकलाज का त्याग मत करना। वहाँ तो लोक-लाज ही ज़रूरी है। लोकलाज का वन्धन ही तुम्हें वहाँ बचा लेगा। वहाँ लोक-लाज जीवन की सुरक्षा और अनुशासन के लिए ज़रूरी है। सामाजिक भय वहुत सारी वुराइयों से वचाता है। कितनी ही ऐसी वुराइयाँ हैं, जिनमें व्यक्ति इसलिए वचा हुआ है कि उसकी आँख में लोकलाज का संयम है। यदि लोकलाज की आन न हो, लोकलाज का अनुशासन न हो तो व्यक्ति को निर्लज्जता का परिचय देने में कोई देर नहीं लगेगी। मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि सत्संग से व्यक्ति जितना वुराई से वचता है, शिक्षा से जितना वचता है, जितना और किसी निमित्त से वचता है, उससे कहीं अधिक वह समाज के भय से वचता है। समाज से डरने के कारण ही समाज में कई वुराइयां नहीं आ पातीं, कई पापों से व्यक्ति इसलिए बच जाता है कि 'समाज क्या कहेगा?' सत्ता जितना व्यक्ति को सँभालती है, परम्परा जितना व्यक्ति को सँभालती है, मैं कभी-कभी ऐसा सोचती हूँ कि उससे कहीं ज्यादा समाज व्यक्ति को सँभालता है।

जो लोकलाज छोड़ देगा, जिसके जीवन में लज्जा गुण समाप्त हो जाएगा; वह निर्लज्ज तो कहीं भी चला जाएगा, कैसा भी जीवन जी लेगा। उसके मन में कोई संकोच और भय नहीं रहेगा। आज ऐसे कितने ही व्यक्ति संसार में हैं, जिन्होंने वच्चों की जिम्मेदारी उठा रखी है, पत्नी के परिपालन का भार ले रखा है, जो गार्हस्थिक के जीवन में हैं, परिवार के प्रमुख हैं,

परिवार के अभिभावक हैं, जो परिवार की जिम्मेदारी लेकर बैठे हैं, और सुरा-सुन्दरी के चक्कर में पड़े हैं। जो शराब पीने वाला, व्यभिचार करने वाला है, वह क्या परिवार का अभिभावक होगा? क्या परिवार का संचालक होगा? क्या परिवार को सन्मार्ग दिखा सकेगा? क्या परिवार के उत्तरदायित्व को निभा पायेगा? ऐसे व्यक्ति के जीवन का क्या अर्थ है, जो अपने जीवन की चौकीदारी भी सफलतापूर्वक नहीं कर पा रहा है? जो अपने जीवन को ही नहीं सँभाल सकता, वह भला किसी और के जीवन को कैसे सँभालेगा? उसका जीवन जब कभी भी निमित्त बनेगा, दूसरों के पतन में ही निमित्त बनेगा।

किसी एक भाई ने मुझसे कहा कि महाराज हमारे बच्चों में अच्छे संस्कार नहीं आ रहे हैं; आप उन्हें थोड़ी प्रेरणा दीजिये, आप कुछ शिक्षा दीजिये! मुझे उन भाई का जीवन कुछ मालूम हो गया था, अत: मैंने कहा बन्धु, बच्चों को संस्कार मिलना चाहिये, ऐसा जब आप सोचते हैं तब आप क्या दे रहे हैं यह सोचा है? और जितने संस्कार आप उन्हें दे रहे हैं उतने पर्याप्त नहीं हैं क्या? इससे अधिक और उन्हें आप क्या देना चाहते हैं? जिस व्यक्ति को मैं संबोधित कर रही थी, वह व्यक्ति रात को बारह बजे, दो बजे तक घर लौटता था, जुआ खेलता था, ताश खेलने और सस्ते मनोरंजन की प्रवृत्तियों में बैठने में अपना बहुमूल्य समय बर्बाद करता था। भला वह अपने बच्चों को क्या संस्कार देगा? कैसे संस्कार देगा?

मैंने उससे कहा—आप क्या संस्कार दे रहे हैं? इतने संस्कार दे कर भी आपको संतोष नहीं है? तो और फिर क्या देना चाहते हैं उन्हें? मैंने कहा— क्या आप उन्हें दो बजे रात तक जुआ खेलने का संस्कार नहीं दे रहे हैं? पूरे दिन में दस-पन्द्रह पान के बीड़े चबा कर धन बर्बाद करने की शिक्षा नहीं दे रहे हैं क्या? अपनी पत्नी पर हाथ उठाने की शिक्षा उन्हें नहीं दे रहे हैं क्या? यह कि भविष्य में तू भी अपनी निपराध पत्नी को इस तरह मारना। अपने माँ-बाप के सामने बोल कर क्या उन्हें आप अच्छा संस्कार देते हैं? यही बताते हैं न उन्हें कि जब हम बूढ़े हों तब तुम भी हमारा ऐसा ही तिरस्कार करना जैसा आज हम अपने माँ-बाप का कर रहे हैं। ये संस्कार उन्हें नहीं दे रहे हैं क्या? आप ताश खेलने का संस्कार उन्हें नहीं दे रहे हैं क्या? क्या अपने आराध्य के चरणों में सिर झुकाने का संस्कार उन्हें दे रहे हैं? बल्कि ग़लत ढंग से कमाने का संस्कार उन्हें दे रहे हैं। इतने संस्कार दे रहे हैं उसके बाद भी कहते हैं हमारे बच्चों में कोई संस्कार नहीं है? कहाँ से आयेंगे संस्कार? कौन देगा संस्कार?

दूसरी ओर यह भी सच है कि कितने ही ऐसे खानदान हैं, जिनमें माँ-बाप का जीवन तो बड़ा सात्त्विक है, बड़ा अच्छा है; किन्तु बच्चों के जीवन

से उसका कोई मेल नहीं है। माँ-बाप जितनी सात्विक प्रवृत्ति के हैं, बेटे उतने ही उच्छृंखल और उद्दण्ड हैं। मन सोचता है, ऐसा कैसे हुआ? कितने ही ऐसे माँ-बाप हैं, जो आठ-आठ आँसू अन्दर-ही-अन्दर रोते हैं; भीतर-ही-भीतर घुटन का अनुभव करते हैं; पर बाहर बात नहीं करते; क्योंकि बाहर बात करें तो उनकी मुट्ठी खुल जाए। मुट्ठी खोलना समझदारी भी नहीं है; क्योंकि 'बँधी मुट्ठी लाख की, खुल गयी तो खाक की' अतः वे घुट-घुट कर आहें भरते रहते हैं; इसलिए न कि खानदान की, कुलवंश की इज्जत बनी रहे; पर कब तक बनी रहेगी? कैसे बनी रहेगी? जब बनाने वाले की बुद्धि ही भ्रष्ट हो गयी है, तो वह कैसे बनी रहेगी?

ऐसे कितने ही व्यक्ति हैं जिनके जीवन में कोई संतुलन नहीं है, जिनके जीवन का कोई दर्शन नहीं है। कई अहिंसा-प्रेमी; क्या जैन, क्या वैष्णव; सब मिट रहे हैं। धर्म के सिद्धान्त सबके पास हैं, और वे सबको अच्छी शिक्षा भी देते हैं, फिर भी रात को दस-ग्यारह के बाद नागपुर, गोंदिया, या आस-पास कहीं भी जाकर आप ही अपने परिवार के उन युवकों को देखें जो शराब और मांसाहार करते हैं; कौन-सी होटलों में वे जाते हैं? आप जिन होटलों में जाते हैं, उन होटलों में वे नहीं जाएँगें; उनका निरीक्षण करना हो, उनकी परीक्षा लेनी हो, उन्हें रंगे हाथों पकड़ना हो तो आपको पहुँचना होगा किसी शनि या रवि को, जिस दिन वे कह दें कि आज हमारा भोजन घर में नहीं होगा; तब हर बार नहीं, तीन-चार बार में एक बार पहुँच जाइये। और वहाँ पहुँच जाइये जहाँ पहुँचने की उन्हें कोई आशंका नहीं है। फिर पकड़िये रंगे हाथों अपने ही बच्चों को।

यह अवस्था तो दोष के मजबूत होने के बाद की है। दोष का प्रारम्भ कब होता है? तेरह-चौदह वर्ष की उम्र में। इस उम्र में ग़लत सोसायटी, ग़लत वातावरण, ग़लत संस्कार इसलिए पड़ जाते हैं कि माँ-बाप बेखबर रहते हैं। स्कूल में जाने वाले युवकों और युवतियों के प्रति माँ-बाप का यह कर्तव्य है कि महीने में दो-तीन बार जा कर वहाँ पूछें कि हमारे बच्चे की उपस्थिति कितनी है? वे बराबर आ रहे हैं या नहीं? उनकी अटेंडेंस (हाजिरी) कितनी है? पर क्या करें? माँ-बाप बेखबर हैं। उन्हें नहीं समय है कमाने से, नहीं समय है मनोरंजन से।

बच्चों की साल-सँभाल कैसे की जाती है? बच्चों को शिक्षा कैसे दी जाती है? बच्चों को संस्कार कैसे देना चाहिये? बच्चों की बुरी आदतें न बनें इसके लिए चौकीदार कैसे बनना चाहिये? आदि कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं, जिन पर हमारा ध्यान जाना चाहिये।

दुनिया में आँखें मत घुमाओ, उन्हें अपने बच्चों में घुमाओ; अपने युवकों में घुमाओ। उन लड़कों का बहुत ध्यान रखो, जिनके पीछे आने वाली बहुएँ

ज़िन्दगी भर न रोयें। आज कितनी ही ऐसी कुलवधुएँ हैं, जो बेचारी अन्दर-ही-अन्दर घुट-घुट कर आँसू बहाती हैं? कइयों को क्रोध आने लगता है कि पतिदेव का आचरण खराब क्यों है? बारह बजे तक घर आने का पता तक नहीं है। आते भी हैं तो दो बजे शराब के नशे में चकचूर। ऐसे व्यक्ति क्या इन्सानी ज़िन्दगी का अर्थ समझते हैं? भाई, कम-से-कम अपने जीवन के चौकीदार तो बनिये! अपने जीवन को तो सँभालिये! अपने बच्चों को तो सँभालिये! अपने परिवार की देखभाल तो कीजिये! इतनी चौकीदारी भी यदि आप करते हैं तो यह बहुत है।

दुनिया के चौकीदार बन कर तो आप आलोचक बनेंगें, निन्दक बनेंगें, अपनी आत्मा को पाप से भरेंगें; इसलिए अपनी चौकीदारी कीजिये; अपनी नज़र पैनी रखिये, दूरदर्शिता में सोचिये। कभी कोई कह भी दे अनुमान से, तो उसकी पूरी छान-बीन कीजिये। ग़फलत में मत रहिये। किसी बात को यों ही मत उड़ा दीजिये।

कभी-कभी सन्तान का मोह भी बड़ा बाधक होता है, जिसके कारण आदमी सच्चाई को भी सच्चाई के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं होता; सच्चाई होने पर भी उसे छुपाने का दुस्साहस करता है। जो नहीं मानने की बात होती है, उसमें भी मोह बाधक बनता है। ऐसे समय मोह को बाधक नहीं बनने देना चाहिये। अच्छा खिलाने में मोह का परिचय दीजिये। अच्छा दिलाने में मोह का परिचय दीजिये; पर इस प्रकार अपनी संतान को गुमराह करने में, उसके ग़लत राह जाने से रोकने में मोह का परिचय कभी मत दीजिये। उसके प्रभाव में मत आइये।

बन्धुओ! समय अपना काम कर रहा है, वह रुका नहीं है। विषय कुछ ऐसा छिड़ गया कि घड़ी पर नज़र नहीं गयी। आइये, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी जैसे महापर्व के दिन हम अपने चरित्र को सँभालें, अपने आचरण को सँभालें, अपने आचरण के चौकीदार बनें, अपने जीवन का सिंहावलोकन करें, अपने जीवन की बुराइयों को देखें कि वे बढ़ रही है या घट रही हैं? देखें कि हमारा जीवन हमारे परिवार के लिए सुख का कारण है या दुःख का? जिसका हाथ पकड़ कर लाये हैं, जिसका भरण-पोषण करने की जिम्मेदारी आपने ली है, जिसने आपको अपना सारा जीवन समर्पित किया है, कहीं आप उसकी आँखों से आँसू बहाने का काम तो नहीं कर रहे हो? ऐसी ग़लत आदतें यदि हैं तो जन्माष्टमी के दिन उन आदतों को दफनाने की कोशिश करें। अपने मन को मारने की कोशिश करें। अपने मन को बदलने की कोशिश करें। महापुरुषों के पवित्र चरणों में हम इससे बड़ी और क्या श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकते हैं? सच्ची श्रद्धाञ्जलि तो यही होगी कि आज जन्माष्टमी के दिन हम अपनी बुराइयों का त्याग करें।

—बालाघाट : 31 अगस्त 1983

ऐसा मत सोचिये

ऐसा मत सोचिये कि क्रोध का त्याग करना साधुओं का ही कर्तव्य है। यह त्यागी, ऋषि-महर्षियों का ही काम है। ऐसा भी मत सोचिये कि इसमें वे ही सफल हो सकते हैं, जिन्होंने अपने-आपको परिवार और समाज के उत्तरदायित्वों/जिम्मेदारियों से बहुत अलग कर लिया है। ऐसी बात भी नहीं है कि साधना साधु ही कर सकता है। उसमें वस्त्र इतने अधिक बाधक नहीं हैं कि आप अपनी साधना में किसी-न-किसी रूप में सफल न हों। यह बात अलग है कि निवृत्ति मार्ग का साधक जल्दी/ज्यादा सफल होगा, आपको सफलता में समय लगेगा, क्योंकि प्रतिकूल वातावरण ज्यादा है; फिर भी सफलता कहीं-न-कहीं आपको हाथ लगेगी ही। लेकिन सफलता हाथ कब लगेगी? जब इसके लिए आप प्रयत्न करेंगे। प्रयत्न कब करेंगे? जब विकारी भाव आपको बुरा लगेगा। जब वह आपको बुरा लगेगा, तब ही तो आप उसे निकालने का संकल्प करेंगे। संकल्प लें तब कोई कहे कि इन्हें तो बहुत क्रोध आता है; आपको उसका यह कथन सहन न हो और आप आग-बबूला हो जाएँ, वहाँ तक कोई विकारी भाव शान्त होने की व्यवस्था नहीं होगी। वह व्यवस्था कब होगी? जब आप ईमानदारीपूर्वक प्रामाणित कर दें, हृदय से यह स्वीकार कर लें कि यह मेरा विकारी भाव मेरी आत्मा के लिए घातक है।

मैंने ऐसे महापुरुषों के जीवन को निकट से देखा है कि प्रतिकूलता की चरम सीमा में भी जिन्होंने सहजता का परिचय दिया है। जो परिचय उनमें मिलता है, वह उनकी आकृति में सहज सौम्यता होती है और वह इतनी अधिक हो जाती है कि अनुशासन-भंग के समय भी मुस्कुराहट आती है; प्रतिक्रिया के भाव ही नहीं आते। वैरी के प्रति भी कल्याण-कामना के ही भाव आते हैं। वे प्रभु परमात्मा से इतनी प्रार्थना करते हैं कि प्रभो, इसको भी सद्बुद्धि दो, मैं प्रतिकार करूँ, ऐसी बुद्धि मुझे मत दो। कोई भी सन्त, भक्त, साधक, महर्षि, सत्संग-प्रेमी परमात्मा के चरणों में ऐसी प्रार्थना कभी नहीं करेगा कि मुझे इतनी शक्ति दो, इतना बल दो कि मैं

अपराधी को जीत लूँ। यह भाव आना चाहिये कि मेरे मन में जो अपराधी के प्रति भाव हैं, उन भावों से मुझे मुक्त करो। उसके मन में भी भावों की शान्ति हो, ऐसा आशीर्वाद उसे भी मिले और मेरे मन में उसके प्रति दुर्भाव न आये, ऐसी मेरी भी योग्यता/क्षमता का विकास हो; प्रभो, आपके चरणों में आकर यही मंगल कामना करता हूँ।

श्रीमद् राजचन्द्र आत्मा के मन्त-साधक की भूमिका में बहुत ज्यादा आगे बढ़ गये। कई परिचित व्यक्ति जो उनके अंतरंग जीवन को निकट से जानते थे, उनमें से एक ने श्रीमद् के त्याग, तप, वैराग्य, इन्द्रिय-संयम, प्राणि दया आदि भावों की किन्हीं मित्रों के सामने प्रशंसा की। लेकिन एक मित्र ने उनकी निन्दा की, जो श्रीमद् के भक्त को सहन नहीं हुई। उन्हें क्रोध आ गया और वे अपना विकारी भाव जीत नही सके। इसका उल्लेख उन्होंने श्रीमद् को लिखे पत्र में किया कि अमुक व्यक्ति ने आपके लिए ऐसी बात कही, जिसे सुनकर मेरे कलेजे में आग लग गयी, क्योंकि जिस दोष की उसने चर्चा की और पर्वत के रूप में चर्चा की, जबकि वह दोष आपके जीवन में राई जितना भी नहीं है। इसलिए मेरा मन उस व्यक्ति को जवाब देने के लिए आये दिन तैयार होता है। मुझे लगता है कि योजनाबद्ध वातावरण बनाकर उसकी क्रिया (निन्दा) की प्रतिक्रिया करूँ।

श्रीमद् राजचन्द्र ने उस भक्त का पत्र पढ़कर जवाब दिया कि प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, प्रत्येक जीव के अपने विकारी भाव है और उसकी वाणी, उसका व्यवहार उसके विकारी भाव का परिचय दे रहा है। उसके विकारी भाव से मेरी आत्मा में कोई हानि नहीं है। जिसका कर्म जिसको भारी है उसका बोझ उसके लिए हानिकर है। उसके कहने से मुझमें वह बुराई आ ही नहीं सकती और यदि मुझमें वह बुराई है, तो तुम्हारे अच्छा कहने से अच्छी हो नहीं सकती। उसने बुराई की, इससे मेरी आत्मा बुरी नहीं होगी; इसलिए तुमसे मेरा निवेदन है कि इस चर्चा को लेकर कभी भी प्रकरण मत बनाना, क्रोध की चिनगारी को ही शान्त करने की कोशिश करना और यदि तुमने प्रतिकार किया या जवाब दिया भी और जवाब देने में विकारी भाव—क्रोध का आश्रय लिया भी, तो मैं तुम्हारी मदद करने में असमर्थ हूँ। तुम कभी यह मत सोचना कि जरूरत पड़ने पर श्रीमद् भी मुँह खोलेंगे। गुजराती में लिखे उनके जवाब का आशय यह था कि मैं क्रोध कर सकूँ, ऐसी मेरे हृदय की स्थिति नहीं है; इसलिए मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकूँगा, यह बात तुम पहले ही स्वीकार कर लो।

यदि क्रोध विकारी भाव नहीं होता, तो श्रीमद् उससे छुट्टी कैसे पाते? यदि क्रोध विकारी भाव नहीं होता, तो वन-गमन के प्रसंग में राम उससे

छुट्टी कैसे पाते? यदि क्रोध विकारी भाव नहीं होता, तो भगवान् महावीर डँसने पर भी चण्डकौशिक नामक जहरीले नाग को वात्सल्यपूर्वक उपदेश कैसे देते?

ज्ञानी को अज्ञानी के आचरण पर कभी क्रोध नहीं आता। ऐसा ज्ञानी किसी भी देश में, किसी भी जाति में हो सकता है। ज्ञानी वही जिसने अपनी आत्मा के स्वभाव को समझा है। ज्ञानी वही जिसने विषय-कषाय की निवृत्ति के लिए इन्द्रियों का संयम किया है। ज्ञानी वही जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ को जीतने में ही पुरुषार्थ किया है और इसी अर्थ में उसका पुरुष शब्द सार्थक हुआ है। जिसने क्रोध आदि विकारी भावों को जीतने में पुरुषार्थ नहीं किया उसको तो योगी आनन्दघनजी ने पुरुष ही नहीं कहा और यह कह दिया कि तेरा पुरुष नाम ही गलत है, तू तो नपुंसक है, इसलिए कि तूने विकारी भावों को जीतने में पुरुषार्थ नहीं किया; तू पुरुष हुआ तो क्या?

क्रोधादि विकारी भावों को हमें जीतने का प्रयत्न करना है; क्योंकि जब तक वे नहीं जीते जाएँगे, तब तक आत्मा की जो सहज स्वतन्त्रता है, उसका दर्शन संभव नहीं है। हम हर समय विकारी भावों में जी तो रहे हैं, लेकिन ऐसा कभी मत सोचिये कि हम उन्हें जीत नहीं सकते; उन्हें जीतने में ही पुरुषार्थ है। उनके अधीन होना ही पराधीनता है। उनसे मुक्त होना ही स्वाधीनता है। □

—बालाघाट, 15 अगस्त, 1983

अपराधी को जीत लूं। यह भाव आना चाहिये कि मेरे मन में जो अपराधी के प्रति भाव हैं, उन भावों से मुझे मुक्त करो। उसके मन में भी भावों की शान्ति हो, ऐसा आशीर्वाद उसे भी मिले और मेरे मन में उसके प्रति दुर्भाव न आये, ऐसी मेरी भी योग्यता/क्षमता का विकास हो; प्रभो, आपके चरणों में आकर यही मंगल कामना करता हूँ।

श्रीमद् राजचन्द्र आत्मा के सन्त-साधक की भूमिका में बहुत ज्यादा आगे बढ़ गये। कई परिचित व्यक्ति जो उनके अंतरंग जीवन को निकट से जानते थे, उनमें से एक ने श्रीमद् के त्याग, तप, वैराग्य, इन्द्रिय-संयम, प्राणि दया आदि भावों की किन्हीं मित्रों के सामने प्रशंसा की। लेकिन एक मित्र ने उनकी निन्दा की, जो श्रीमद् के भक्त को सहन नहीं हुई। उन्हें क्रोध आ गया और वे अपना विकारी भाव जीत नही सके। इसका उल्लेख उन्होंने श्रीमद् को लिखे पत्र में किया कि अमुक व्यक्ति ने आपके लिए ऐसी बात कही, जिसे सुनकर मेरे कलेजे में आग लग गयी, क्योंकि जिस दोष की उसने चर्चा की और पर्वत के रूप में चर्चा की, जबकि वह दोष आपके जीवन में राई जितना भी नहीं है। इसलिए मेरा मन उस व्यक्ति को जवाब देने के लिए आये दिन तैयार होता है। मुझे लगता है कि योजनाबद्ध वातावरण बनाकर उसकी क्रिया (निन्दा) की प्रतिक्रिया करूँ।

श्रीमद् राजचन्द्र ने उस भक्त का पत्र पढ़कर जवाब दिया कि प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, प्रत्येक जीव के अपने विकारी भाव हैं और उसकी वाणी, उसका व्यवहार उसके विकारी भाव का परिचय दे रहा है। उसके विकारी भाव से मेरी आत्मा में कोई हानि नहीं है। जिसका कर्म जिसको भारी है उसका बोझ उसके लिए हानिकर है। उसके कहने से मुझमें वह बुराई आ ही नहीं सकती और यदि मुझमें वह बुराई है, तो तुम्हारे अच्छा कहने से अच्छी हो नहीं सकती। उसने बुराई की, इससे मेरी आत्मा बुरी नहीं होगी; इसलिए तुमसे मेरा निवेदन है कि इस चर्चा को लेकर कभी भी प्रकरण मत बनाना, क्रोध की चिनगारी को ही शान्त करने की कोशिश करना और यदि तुमने प्रतिकार किया या जवाब दिया भी और जवाब देने मे विकारी भाव—क्रोध का आश्रय लिया भी, तो मैं तुम्हारी मदद करने में असमर्थ हूँ। तुम कभी यह मत सोचना कि जरूरत पड़ने पर श्रीमद् भी मुँह खोलेंगे। गुजराती में लिखे उनके जवाब का आशय यह था कि मैं क्रोध कर सकूँ, ऐसी मेरे हृदय की स्थिति नहीं है; इसलिए मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकूँगा, यह बात तुम पहले ही स्वीकार कर लो।

यदि क्रोध विकारी भाव नहीं होता, तो श्रीमद् उससे छुट्टी कैसे पाते? यदि क्रोध विकारी भाव नहीं होता, तो वन-गमन के प्रसंग में राम उससे

छुट्टी कैसे पाते? यदि क्रोध विकारी भाव नहीं होता, तो भगवान् महावीर डँसने पर भी चण्डकौशिक नामक जहरीले नाग को वात्सल्यपूर्वक उपदेश कैसे देते?

ज्ञानी को अज्ञानी के आचरण पर कभी क्रोध नही आता। ऐसा ज्ञानी किसी भी देश में, किसी भी जाति में हो सकता है। ज्ञानी वही जिसने अपनी आत्मा के स्वभाव को समझा है। ज्ञानी वही जिसने विषय-कषाय की निवृत्ति के लिए इन्द्रियों का संयम किया है। ज्ञानी वही जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ को जीतने में ही पुरुषार्थ किया है और इसी अर्थ में उसका पुरुष शब्द सार्थक हुआ है। जिसने क्रोध आदि विकारी भावों को जीतने में पुरुषार्थ नहीं किया उसको तो योगी आनन्दघनजी ने पुरुष ही नही कहा और यह कह दिया कि तेरा पुरुष नाम ही गलत है, तू तो नपुंसक है, इसलिए कि तूने विकारी भावों को जीतने में पुरुषार्थ नहीं किया; तू पुरुष हुआ तो क्या?

क्रोधादि विकारी भावों को हमें जीतने का प्रयत्न करना है; क्योंकि जब तक वे नहीं जीते जाएँगे, तब तक आत्मा की जो सहज स्वतन्त्रता है, उसका दर्शन संभव नहीं है। हम हर समय विकारी भावों में जी तो रहे है, लेकिन ऐसा कभी मत सोचिये कि हम उन्हें जीत नही सकते; उन्हें जीतने में ही पुरुषार्थ है। उनके अधीन होना ही पराधीनता है। उनसे मुक्त होना ही स्वाधीनता है। □

– बालाघाट, 15 अगस्त, 1983

पात्रता-का-प्रश्न

आत्मा को जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, आत्मा को जब तक आत्मा का ध्यान नहीं होगा, तब तक आत्मा आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेगी। आत्मा को आत्मज्ञान कब होगा? जब आत्मा को आत्मज्ञान की पात्रता प्राप्त होगी। जब तक आत्मा में आत्मज्ञान प्राप्त करने की पात्रता का विकास नहीं होगा, तब तक आत्मज्ञान की बात सिर्फ बात ही रहेगी; बुद्धि की कसरत होगी।

व्यक्ति में पाण्डित्य आ जाए, भाषण-कला आ जाए, लेखन-कला आ जाए, प्रश्नोत्तर-शैली आ जाए, वाद-विवाद की शक्ति आ जाए, शास्त्रार्थ की क्षमता/योग्यता भी आ जाए, तो भी वह आत्मज्ञान के लिए पात्र नहीं है।

आत्मज्ञान जिसकी प्राप्ति के बाद जीव को आत्मस्वरूप की यथार्थ स्थिति प्राप्त होगी, वह कब? जब उसमें पात्रता होगी, लेकिन पात्रता कब होगी? जब उसमें मौलिक गुणों का विकास होगा, जब व्यक्ति संसार में रहते हुए प्रवृत्ति कर मानव बनेगा।

सूर्योदय के पश्चात् प्रकाश फैलता ही है, पर सूर्योदय के पहले भी सूर्य के आगमन की सूचना देने के लिए उषा वायु-मण्डल/भू-मण्डल को प्रभावित करती है; यद्यपि सूर्य के प्रकाश के जैसा प्रकाश तो उसका नहीं होता, फिर भी सूर्य के आगमन की सूचना देने वाली उषा में भी लालिमा है, उसमें भी प्रकाश की सामान्य किरणें हैं। जैसे, सूर्य के प्रकाश से पहले उषा का भी अपना महत्त्व है, वैसे ही मनुष्य में आत्मज्ञान के पहले भी मौलिक गुणों का, सद्गुणों का संग्रह होना ही चाहिये। जब तक वह नहीं होगा, तब तक वह आगे की भूमिका में भी नहीं जा सकेगा। जीव संसार में रहते हुए उन भावों को प्राप्त करेगा, जिन भावों को प्राप्त करने के बाद उसमें मनुष्यत्व आयेगा और मनुष्यत्व आने के बाद फिर वह आगे की भूमिका में जाएगा।

'परहित चिन्ता मैत्री' के सन्दर्भ में ठीक ही कहा है कि यदि तुम ममत्व का त्याग न कर सको, तो उसके उपयोग के लिए क्षेत्र कम-से-कम व्यापक बना लो; क्योंकि जब तक व्यक्ति के जीवन में उदारता नहीं आयेगी, तब तक 'परहित चिन्ता' शाब्दिक हो सकती है, भावात्मक नहीं होगी। क्योंकि परहित चिन्ता में किसी के दुःख-दर्द में, किसी की बीमारी में, किसी के दुर्दिन में यदि व्यक्ति को साथ देना हो; यदि व्यक्ति को आत्मीयता का परिचय देना हो, तो निश्चित रूप से उसे अपने हक की शक्ति का ममत्व छोड़ना पड़ेगा। जब तक वह ममत्व का त्याग नहीं करेगा, तब तक जनहित के कार्यों में उसकी शक्ति का उपयोग नहीं होगा।

अहम्ता-ममता वाले श्लोक का आशय यह है कि यदि तू अहम् और ममत्व का त्याग नहीं कर सकता है, तो इतना कर कि अहम् और ममत्व का विस्तार कर दे; और विस्तार भी इतना कर दे कि तेरी शक्ति केवल मोह की सीमा में ही सीमित न रहे। स्वार्थ की सीमा में ही न बँधी रहे। जैसे, 'अंधा देवे शीरणी फिर-फिर घर को दे'—यह मारवाड़ी कहावत है कि एक अंधा व्यक्ति जो बाँटने के लिए खड़ा हो गया और बाँट रहा है, किन्तु वह बार-बार लड्डू, बताशे या जो-जो उसके पास हैं, वह केवल अपने परिजनों/स्वजनों के हाथ में ही दे रहा है। इसी तरह यदि व्यक्ति अपनी बौद्धिक क्षमता को, अपने धन-बल/मन-बल को जो कुछ भी उसे प्राप्त है, उसका उपयोग मात्र मैं और मेरे घेरे में ही करता है, अपनी पत्नी और बच्चों के लिए ही करता है, तो उसकी शक्ति में उदारता का अंश अल्प है; उसका क्षेत्र बड़ा ही सीमित रहता है। उसकी शक्ति अपने स्वजनों/परिजनों तक सीमित रहती है। उसमें उदारता का गुण विकसित नहीं हुआ है; जब तक इस गुण में वृद्धि नहीं होगी, तब तक व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग परहित चिन्ता में नहीं कर सकेगा। परहित चिन्ता में व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग तब करेगा, जब उसकी प्रकृति (स्वभाव) में थोड़ी उदारता आयेगी।

भारत में एक नहीं अनेक माई के लाल हो गए, अनेक सेठ, राजा/महाराजा हो गये जिन्होंने अपनी शक्ति का उपयोग जनहित में इतना अधिक किया है, जैसे, नदी का पानी बहता रहता है। विक्रम संवत् १३१३ में जैन समाज में जगडूशाह नाम का ऐसा ही व्यक्ति हुआ, जिसने पुण्य-तुला से जो भी अर्जित किया, वह जनहित में अर्पित कर दिया। जगडूशाह को विचार आया कि पुण्य-बल से अच्छे कर्मों के परिणाम-स्वरूप मुझे सहज ही ऐसा योग मिला, व्यापार के निमित्त कि मैं चाहूँ उतनी समाज-सेवा कर सकता हूँ। मेरी विदाई के बाद इस धन का कोई महत्त्व नहीं रहेगा; मेरे लिए और मेरे रहते हुए भी यदि मैं इस धन को अपने शरीर से लपेटा या तृष्णा से

केवल उसे इकट्ठा किया, केवल संग्रह किया, तब भी उसकी कोई उपयोगिता नहीं होगी ।

'परहित चिन्ता मैत्री' से अनुप्राणित होकर उन्होंने दान-प्रवृत्ति में अपनी शक्ति इतनी अधिक लगाई कि एक सौ बारह दान-शालाएँ आसपास के गाँवों और शहरों में खुलवायीं । वे स्वयं भी नियमित रूप से दान देने के लिए बैठते थे। दान देते समय भी उनका विवेक देखिये कि देने वाले और लेने वाले को एक-दूसरे का मिलन न हो सके, इसलिए बड़ी मोटी चादर का पर्दा लगाकर बैठते थे और दान देते थे, जब इतना अधिक देने लगे, तो प्रसिद्धि और प्रशंसा का प्रचार होना स्वाभाविक है। उनके कार्य की प्रशंसा हुई और उसके बाद आज तक भी प्रशंसा हो रही है, यदि गुणा-भाग करें, तो उनके कार्य की प्रशंसा करने वालों की संख्या कितनी होगी, परन्तु उन्हें यह भाव नहीं था कि मेरी कोई प्रशंसा करे । प्रशंसा उसी की होती है, जो प्रशंसा के भाव स्वयं नहीं रखता । उनके दान की प्रशंसा की महिमा सुनकर एक दिन राजा स्वयं दान लेने के लिए चला गया । दान लेने के बाद उन दोनों में जो वार्तालाप हुआ, उसका आशय यह था कि लेने वाले के स्वाभिमान को ठेस न पहुँचे, लेने वाले को जरूरत से बार-बार हाथ न फैलाना पड़े, उसको फिर कहीं दूसरे के पास न जाना पड़े, इसलिए मैं हस्तरेखा के आधार पर व्यक्ति की योग्यता, व्यक्ति का भविष्य, व्यक्ति का वर्तमान और अतीत सब देख कर उसको योग्य दान देता हूँ ।

हम व्यक्ति का गुणगान नहीं गा रहे हैं, उनकी उदार प्रवृत्ति की प्रशंसा कर रहे हैं। हमें भी अपने जीवन में यह दृष्टि लाना है, यह अनुभव करना है, यह प्रेरणा लेनी है कि दान भी दें, तो कैसे भाव से दें । देते समय कितना विवेक, कितना औचित्य, कितनी दृष्टि रखें, जैसी जगडूशाह आदि ने रखी । जगडूशाह को सेवा का एक मौका और भी मिला जब जैनाचार्य ने उपदेश दिया, जिसमें संकेत था कि दुष्काल पड़ने की पूरी-पूरी आशंका है। यह संकेत मिलते ही उन्होंने आम आदमी आराम से रोटी खा सके, ऐसे पदार्थों का संग्रह करना शुरू कर दिया । दुष्काल के तीन वर्षों में उन्होंने आठ अरब और साढ़े छह करोड़ मन अनाज वितरित किया । 'परहित चिन्ता' में व्यापक दृष्टि देखिये, उदारता का गुण देखिये, क्योंकि आत्मज्ञान होने से पहले भी आत्मज्ञान के लिए मनुष्य को मौलिक गुणों का विकास करना पड़ेगा।

माना कि हर व्यक्ति जगडूशाह नहीं हो सकता, इतना पुण्य-बल नहीं हो सकता, इतनी सुविधा और साधन व्यक्ति के पास नहीं है; फिर भी क्या हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है कि जिन्दगी में एक परिवार को उठा सकें? माना कि हमारे पास हजारों आदमियों को भोजन कराने की शक्ति नहीं है,

लेकिन क्या अपने दस व्यक्तियों के चौके में एक अतिथि सत्कार के रूप में किसी की सेवा नहीं कर सकते? लाखों का दान नहीं दे सकते, पर दो कटोरी सामान का दान तो हो सकता है। दो रोटी का दान तो हर गृहस्थ कर सकता है। पड़ोस में या परिवार में जरूरत पड़ने पर अपने हक का त्याग करके भी सेवा हो सकती है।

जब तक हमारे हृदय में 'परहित चिन्ता' नही है अर्थात् मैत्री गुण का विस्तार नहीं है, तब तक हम मानव भी नही, तो महात्मा और परमात्मा तक की बातें शास्त्रों में कितनी भी पढ़ लें। हमारे धर्म-सिद्धान्त कह रहे हैं कि ज्ञान और आचरण – दोनों का समन्वय होना चाहिये। जैसा हम जानते है आंशिक रूप से, वैसा आचरण बनना चाहिये। अब ग्रन्थों में तो बहुत बार पढ़ लिया कि उदारता मनुष्य का श्रेष्ठ गुण है।

'परहित चिन्ता' मानव-स्वभाव है, परन्तु जरा अनुभव करें, थोड़ा अभ्यास करें अपने जीवन की दिनचर्या में देखें कि 'परहित चिन्ता' मुझमें कितनी विकसित हुई? मेरा मन, तन, धन और बुद्धि दूसरों के हित में कितनी उपयोगी हो रही है? इस पर प्रत्येक दिन रात्रि में बैठकर विचार करें।

जब तक मानवीय गुणों का विकास नहीं होगा, तब तक आध्यात्मिक भूमिका में व्यक्ति प्रवेश नहीं पायेगा। अध्यात्म की भूमिका में प्रवेश पाने के लिए उसे अपने जीवन में सद्गुणों का विकास करना पड़ेगा। सद्गुणों के विकास का प्रारंभ होगा 'परहित चिन्ता' यानी मैत्री से। इसलिए हम स्वार्थ और मोह-रहित होकर परहित में अपनी शक्ति का ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग करें। जैसे तरल घी पाव भर गिर जाए, तो बहुत रोक लेगा, क्योंकि तरल होने से वह फैल गया, इसी तरह उदारता का गुण जिस किसी में विकसित होगा, उसका मोह पतला होगा। उसका मोह कमजोर होगा, उसकी आसक्ति कम होगी, उसकी तृष्णा कम होगी, उसकी जैसे की लोलुपता कम होगी और उसमें बादल की तरह गुण विकसित होगा।

मैंने अपनी आँखों में अपने जीवन में अनुभव किया है कि एक महिला जिसकी मृत्यु पर सोना, चाँदी और जवाहरात करीब चालीस लाख का निकला। उस धन को देवर और जेठ बाँटने में आज तक निर्णय नहीं ले सके। बैंक में पड़ा है और वह तीन भाइयों के बीच द्वेष का निमित्त बना है, क्लेश का कारण बना है यानी जिसका धन था वह विधवा भाभी तो मर गयी, परन्तु तीन देवर उसके वे तीनों भाई जिनका आना-जाना बन्द हो गया, विवाह-शादी में एक-दूसरे को निमंत्रित करना भी छोड़ दिया, क्योंकि वे परस्पर निर्णय नहीं कर पाये कि जितना धन निकला है, उसके तीन हिस्से करें कि चार करें; धर्म में ज्यादा लगायें कि खुद ज्यादा लें। ठीक ही कहा है :

दातारों को मजा इसी में, खाने और खिलाने में।
कंजूसों को मज़ा इसी में, जोड़-जोड़ मर जाने में।।

पदार्थ का उपयोग/दुरुपयोग भी नहीं किया, परन्तु भावों का क्या किया? इतनी तृष्णा में जीने वाले, इतना संग्रह करने वाले, इतना कृपण/कंजूस व्यक्ति ने अपनी शक्ति से अपनी आत्मा का अहित ही किया। स्वयं अपनी आत्मा को उसने मोह से कितने कर्म-वन्ध नहीं हुए होंगे; क्योंकि जितना ज्यादा मोह होगा, व्यक्ति उस पदार्थ का त्याग उतना ही कम कर सकेगा और यहाँ तक कि अपने शरीर के लिए भी करना उसके वश की वात नहीं। हमें अपनी प्रवृत्ति (स्वभाव) को देखता है और कहीं ऐसा दोष हमारी आदत में हो, तो उसे छोड़ना है। मृत्यु छुड़ाये उससे पहले छोड़ना है और जितना कर सकें जनहित में उस शक्ति का उपयोग करना है। क्योंकि जव तक हममें इतना-सा उदारता का गुण नहीं आयेगा, तव तक सद्‌गुणों के विकास में कैसे आगे वढ़ेंगे?

उदारता गुण है; अवगुण नहीं है। अवगुण तो कृपणता है, संग्रह-वृत्ति है, केवल जोड़-जोड़ कर रखना है, केवल देख-देख कर जीना है; केवल तिजोरी की चार वार चावी इधर-से-उधर देखकर भगवान की तरह दर्शन करने वाला कृपण है, उसकी दुर्गति होगी, सद्‌गति नहीं होगी। जिसको इतना मोह पैसे पर है, वह पैसा उसके लिए परिग्रह का भूत है। परिग्रह पाप का मूल है; वह पैसा उसका कल्याण नहीं करेगा। उसे दुर्गति में भेज देगा। पैसा अच्छा है, वहुत अच्छा है कव? जव वह 'परहित चिन्ता मैत्री', अपनी शक्ति का सदुपयोग करता है, वह व्यक्ति आत्मज्ञान का पात्र वनने का प्रयत्न करता है।

□

– वालाघाट, 24 अगस्त, 1984

करुणा का मंगल घट

'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्'– जो दीन-दुखीजन हैं, जो परेशान हैं; जो कर्म के फल यानी पाप के फल को कई रूपों से भोगते हुए दुःख का, वेदना का, अशान्ति का अनुभव कर रहे हैं; ऐसे जीवों की मदद में हम क्या कर सकते हैं? वे अपने कर्म का फल भोग रहे हैं, यह बात सत्य है, परन्तु ऐसे समय/ऐसी परिस्थिति में उन जीवों के साथ हमारा कर्तव्य बनता है, उस समय हम उनके लिए क्या करें, ऐसे भाव हमारे मन में पैदा होने चाहिये। लेकिन यह तब होगा, जब हममें करुणा गुण का विकास होगा। जब तक मनुष्य में करुणा गुण नहीं होगा, तब तक दूसरे गुणों का विकास होना मुश्किल है।

करुणा सब से जरूरी में जरूरी गुण है और करुणा सब से पवित्र में पवित्र गुण भी है। भूमिका में करुणा गुण सब से पहले आना ही चाहिये। जब तक मनुष्य में करुणा गुण नहीं होता, तब तक वह मनुष्य, मनुष्य कहलाने लायक ही नहीं है। जब मनुष्य में करुणा का गुण फूट पड़ेगा, तब दूसरों के दुःख में उसे कभी भी चुप रहने की स्थिति रहेगी ही नहीं। ऐसे समय में उसका मन इस बात के लिए तैयार हो जाएगा कि मैं उसके लिए कुछ करूँ। क्या कर सकता है ? यह बात अलग है, क्योंकि करने के लिए जिसके पास जितना होगा, जैसी सुविधा होगी, जैसे साधन होंगे, वही करेगा, फिर भी उसके मन में जरूर ऐसा भाव फूट पड़ेगा कि 'क्लिष्टेषु जीवेषु'। 'क्लिष्टेषु' का अर्थ है जो व्यक्ति तकलीफ में है, अशान्ति में है, दुःख में है, वेदना में है। यह मात्र मनुष्य की बात नहीं है, प्राणिमात्र की है। प्राणिमात्र के प्रति उसके मन में ऐसा भाव पैदा होना चाहिये। मनुष्य में करुणा एक स्वाभाविक गुण है, करुणा गुण जितना ज्यादा मनुष्य में विकसित होगा, उतना ही वह परमात्मा को पाने के योग्य होगा।

कोई पशु/पक्षी है, कोई मनुष्य है, यदि वह तड़प रहा है; कोई कष्ट में है, कोई भी वेदना में है; उसकी ऐसी दशा देखकर, हमें कोई परेशानी न

हो, समवेदना न हो, तो समझ लेना चाहिये कि हम में करुणा के गुण का विकास नहीं हुआ है। करुणा के गुण का विकास होने पर मनुष्य 'क्लिष्टेपु जीवेपु कृपापरत्वम्' को चरितार्थ करेगा ही। मान लीजिए, आप पदयात्रा कर रहे हैं, यहाँ सत्संग के वातावरण में आ रहे हैं और रास्ते में यदि आपको कोई परेशान मिल गया, तड़पता हुआ व्यक्ति मिल गया हो तो आपका करुणा गुण आपको इस बात के लिए प्रेरित करेगा कि उसके लिए पहले आज कुछ करें, फिर आगे बढ़ें, क्योंकि सत्संग के वातावरण में भी व्यक्ति को आखिर मिलता है कि जीवन कैसे जीना ? जो कर्तव्य है उसकी उपेक्षा करके यदि कोई यहाँ आकर बैठ जाए, तो सत्संग का उसके मानस पर जो असर होना चाहिये वह तो नहीं हुआ है।

घर में एक महिला है, जिसको चार डिग्री बुखार है, जो तड़प रही है, जिसको सिरदर्द हो रहा है, तो ऐसे समय में सत्संग के वातावरण में आना यह विवेक का परिचायक है या जो तड़प रहा है उसकी सेवा करना, यह विवेक का परिचायक है। विवेक का परिचय उसकी जरूरत को पहले दूर करना है, क्योंकि किसी को कष्ट में, वेदना में तड़पते हम छोड़ दें और यदि भगवान् की भक्ति करने में बैठ जाएँ, तो वह भी विवेक का परिचय नही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाप अपना नियम तोड़ दे। नियम न तोड़े पहले कर ले, पीछे कर ले, कुछ समय के लिए अपने भोजन के मोह का त्याग करे।

हम एक धर्मात्मा कहलाने के लिए बैठ गए, पर वह आराधना कैसी ! वह साधना कैसी कि एक तड़पते हुए व्यक्ति की वेदना से हमारा मन परेशान न हो। जब तक हममें इन सद्गुणों का विकास नहीं होगा, तब तक सत्संग का जो वास्तविक फल मिलना चाहिये, वह हमें नहीं मिलेगा।

अविवेक से भी कितने प्राणों की हिंसा होती है, कितनी बार हमारी बहनें अनुभव करती होंगी कि मोरी में कितनी ही चींटियाँ चल रही हैं, छोटे-छोटे जीव-जन्तु चल रहे हैं और काम आया कोई भी गरम पानी जो निकाला गया है, तुरन्त मोरी में डाल दिया, लेकिन मोरी में गिरने वाला पानी गरम पानी कितने जीवों की हिंसा करता है ? हमारे थोड़े से अविवेक, हमारे थोड़े से प्रमाद और हमारे थोड़े से अज्ञान ने कितने जीवों को कष्ट में डाल दिया, कितने जीवों को वेदना दी, कितने जीवों को तड़पड़ाहट में निमित्त बन गया ?

हमारा सामान्य अपराध उन छोटे-छोटे जीवों के लिए कितना कष्ट पहुँचाता है, जो सताये हुए हैं, उन्हें क्या सताना; जो कर्मों के सताये हैं,

उन्हें क्या सताना, जिन्हें कर्म ही दुखी कर रहे हैं, ऐसों को सताना महा-पाप है।

पदयात्रा में हमें कितने ही हृदय-विदारक दृश्य देखने को मिलते हैं। किस प्रकार बकरे आदि मूक प्राणी ट्रकों में भर-भर कर ले जाये जाते हैं। उनको बेचने वाले, उनको खरीदने वाले, उनको भरने वाले, कैसे उन्हें नीचे से ऊपर फेंकते हैं। कोई दो टाँग पकड़ता है, तो कोई उनकी गर्दन पकड़ता है, तो कोई उनकी पूँछ पकड़ता है और एकदम इधर-से-उधर कर देता है। उन्हें इतनी तड़पड़ाहट, इतनी वेदना होती है, क्योंकि जाने से पहले उन्हें अनुमान लग जाता है कि कहाँ ले जाया जा रहा है, भले आपकी और मेरी तरह उनके पास भाषा नहीं है, फिर भी उनको अनुमान लग जाता है। वे अनुमान से ऐसे तड़पड़ाते हैं, इतने वेदना आतुर हो जाते हैं, लेकिन असहाय और बेबस होते हैं। कितने ऐसे मनुष्य है, जिनका स्वयं का यह व्यवसाय है। कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी जिह्वा इन्द्रिय की संतुष्टि के लिए उन्हें प्राणों की तड़पड़ाहट पर कोई दया नहीं आती; क्योंकि कई ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो हिंसा के लिए नहीं मारते, किन्तु उन्हें माँस खाना पसन्द है, इसलिए मारते हैं। उन्हें तकलीफ हो पर वे मर जाएँ, ऐसे उनके भाव नहीं हैं, लेकिन उन्हें माँस खाने की आदत जो पड़ गयी है।

जैसे-जैसे प्राणी में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे सुख-दुःख की अनुभूति भी बढ़ती जाती है। और जैसे-जैसे सुख-दुःख की अनुभूति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उन्हें उतनी ही ज्यादा वेदना होती है। उन पंचभूतों की हिंसा के बिना मनुष्य के जीवन का निर्वाह भी नहीं हो सकता है। तो जीवन-निर्वाह के लिए आरंभिक, औद्योगिक आदि जो हिंसा है। वह मजबूरी/लाचारी में इन्सान को करनी पड़ती है, किये बिना यह जिन्दगी चल नहीं सकती। पूर्णतः अहिंसक जीवन तो कोई भी व्यक्ति जी ही नहीं सकता; फिर भी जिसके मन में करुणा होगी, जिसके मन में दया होगी, वह व्यक्ति प्रयत्न करेगा कि कम-से-कम हिंसा हो। वह ऐसे पदार्थों/साधनों का विवेकपूर्वक और सावधानीपूर्वक भी उपयोग करेगा, जिसमें न्यूनतम हिंसा हो।

मैं बहुत बार अहिंसा-प्रेमी बन्धुओं से निवेदन करती हूँ कि केवल अहिंसा की जय जोर से बोलने से क्या होगा, जब तक अहिंसा हमारे जीवन में नहीं हो। कितने वस्त्र ऐसे हैं, जिनके निर्माण में लाखों कीड़ों की हिंसा होती है। एक रेशम (सिल्क) की जो साड़ी बनती है, उसमें तीन-चार कीड़ों की हिंसा होती है। तब कहीं जाकर वह वस्त्र हमारे शरीर पर आता है। इन्सान को अपनी इन्द्रिय-सुख की लालसा/लोलुपता इतनी ज्यादा होती है कि वह सोच ही नहीं पाता कि वह क्या खा रहा है, क्या पहन रहा है?

सौंदर्य/शृंगार के जितने भी आधुनिक प्रसाधन हैं, उनमें हिंसा-ही-हिंसा है। अण्डे का रस किसमें पड़ता है, चर्बी किसमें लगती है, खून का उपयोग कहाँ-कहाँ होता है? अब यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि प्रसाधनों के निर्माण की पूरी-की-पूरी विधि हिंसा पर आधारित है; हिंसा से ओतप्रोत है। लेकिन अहिंसा-प्रेमी भी उन सब का उपयोग करते हैं, क्योंकि हमारी दृष्टि में तो अपनी चमड़ी का आकर्षण है, हमारी दृष्टि अपनी सुन्दरता बढ़ाने में है, किन्तु इन कृत्रिम साधनों से सुन्दरता बढ़कर भी कितनी बढ़ेगी? और कितने समय तक टिकेगी? कई व्यक्ति अपने शरीर के मोह में इतने पागल हो जाते हैं कि प्रकृति की तरफ से शरीर में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें भी वे रोकना चाहते हैं। वे रोक तो सकते नहीं, किन्तु दुनिया को दिखाना चाहते हैं कि प्रकृति में जो परिवर्तन किया, वह हममें नहीं हुआ।

मैंने देखा कि एक बहन बाल बनाते-बनाते काला-काला कुछ चुपड़ रही थी। मैंने कहा कि यह कौन-सा तेल है? उसने कहा कि यह तेल नहीं है, यह एक ऐसा है कुछ कि इससे बाल काले हो जाते हैं। मैंने कहा कि प्रकृति ने जब आपके बाल सफेद कर दिये, तो फिर हृदय सफेद करने की बात करो, फिर बालों को काला करने की बात क्यों करती हो? प्रकृति ने बाल सफेद इसलिए किये हैं कि अब तुम हृदय भी सफेद कर लो। प्रकृति की तरफ से जो परिवर्तन है, क्या इस परिवर्तन को रोक सकेगी और वह रुकना; क्या रुकना है क्या? उस कृत्रिमता को कोई जानता नहीं क्या? कितने भी आप सफेदों को काले कर लें, फिर भी जड़ों में तो सफेदी कहीं-न-कहीं रह ही जाती है। वह सफेदी तो और भी मजाक करवाती है। समझदार व्यक्ति कभी भी ऐसी क्रियाओं की अनुमोदना नहीं करेगा या उसे प्रसन्नता होगी, उसे तो ऐसा ही लगेगा कि यह मनुष्य का कितना पागलपन है?

कई व्यक्तियों के चेहरे पर जो कुदरत ने रोग बना दिया है, तो उस चमड़ी में जो थोड़े-बहुत दाग हैं, उन्हें समाप्त करने के लिए मुँह सूख जाता है, कितनी बार असह्य वेदना पहुँचती है। आखिर यह सब करने से होगा क्या? कृत्रिमता तो कृत्रिमता है, सहज सौंदर्य प्रकृति से जितना प्राप्त हुआ है, वही रहेगा; परन्तु व्यक्ति शरीर के मोह में इतना पागल है कि किस चीज का उपयोग करना, किसका नहीं करना, किसमें कितनी हिंसा है, किसमें कितने प्राणियों/जीवों का नाश हो रहा है; इसका उसे पता ही नहीं है, क्योंकि वह इस अर्थ में पागल है कि अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों को कैसे सन्तुष्ट करे?

इतनी पशुता का यदि हमने परिचय दिया है, इतने पाषाण हृदय का यदि हमने परिचय दिया और कोमलता गुण का यदि हमने विचार नहीं किया, करुणा गुण यदि हमारे अन्दर नहीं फूटा, तो सोचना पड़ेगा, विचार करना पड़ेगा :

बकरी पाती खात है, ताकि काढ़ी खाल ।
अरे जो बकरी खात है, ताको कौन हलाल ।।

देर है, अन्धेर नहीं है, जो तड़फायेगा, उसे तड़पना पड़ेगा, जो रुलायेगा, उसे रोना पड़ेगा, जो आँसू निकालेगा, उसके आँसू निकल कर रहेंगे ।

मानव-जीवन में प्रभु परमात्मा योग्य अपने ही शरीर जो आत्मदेव हैं, उन्हें पहचानने के लिए सद्गुणों का विकास करना होगा; और सद्गुण के विकास में 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

जो दीन-दुखी प्राणी हैं, वे मनुष्य के रूप में हों, चाहे पशु के रूप में हों, चाहे पक्षी के रूप में हों, हमारे दिल में उन सबके प्रति करुणाभाव, दयाभाव होना ही चाहिये । उनके कष्ट में कैसे सहयोगी बनूं; उनका कष्ट कैसे कम हो; जब तक इस प्रकार की विचारधारा हमारे अन्दर नहीं आयेगी, तब तक करुणा गुण का विकास नहीं होगा, तो फिर हम आकृति के ही मनुष्य हैं, प्रकृति के मनुष्य नहीं बन पायेंगे ।

अमरावती में तपोवन नामक एक आश्रम है, जहाँ सन् १९६५ में गुरु-वर्याश्री विचक्षणश्री महाराज ने आचार्यश्री विनोबा भावे का प्रवचन सुनकर कहा था: 'बाबा, हमें आपका प्रवचन पूरी तरह समझ में नहीं आया ।' इस पर विनोबाजी बोले : 'कुछ तो आया होगा' महाराजश्री ने कहा : 'केवल इतना ही आया कि जिसके जीवन में करुणा भाव का विकास नहीं हुआ, उसके और पशु के जीवन में कोई अन्तर नहीं है ।' विनोबाजी मुस्कुराये और बोले : 'साध्वीजी, आपने प्रवचन का सार तो समझ लिया, फिर जो निस्सार हो उसे समझा भी तो क्या; नहीं समझा भी तो क्या !"

– बालाघाट, 29 अगस्त, 1983

पर्युषण : लोकोत्तर पर्व

जैसे पर्वतों में हिमालय, नदियों में गंगा, पुष्पों में कमल, रूप में रंभा, वैसे ही 'लोकोत्तर पर्व' में जैन परम्परा में पर्युपण पर्व सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण है। पर्व शब्द अपने आप में बहुचर्चित है, इसका चिरपरिचित अर्थ है आनन्द, उल्लास, आमोद, प्रमोद। पर्व के दो भेद होते हैं, एक लौकिक पर्व, दूसरा लोकोत्तर पर्व। लोकोत्तर पर्व में महत्त्व दिया जाता है भाव भूमिका को, जबकि लौकिक पर्व की एक सीमा है कि वह शरीर तक ही सीमित रहता है, शरीर से अधिक उसकी अपनी भूमिका नहीं है; जैसे : नये वस्त्रों को धारण करना, आभूषणों को पहनना, घर सजाना, खाद्य-सामग्री में नवीनता, मनोरंजन की प्रवृत्ति में उल्लास।

लौकिक पर्व और लोकोत्तर पर्व—दोनों अपने आप में बहुत भिन्न हैं। लोकोत्तर पर्व का महत्त्व दृश्यमान जगत पर नहीं, दृश्यमान जगत को देखने वाले के आधार पर है। पर्युपण पर्व लोकोत्तर पर्व है, यह आध्यात्मिक पर्व है, यह आत्मसिद्धि का पर्व है। पर्युपण पर्व में शरीर-भाव भूमिका से हटकर व्यक्ति ज्यादा-से-ज्यादा अध्यात्म की ओर, आत्मा की ओर, चिरन्तन की ओर, शाश्वत की ओर, सत्य की ओर और अपने ही कोने-कोने में विराजमान आत्मशक्ति की ओर जाने का पुरुषार्थ करता है। उन दिनों शारीरिक सुख-सुविधा गौण हो जाती है। पर्युपण पर्व के आगमन पर व्यक्ति का व्याव-हारिक, पारिवारिक शारीरिक—इन्द्रियजन्य सुख-सुविधा में विस्तार नहीं होता, इस दिशा में अति संक्षिप्त होने की वृत्ति होती है। सम्पूर्ण भारत में जहाँ-जहाँ भी जैन समाज है, वहाँ-वहाँ इन दिनों ज्यादा-से-ज्यादा त्याग और तप की व्यवस्था होती है। कितने ऐसे महानुभाव हैं, जो पर्युपण पर्व के आठ दिनों के लिए एक साथ शारीरिक स्तर से जीने के लिए अपने आपको बहुत अलग कर देते हैं; और जिनकी शक्ति होती है, जिनका सामर्थ्य होता है, वे आठ दिन के उपवास कर लेते हैं। इतना ही नहीं, उपवास के साथ पौपध, जो जैन परम्परा में प्रचलित है, उसे अपनाते हैं।

'प्रकृष्ट औपध इति पौपध', जो आत्मसिद्धि में विशेप प्रकार से औपध है, उसे पौपध कहते हैं। आठ दिन के लिए कई भाई-बहन घर से सर्वथा सम्बन्ध तोड़ने के लिए पौपध को स्वीकार कर लेते हैं। वे आहार से सम्बन्ध

तोड़ देते हैं; पारिवारिक जिम्मेदारी से सम्बन्ध तोड़ देते हैं। नित नये वस्त्र, नित नये जेवर, शृंगार, पान आदि प्रवृत्तियों से भी अपने आपको अलग करके वे पौषध रखते हैं। पौषध उपवास सहित पौषध । पौषध सहित उपवास – कहने का अर्थ है, शारीरिक स्तर से अपने आपको बिलकुल अलग कर लेना; क्योंकि जब तक संकल्प नहीं होगा, जब तक नियम नहीं होगा, जब तक दृढ़ता नहीं होगी, जब तक त्याग नहीं होगा, तब तक उसकी सामान्य दिनचर्या में वाँछित / अपेक्षित सुधार / परिवर्तन नहीं हो सकेगा। अपनी रोजमर्रा की दिनचर्या में व्यतीत होने वाले समय को व्यक्ति बहुत ज्यादा पर्युषण पर्व में अलग नहीं करता । हरेक व्यक्ति की शक्ति अपने आपमें शारीरिक शक्ति तो बड़ी समर्थ है, लेकिन मानसिक शक्ति बड़ी दुर्बल होती है ।

पर्युषण पर्व के आठ दिन में भोजन पेट के लिए होगा, जिह्वा के लिए भोजन नहीं होगा। आठ दिन भोजन होगा, किन्तु भोजन में हिंसात्मक प्रवृत्तियों का कम-से-कम उपयोग होगा और न्यूनतम हिंसा हो. इसीलिए जैन परिवारों में आठ दिन के लिए हरी सब्जियों का – वनस्पति का सर्वथा त्याग हो जाता है। यहाँ तक कि पान खानेवाले भी आठ दिन पान का त्याग कर देते हैं। आठ दिन के लिए रात्रि भोजन का तो प्रश्न ही नहीं उठता; पानी तक का भी त्याग होता है।

जैन परिवार में जन्म लेने वाले बच्चे-बच्चे के जीवन में ये संस्कार लगभग होते हैं वे पूरी तरह से उपवास नहीं कर सकते, किन्तु भोजन मौन से करेंगे, कम-से-कम जो मिल जाए, जैसा मिल जाए, करेंगे। माँ-बहिनों को भी इस बात का सुझाव है कि आठ दिन भोजन बनाने में अधिक समय मत दीजिये। जिनको खाना है, वे खा लेंगे, सिर्फ दाल-रोटी बनाकर रख दीजिये। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर की आवश्यकताओं को कम-से-कम करके उसकी आवश्यकता और इच्छा-पूर्ति में लगने वाले समय को बचाकर ज्यादा-से-ज्यादा आत्मकल्याण में, अध्यात्मभावना में अपने समय को व्यतीत करने के लिए शुभ आचरण हो; शुद्ध जीवन जीने के लिए ये हैं श्रेयस्कर अनुष्ठान : सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, पूजा, उपवास।

पर्युषण पर्व लौकिक पर्व नहीं; लोकोत्तर पर्व है, आध्यात्मिक पर्व है। पर्युषण पर्व का अर्थ है, परि उपसर्ग है, उष् मध्य में धातु है, अन्त में अण् प्रत्यय है। पर्युषण का अर्थ, पूरी तरह से आत्मा को आत्मा से जोड़ना और आत्मा को आत्मा से जोड़ने के लिए आत्मा को आत्मा से जोड़ने वाले जितने भी निमित्त हैं, जितने भी साधन हैं, जितने भी अनुष्ठान हैं, उन सारे ही अनुष्ठानों में अपने मन को लगाना और इसीलिए लगाना कि मुझे

अपनी आत्मा को धर्म से जोड़ना है। लक्ष्य क्या है ? आत्मा को आत्मा से जोड़ना है। इस दृष्टि से पर्युषण की आराधना विशेष अर्थ रखती है।

पर्युषण पर्व के आठ दिन व्यापार का भी बिलकुल त्याग जैन परम्परा में रहता था, लेकिन आज अर्थलोलुपता व्यक्ति के जैन को इतना अधिक प्रभावित कर रही है कि कहीं-से-कहीं तो जैन परिवारों में ऐसे महानुभाव भी हैं, जो संवत्सरी को भी व्यापार बन्द नहीं करते। नौकरीपेशा लोग भी पर्व के दिनों में अवकाश लेते थे या अधिकाधिक समय धर्माराधना में लगाते थे।

ऐसे ही मनुष्य का मन दुर्बल है, निर्बल है, सांसारिक विषय-वासनाओं में रचा-पचा है, इसीलिए आये दिन वह धर्म-ध्यान कर सके, शुभ आचरण कर सके, अपनी इन्द्रियों को अनुशासन में रख सके, अपने पास-पड़ोसियों से मन को अलग कर सके। अपने मन को मना ले, ऐसी हर व्यक्ति की शक्ति नहीं है। इसलिए उन सारे ही जीवों की मानसिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए महापुरुषों ने विशेष रूप से एक समय की व्यवस्था दी; समय निश्चित कर दिया इसीलिए कि कम-से-कम उनके जीवन में ऐसे संस्कार रहें तो सही, इसी दृष्टि से पर्व का अपना महत्त्व है, और उस पर्व के आने पर, आने के पहले, भाव बदल जाते हैं। पर्व आने के पहले सोचने का ढंग बदल जाता है, दो-चार दिन पहले से मनुष्य का मन त्याग और तप के लिए तैयार हो जाता है और हो ही जाना चाहिए। अब जैन परिवारों में कुछ उद्दण्ड/उच्छृंखल व्यक्ति नजर आने लगे हैं, जो पर्युषण पर्व में ही हरी सब्जी या ऐसी अन्य वस्तुएँ जो पर्व के दिनों में खाना निषिद्ध है, खाने का दुराग्रह करते हैं। उनकी यह उद्दण्डता है, उच्छृंखलता है; महापुरुषों द्वारा निर्धारित आत्मकल्याण के नियमों की बहुत बड़ी अवहेलना है, उपहास है, मजाक है। उन्हें अपनी संस्कृति से प्यार नहीं है, उनकी दृष्टि में सत्संग का महत्त्व नहीं है, महापुरुषों के बताये हुए मार्ग का उनके जीवन में कोई महत्त्व नहीं है।

पर्युषण पर्व के दिनों में स्वच्छ जीवन जीने की प्रेरणा हमें महापुरुषों ने दी है। उन्हें हमारे भोजन से कोई ईर्ष्या तो थी नहीं। न उन्हें हमारे खाने-पहिनने से कहीं एतराज था। उनको क्या दिक्कत थी, उनको क्या परेशानी थी ? उन्होंने हमें ऐसा उपदेश क्यों दिया ? ऐसा उपदेश देने में उनका भला क्या था ? उनका क्या स्वार्थ था ? उनको क्या मोह था ? हमें त्याग करवा कर क्या उन्होंने हमारा धन पाया ? वे तो जंगल के जोगी बने थे, भला उन्हें ईर्ष्या होती तो क्यों होती ? जहाँ उन्होंने अपने भाग्य से प्राप्त सुखों को भी ठोकर मारी थी और सुख-सुविधाओं का जिन्होंने त्याग किया था, वे दूसरों के धन के निमित्त को लेकर ईर्ष्या से तो मना नहीं कर सकते। उनका एकमात्र ध्येय रहा—स्व-परकल्याण। इसी से प्रेरित होकर

उन्होंने हमें पर्युषण पर्व में निर्मल-निर्दोष, सरल-सहज जीवन जीने की प्रेरणा दी।

यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि जिन महापुरुषों ने हमारे जीवन को व्यवस्था देने का उपदेश दिया; त्याग और तप का उपदेश दिया, मानवीय गुणों के सद्भाव का उपदेश दिया उन्हें कहाँ हम से ईर्ष्या थी; उनको हमारा काल भी बोध नहीं था। वे तो हमारे आत्महितैषी थे। इसी के नाते आत्मोत्थान के मार्ग में बाधक/प्रतिकूल परिस्थितियों का त्याग करने का उन्होंने हमें उपदेश दिया।

मान लीजिये, आपका मन कमजोर है, आपका तन कमजोर है, तो आप कम-से-कम खाते हुए भी उन शब्दों का प्रयोग कीजिये कि पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है, आध्यात्मिक पर्व है; ये दिन शरीर के मोह में पागल बनने के नहीं हैं; बल्कि शरीर के मोह से अलग होने के दिन हैं; लेकिन क्या करूँ, मेरा मन कमजोर है, मेरा मन लाचार है, मेरा शरीर दुर्बल है, उससे ज्यादा मेरा मन दुर्बल है, मैं खा तो रहा हूँ, पर यह भी सही बात है कि मुझे खाना नहीं चाहिये। मैं आदत का दास हूँ, इसलिए छोड़ नहीं सकता हूँ, परन्तु वास्तव में मुझे इन्हें छोड़ना चाहिये।

इस प्रकार अपनी कमजोरी, अपनी भावात्मक दुर्बलता को स्वीकार करते हुए यदि कोई व्यक्ति त्याग नहीं कर सकता है, तो भी उसका अपराध क्षम्य है। किन्तु महापुरुषों के उपदेश के प्रति उपहास तो व्यक्ति की स्वछन्द बुद्धि का परिचय है; और वह बुद्धि अपने आप में भले ही कितनी भी अच्छी मानी जाये, किन्तु वह बुद्धि नहीं, दुर्बुद्धि है। दुर्बुद्धि इसलिए है कि आत्महित की शिक्षा उस व्यक्ति को बुरी लगती है। कई व्यक्ति स्वयं तो करते नहीं, किन्तु साथ-ही-साथ करने वाले की हँसी उड़ाते हैं। कहीं-कहीं तो व्यक्ति अपने अधिकारों का गलत उपयोग करता है। उसका अपना मन तैयार नहीं है, तो कोई बात नहीं, पर यदि किसी का मन धर्मध्यान के लिए तैयार है, सामायिक के लिए तैयार है, स्वाध्याय के लिए तैयार है, जप के लिए तैयार है, तो वहाँ ऐसा व्यक्ति बाधक बनता है, और अपने अधिकार की सत्ता जमाता है। अपने मन को महत्त्व देकर दूसरों की अच्छी प्रवृत्ति को रोकता है। रोकने पर जब सद्प्रवृत्ति करने वाले का मन दुखी होता है, अश्रु निकल पड़ते हैं, तो भी उसका मन पसीजता नहीं है, ऐसा वह कठोर/क्रूर हिंसक हो जाता है। उसमें इतनी विवेकशून्यता आ जाती है। केवल अधिकार, केवल अहम्, केवल एक भावना कि 'मैं पति हूँ'। माना कि नारी को पति का आदर करना चाहिये, वह स्वामी के स्थान पर है, जीवन का वह संरक्षक है, सब कुछ है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह अपनी पत्नी की दुर्बलता/असहाय स्थिति का अनुचित लाभ उठाये। इसका यह अर्थ

अपनी आत्मा को धर्म से जोड़ना है। लक्ष्य क्या है ? आत्मा को आत्मा से जोड़ना है। इस दृष्टि से पर्युषण की आराधना विशेष अर्थ रखती है।

पर्युषण पर्व के आठ दिन व्यापार का भी विलकुल त्याग जैन परम्परा में रहता था, लेकिन आज अर्थलोलुपता व्यक्ति के जैन को इतना अधिक प्रभावित कर रही है कि कहीं-से-कहीं तो जैन परिवारों में ऐसे महानुभाव भी हैं, जो संवत्सरी को भी व्यापार वन्द नहीं करते। नौकरीपेशा लोग भी पर्व के दिनों में अवकाश लेते थे या अधिकाधिक समय धर्माराधना में लगाते थे।

ऐसे ही मनुष्य का मन दुर्वल है, निर्वल है, सांसारिक विषय-वासनाओं में रचा-पचा है, इसीलिए आये दिन वह धर्म-ध्यान कर सके, शुभ आचरण कर सके, अपनी इन्द्रियों को अनुशासन में रख सके, अपने पास-पड़ोसियों से मन को अलग कर सके। अपने मन को मना ले, ऐसी हर व्यक्ति की शक्ति नहीं है। इसलिए उन सारे ही जीवों की मानसिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए महापुरुषों ने विशेष रूप से एक समय की व्यवस्था दी; समय निश्चित कर दिया इसीलिए कि कम-से-कम उनके जीवन में ऐसे संस्कार रहें तो सही, इसी दृष्टि से पर्व का अपना महत्त्व है, और उस पर्व के आने पर, आने के पहले, भाव वदल जाते हैं। पर्व आने के पहले सोचने का ढँग बदल जाता है, दो-चार दिन पहले से मनुष्य का मन त्याग और तपके लिए तैयार हो जाता है और हो ही जाना चाहिए। अव जैन परिवारों में कुछ उद्दण्ड/उच्छृंखल व्यक्ति नजर आने लगे हैं, जो पर्युषण पर्व में ही हरी सब्जी या ऐसी अन्य वस्तुएँ जो पर्व के दिनों में खाना निषिद्ध है, खाने का दुराग्रह करते हैं। उनकी यह उदृण्डता है, उच्छृंखलता है; महापुरुषों द्वारा निर्धारित आत्मकल्याण के नियमों की वहुत वड़ी अवहेलना है, उपहास है, मजाक है। उन्हें अपनी संस्कृति से प्यार नहीं है, उनकी दृष्टि में सत्संग का महत्त्व नहीं है, महापुरुषों के वताये हुए मार्ग का उनके जीवन में कोई महत्त्व नहीं है।

पर्युषण पर्व के दिनों में स्वच्छ जीवन जीने की प्रेरणा हमें महापुरुषों ने दी है। उन्हें हमारे भोजन से कोई ईर्ष्या तो थी नहीं। न उन्हें हमारे खाने-पहिनने से कहीं एतराज था। उनको क्या दिक्कत थी, उनको क्या परेशानी थी? उन्होंने हमें ऐसा उपदेश क्यों दिया? ऐसा उपदेश देने में उनका भला क्या था ? उनका क्या स्वार्थ था ? उनको क्या मोह था? हमें त्याग करवा कर क्या उन्होंने हमारा धन पाया? वे तो जंगल के जोगी बने थे, भला उन्हें ईर्ष्या होती तो क्यों होती? जहाँ उन्होंने अपने भाग्य से प्राप्त सुखों को भी ठोकर मारी थी और सुख-सुविधाओं का जिन्होंने त्याग किया था, वे दूसरों के धन के निमित्त को लेकर ईर्ष्या से तो मना नहीं कर सकते। उनका एकमात्र ध्येय रहा – स्व-परकल्याण। इसी से प्रेरित होकर

उन्होंने हमें पर्युषण पर्व में निर्मल-निर्दोष, सरल-सहज जीवन जीने की प्रेरणा दी।

यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि जिन महापुरुषों ने हमारे जीवन को व्यवस्था देने का उपदेश दिया; त्याग और तप का उपदेश दिया, मानवीय गुणों के सद्भाव का उपदेश दिया उन्हें कहाँ हम से ईर्ष्या थी; उनको हमारा काल भी बोध नहीं था। वे तो हमारे आत्महितैषी थे। इसी के नाते आत्मोत्थान के मार्ग में बाधक/प्रतिकूल परिस्थितियों का त्याग करने का उन्होंने हमें उपदेश दिया।

मान लीजिये, आपका मन कमजोर है, आपका तन कमजोर है, तो आप कम-से-कम खाते हुए भी उन शब्दों का प्रयोग कीजिये कि पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है, आध्यात्मिक पर्व है; ये दिन शरीर के मोह में पागल बनने के नहीं हैं; बल्कि शरीर के मोह से अलग होने के दिन हैं; लेकिन क्या करूँ, मेरा मन कमजोर है, मेरा मन लाचार है, मेरा शरीर दुर्बल है, उससे ज्यादा मेरा मन दुर्बल है, मैं खा तो रहा हूँ, पर यह भी सही बात है कि मुझे खाना नहीं चाहिये। मैं आदत का दास हूँ, इसलिए छोड़ नहीं सकता हूँ, परन्तु वास्तव में मुझे इन्हें छोड़ना चाहिये।

इस प्रकार अपनी कमजोरी, अपनी भावात्मक दुर्बलता को स्वीकार करते हुए यदि कोई व्यक्ति त्याग नहीं कर सकता है, तो भी उसका अपराध क्षम्य है। किन्तु महापुरुषों के उपदेश के प्रति उपहास तो व्यक्ति की स्वछन्द बुद्धि का परिचय है; और वह बुद्धि अपने आप में भले ही कितनी भी अच्छी मानी जाये, किन्तु वह बुद्धि नहीं, दुर्बुद्धि है। दुर्बुद्धि इसलिए है कि आत्महित की शिक्षा उस व्यक्ति को बुरी लगती है। कई व्यक्ति स्वयं तो करते नहीं, किन्तु साथ-ही-साथ करने वाले की हँसी उड़ाते हैं। कहीं-कहीं तो व्यक्ति अपने अधिकारों का गलत उपयोग करता है। उसका अपना मन तैयार नहीं है, तो कोई बात नहीं, पर यदि किसी का मन धर्मध्यान के लिए तैयार है, सामायिक के लिए तैयार है, स्वाध्याय के लिए तैयार है, जप के लिए तैयार है, तो वहाँ ऐसा व्यक्ति बाधक बनता है, और अपने अधिकार की सत्ता जमाता है। अपने मन को महत्त्व देकर दूसरों की अच्छी प्रवृत्ति को रोकता है। रोकने पर जब सद्प्रवृत्ति करने वाले का मन दुखी होता है, अश्रु निकल पड़ते हैं, तो भी उसका मन पसीजता नहीं है, ऐसा वह कठोर/क्रूर हिंसक हो जाता है। उसमें इतनी विवेकशून्यता आ जाती है। केवल अधिकार, केवल अहम्, केवल एक भावना कि 'मैं पति हूँ'। माना कि नारी को पति का आदर करना चाहिये, वह स्वामी के स्थान पर है, जीवन का वह संरक्षक है, सब कुछ है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह अपनी पत्नी की दुर्बलता/असहाय स्थिति का अनुचित लाभ उठाये। इसका यह अर्थ

अपनी आत्मा को धर्म से जोड़ना है। लक्ष्य क्या है ? आत्मा को आत्मा से जोड़ना है। इस दृष्टि से पर्युषण की आराधना विशेष अर्थ रखती है।

पर्युषण पर्व के आठ दिन व्यापार का भी बिलकुल त्याग जैन परम्परा में रहता था, लेकिन आज अर्थलोलुपता व्यक्ति के जैन को इतना अधिक प्रभावित कर रही है कि कहीं-से-कहीं तो जैन परिवारों में ऐसे महानुभाव भी हैं, जो संवत्सरी को भी व्यापार बन्द नहीं करते। नौकरीपेशा लोग भी पर्व के दिनों में अवकाश लेते थे या अधिकाधिक समय धर्माराधना में लगाते थे।

ऐसे ही मनुष्य का मन दुर्बल है, निर्बल है, सांसारिक विषय-वासनाओं में रचा-पचा है, इसीलिए आये दिन वह धर्म-ध्यान कर सके, शुभ आचरण कर सके, अपनी इन्द्रियों को अनुशासन में रख सके, अपने पास-पड़ोसियों से मन को अलग कर सके। अपने मन को मना ले, ऐसी हर व्यक्ति की शक्ति नहीं है। इसलिए उन सारे ही जीवों की मानसिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए महापुरुषों ने विशेष रूप से एक समय की व्यवस्था दी; समय निश्चित कर दिया इसीलिए कि कम-से-कम उनके जीवन में ऐसे संस्कार रहें तो सही, इसी दृष्टि से पर्व का अपना महत्त्व है, और उस पर्व के आने पर, आने के पहले, भाव बदल जाते हैं। पर्व आने के पहले सोचने का ढंग बदल जाता है, दो-चार दिन पहले से मनुष्य का मन त्याग और तपके लिए तैयार हो जाता है और हो ही जाना चाहिए। अब जैन परिवारों में कुछ उद्दण्ड/उच्छृंखल व्यक्ति नजर आने लगे हैं, जो पर्युषण पर्व में ही हरी सब्जी या ऐसी अन्य वस्तुएँ जो पर्व के दिनों में खाना निषिद्ध है, खाने का दुराग्रह करते हैं। उनकी यह उद्दण्डता है, उच्छृंखलता है; महापुरुषों द्वारा निर्धारित आत्मकल्याण के नियमों की बहुत बड़ी अवहेलना है, उपहास है, मजाक है। उन्हें अपनी संस्कृति से प्यार नहीं है, उनकी दृष्टि में सत्संग का महत्त्व नहीं है, महापुरुषों के बताये हुए मार्ग का उनके जीवन में कोई महत्त्व नहीं है।

पर्युषण पर्व के दिनों में स्वच्छ जीवन जीने की प्रेरणा हमें महापुरुषों ने दी है। उन्हें हमारे भोजन से कोई ईर्ष्या तो थी नहीं। न उन्हें हमारे खाने-पहिनने से कहीं एतराज था। उनको क्या दिक्कत थी, उनको क्या परेशानी थी? उन्होंने हमें ऐसा उपदेश क्यों दिया? ऐसा उपदेश देने में उनका भला क्या था ? उनका क्या स्वार्थ था ? उनको क्या मोह था? हमें त्याग करवा कर क्या उन्होंने हमारा धन पाया? वे तो जंगल के जोगी बने थे, भला उन्हें ईर्ष्या होती तो क्यों होती? जहाँ उन्होंने अपने भाग्य से प्राप्त सुखों को भी ठोकर मारी थी और सुख-सुविधाओं का जिन्होंने त्याग किया था, वे दूसरों के धन के निमित्त को लेकर ईर्ष्या से तो मना नहीं कर सकते। उनका एकमात्र ध्येय रहा — स्व-परकल्याण। इसी से प्रेरित होकर

उन्होंने हमें पर्युषण पर्व में निर्मल-निर्दोष, सरल-सहज जीवन जीने की प्रेरणा दी ।

यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि जिन महापुरुषों ने हमारे जीवन को व्यवस्था देने का उपदेश दिया; त्याग और तप का उपदेश दिया, मानवीय गुणों के सद्भाव का उपदेश दिया उन्हें कहाँ हम से ईर्ष्या थी; उनको हमारा काल भी बोध नहीं था। वे तो हमारे आत्महितैषी थे । इसी के नाते आत्मोत्थान के मार्ग में बाधक/प्रतिकूल परिस्थितियों का त्याग करने का उन्होंने हमें उपदेश दिया।

मान लीजिये, आपका मन कमजोर है, आपका तन कमजोर है, तो आप कम-से-कम खाते हुए भी उन शब्दों का प्रयोग कीजिये कि पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है, आध्यात्मिक पर्व है; ये दिन शरीर के मोह में पागल बनने के नहीं हैं; बल्कि शरीर के मोह से अलग होने के दिन हैं; लेकिन क्या करूँ, मेरा मन कमजोर है, मेरा मन लाचार है, मेरा शरीर दुर्बल है, उससे ज्यादा मेरा मन दुर्बल है, मैं खा तो रहा हूँ, पर यह भी सही बात है कि मुझे खाना नहीं चाहिये। मैं आदत का दास हूँ, इसलिए छोड़ नहीं सकता हूँ, परन्तु वास्तव में मुझे इन्हें छोड़ना चाहिये।

इस प्रकार अपनी कमजोरी, अपनी भावात्मक दुर्बलता को स्वीकार करते हुए यदि कोई व्यक्ति त्याग नहीं कर सकता है, तो भी उसका अपराध क्षम्य है। किन्तु महापुरुषों के उपदेश के प्रति उपहास तो व्यक्ति की स्वच्छन्द बुद्धि का परिचय है; और वह बुद्धि अपने आप में भले ही कितनी भी अच्छी मानी जाये, किन्तु वह बुद्धि नहीं, दुर्बुद्धि है। दुर्बुद्धि इसलिए है कि आत्महित की शिक्षा उस व्यक्ति को बुरी लगती है। कई व्यक्ति स्वयं तो करते नहीं, किन्तु साथ-ही-साथ करने वाले की हँसी उड़ाते हैं। कहीं-कहीं तो व्यक्ति अपने अधिकारों का गलत उपयोग करता है। उसका अपना मन तैयार नहीं है, तो कोई बात नहीं, पर यदि किसी का मन धर्मध्यान के लिए तैयार है, सामायिक के लिए तैयार है, स्वाध्याय के लिए तैयार है, जप के लिए तैयार है, तो वहाँ ऐसा व्यक्ति बाधक बनता है, और अपने अधिकार की सत्ता जमाता है। अपने मन को महत्त्व देकर दूसरों की अच्छी प्रवृत्ति को रोकता है । रोकने पर जब सद्प्रवृत्ति करने वाले का मन दुखी होता है, अश्रु निकल पड़ते हैं, तो भी उसका मन पसीजता नहीं है, ऐसा वह कठोर/क्रूर हिंसक हो जाता है। उसमें इतनी विवेकशून्यता आ जाती है। केवल अधिकार, केवल अहम्, केवल एक भावना कि 'मैं पति हूँ'। माना कि नारी को पति का आदर करना चाहिये, वह स्वामी के स्थान पर है, जीवन का वह संरक्षक है, सब कुछ है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह अपनी पत्नी की दुर्बलता/असहाय स्थिति का अनुचित लाभ उठाये। इसका यह अर्थ

तो नहीं कि उसकी पत्नी के मन का कोई महत्त्व नहीं। कम-से-कम इतना तो देखना ही चाहिये कि यदि वह सन्मार्ग पर, धर्म के मार्ग पर चल रही है, तो उसे निरुत्साहित न करे। उसे प्रतिबन्धित नहीं किया जाना चाहिये। यह कितना निन्दनीय और अशोभनीय है कि व्यक्ति को स्वयं का अपराध, अपराध नहीं लगता, स्वयं की उद्दण्डता उद्दण्डता नहीं लगती; अपने आपको व्यक्ति न मालूम क्या मानता है? नारियों की सरलता का, सहनशीलता का कभी-कभी गलत फायदा उठाता है। और इतराता भी है, हर बात पर कि मैं मालिक हूँ। यह जिम्मेदारी का बहुत ही गलत फायदा है। मैं यह नहीं कह रही हूँ कि प्राय सभी व्यक्ति ऐसे हैं। ऐसे बहुत हैं, जो सहन भी करते हैं, ऐसे भी बहुत हैं, जो सहन नहीं करते, किन्तु जो करने वाले को सहर्ष अनुमति देते हैं, वे आटे में नमक जितने हैं। जो इतनी रोक-टोक करते हैं, उन्हीं लोगों की अपेक्षा मेरा यह चिन्तन है। गलत दिशा में जाने से रोके सो बात समझ में आती है, पर आत्मोत्थान के मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को रोकना/टोकना अपने अधिकार का दुरुपयोग है।

पर्युषण पर्व के संदर्भ में ये सारे विचार हैं। पर्युषण पर्व जैन समाज का विशेष पर्व होने से, उसका नाम आना स्वाभाविक है, किन्तु इस निमित्त को लेकर भी विचार जो भी है, सभी के लिए उपयोगी हैं; सभी के जीवन-विकास की बात है। पर्युषण पर्व के आगमन पर शारीरिक प्रवृत्तियों का संक्षिप्तीकरण करना है, मनोरंजन की प्रवृत्तियों का अभाव करना है। शरीर को श्रृंगारिक करने की जो प्रवृत्ति नारी समाज में है, उसका तो त्याग होना ही चाहिये। शरीर को श्रृंगारिक करने, शरीर को सुसज्जित करने, ज्यादा-से-ज्यादा भड़कीले-तड़कीले वस्त्र पहनने के लिए लौकिक पर्व बहुत हैं, लेकिन पर्युषण तो अध्यात्म-पर्व है, उसमें ऐसी विसंगतियाँ कैसे बरदाश्त की जा सकती हैं ? पर्युषण के सत्संगपूर्ण वातावरण में सत्संग से मन को हटाने में ऐसे स्त्री-पुरुष निमित्त हैं, जो अपनी भड़कीली वेशभूषा के कारण सब का मन सत्संग से हटा देते हैं। सत्संग के वातावरण में स्वच्छ/सादे वस्त्र होने चाहिये। वे तो पवित्रता के प्रतीक होने चाहिये। शरीर को श्रृंगारिक करने वाली सारी ही वेशभूषा पर्युषण के दिनों में नहीं होनी चाहिये। इस अविवेकपूर्ण परम्परा में पहनने का महत्त्व बढ़ गया है, और फिर उसे विवेकपूर्ण छोड़ देना चाहिये और बिलकुल सादगीमय जीवन में आ जाना चाहिये।

पर्युषण पर्व के आगमन पर आराध्य के सुमरन में दो-तीन घण्टे का समय जाना चाहिये। सामायिक होनी चाहिये और उसमें ज्यादा-से-ज्यादा सम परिणाम रखने का प्रयत्न करना चाहिये। शुभ परिणाम/अच्छे विचार

रखने की पूरी-पूरी कोशिश होनी चाहिये। सत्संग के वाद भोजन भी करें, तो मौन करें। ठण्डे-गर्म का मोह छोड़ कर जब भी मिल जाए, जैसा भी मिल जाए, खा लें। उपवास करने वालों को कहना चाहिये कि आप हमारे लिए बनाना जरूर, क्योंकि हम इस पेट के मोह को छोड़ नहीं सकते। पेट-पूर्ति के लिए हमें अपने मन को आठ दिन महत्त्व नहीं देना है। ठण्डे-गर्म का मोह छोड़कर मौनपूर्वक जितना जरूरी भोजन करना पड़े, कर लेना चाहिये और सूर्यास्त के वाद तो इस मन को मना ही लेना चाहिये। कम-से-कम अपनी संस्कृति से इतना प्यार तो होना चाहिये। दोपहर में पूजा, रात्रि में प्रतिक्रमण, और प्रतिक्रमण के वाद भक्ति। पूरे दिन मे जो पाप हुए हैं, उन पापों की आलोचना करके, उस पाप भाव/प्रवृत्ति से वापिस लौटना प्रतिक्रमण है। ये सव करते हुए ज्यादा-से-ज्यादा अहिंसा का ध्यान रखना चाहिये। वस्त्र-शोधन, शरीर-स्नान भी कम-से-कम पानी से करना चाहिये। अव तो विज्ञान ने भी पानी में जीवात्मा सिद्ध कर दी। वैष्णव दर्शन सदा से कहता है : 'जले विष्णु, थले विष्णु।' धर्मशास्त्र तो कहते हैं पर अव प्रयोगात्मक रूप से मानने वाले वैज्ञानिकों की वात पर विश्वास करने वालों को भी विश्वास होगा। इन दिनों कम-से-कम हिंसा हो, ज्यादा-से-ज्यादा अहिंसा का पालन हो, ऐसे विचार होने चाहिये। भाषा कटु/कड़वी नहीं होनी चाहिये। जैसे खाने में कण्ट्रोल करना है, वैसे ही इन दिनों में वोलने में भी कण्ट्रोल करना है। जैसे भोजन करने में जिह्वा का अनुशासन है, वैसे वात करने में भी अनुशासन हो। वाणी पर अनुशासन रखिये; वाणी को संयमित कीजिये। आवश्यकतानुसार ही वोलिये। अधिक वोलना भी हिंसा है; क्योंकि अधिक वोलने वाला गलत वोले विना रहेगा नहीं। अधिक वोलने वाला हँसी में कभी, झगडे का वातावरण वनाये विना रहेगा नहीं; किसी कवि ने कहा भी है : 'रोग की जड़ खाँसी, झगड़े की जड़ हाँसी।'

पर्युषण पर्व के इन दिनों में यह मननीय/विचारणीय है कि जीवन में सुख-दुःख धूप-छाया की तरह है। सूर्य उदय होता है, तो अस्त भी होता है। सुख और दुःख कोई वड़ी वात नहीं है। यदि सुख नहीं होगा, तो दुःख का ज्ञान क्या होगा और यदि दुःख नहीं होगा, तो सुख का महत्त्व क्या होगा ? यह तो पुण्य-पाप का झूला है, जिन्दगी में सुख-दुःख के क्षण तो आते ही रहेंगे, लेकिन विवेक इस वात है कि दुःख के दिनों को कैसे काटें, कितना धैर्य रखें, कितनी समझदारी का परिचय दें, कितना शालीनता का परिचय दें ?

आइये, पर्युषण-जैसे लोकोत्तर पर्व के सन्देश को हृदयंगम कर जीवन को सार्थक वनायें।

☐

– वालाघाट, 3 सितम्वर, 1983

एकाकी / आत्मार्थी

जीव को जीव के स्वरूप का वोध करवाने के लिए ज्ञानियों ने अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया। वारह भावना के माध्यम से भी ज्ञानियों ने जीव को यही समझाने का प्रयत्न किया कि तुम स्वयं स्वयं की शक्ति से परिचित बनो। ज्ञानियों ने जो आत्मा सच्चिदानन्द चैतन्य है, उसे अपनी शक्ति से परिचित करवाने के लिए जिनके संपर्क / संसर्ग में जीवात्मा अपने आत्मस्वभाव भूल वैठा है, उनके गुणधर्म की चर्चा की और उनके गुणधर्म चर्चा करते हुए वताया कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, प्रत्येक द्रव्य का अपना गुणधर्म है और प्रत्येक द्रव्य में उसका गुणधर्म रहता है। कोई भी द्रव्य किसी भी स्थान में, किसी भी क्षेत्र में अपना गुणधर्म का त्याग नहीं करता।

अनित्य भावना के माध्यम से जीव को यह समझाने की कोशिश की कि जितने भी संयोग-सम्वन्ध हैं, वे सारे ही संयोग-सम्वन्ध अनित्य हैं, नित्य नहीं हैं, इसलिए अनित्य संयोगों में भरमाना, अनित्य संयोगों को सुदृढ़ वनाना, अनित्य संयोगों में जीवन को समर्पित करना—यह अज्ञान का परिचय है।

दूसरी भावना के माध्यम से समझाया कि तुम जिनके आधार पर अपनी शान का अनुभव करते हो, अपनी महानता अनुभव करते हो, अपना वड़प्पन अनुभव करते हो, अपने को महत्त्वपूर्ण मानते हो, किन्तु मृत्यु के क्षणों में यह रूप, यह रंग, यह धन और यह धरती, जिसके आधार पर तुम अपना स्वामित्व स्वीकार कर रहे हो; सुख के क्षणों में तुम्हें यह कभी भी शरणगति देने वाली नहीं है। इसी प्रकार तीसरी भावना में भी संसार के स्वरूप का अनुभव करते हो, अपने को महत्त्वपूर्ण मानते हो, किन्तु मृत्यु के क्षणों में यह रूप, यह रंग, यह धन और यह धरती, जिसके आधार पर तुम अपना स्वामित्व स्वीकार कर रहे हो; सुख के क्षणों में तुम्हें यह कभी भी शरणगति देने वाली नहीं है। इसी प्रकार तीसरी भावना में भी संसार के स्वरूप का परिचय करवाया गया है।

चौथी भावना है एकत्व भावना, जिसके माध्यम से जीव के अज्ञान का अन्त करने के लिए, अज्ञान भाव से मुक्त करने के लिए, ज्ञानियों ने कहा कि तुम भले सबके बीच में रहते हुए, सबके आधार पर अपना परिचय दो, पर तुम्हारा यथार्थ परिचय, वास्तविक परिचय एकाकी है। तुम अनन्त काल के राही हो, इस नाते न मालूम कितने विश्राम लिये हैं, कितने मोड़ लिये हैं, कितने शरीर बदले हैं, कितनी गतियाँ बदली हैं और कितने जन्मों में किन-किन जीवों के साथ तुम्हारा रागात्मक और द्वेषात्मक सम्बन्ध रहा है, किन्तु सारे ही सम्बन्धों से तुम्हारी बार-बार विदाई हुई है। कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं, जिसके बारे में तुम कह सको कि यह सदा था और सदा रहेगा। कोई भी सम्बन्ध, कोई भी ऐसा व्यक्ति आज तुम्हें दिखाई नहीं देता होगा, जो कहे कि मैं सदा से इसी रूप में संसार में था, हूँ और रहूँगा।

आज हूँ यह कहना सापेक्ष सत्य है, पर—था, रहूँगा मूल द्रव्य की अपेक्षा, आत्मद्रव्य की दृष्टि से था, हूँ और रहूँगा, यह पर्याय की अपेक्षा बात नहीं, द्रव्य की अपेक्षा बात नहीं, आत्मा की अपेक्षा बात है। किन्तु हमारे जितने सम्बन्ध हैं और जिनके आधार पर व्यक्ति अपना विस्तार मानता है; वह सारा-का-सारा विस्तार पुण्य-पाप का खेल है। और पुण्य-पाप का खेल रचने वाला स्वयं जीवात्मा है; क्योंकि पुण्य-पाप वह स्वयं बाँधता है, इसलिए स्वयं ही उन कर्मों का फल भोगता, है, फिर वह एकाकी है। जन्म के समय एकाकी है, मृत्यु के समय एकाकी,है वेदना भोगने के समय एकाकी है। सुख-दुःख की जो भी उसके मन में से वेदना होती है, उसका अनुभव उसे स्वयं करना पड़ता है, सबके बीच में रहते हुए आत्मदेव लिए जीव को इस बात का अभ्यास करना चाहिये कि चैतन्य चिदानन्द तुम सबके बीच में हो, किन्तु सबके बीच रहते हुए तुम एकाकी हो, कैसे एकाकी हो:

एजेहे न तुम्हें कोई, न है मनुष्य सत्संग।
एवं अधीन मन को, अपना मन अनुशासन॥

अधीन मन से अपने आपको अनुशासित करें—कैसे करें: 'एजेहे न तुम्हें कोई'। मैं किसी का नहीं और मेरा कोई नहीं। मोह के आधार पर हमने माना है, हमने दूसरों को अपना बनाया है। हमने दूसरे व्यक्तियों को और पदार्थों को मोहभाव से उन सबके साथ में सम्बन्ध स्थापित किया है; किन्तु वह सम्बन्ध बनाया हुआ है, वह अपने मोह का विस्तार है; किन्तु यथार्थ में देखा जाए, तो कोई किसी का है नहीं, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है।

ऐसे ही जीव ने अनन्तकाल की यात्रा में इतर द्रव्यों के संयोग में विजातीय तत्त्व से सम्बन्ध स्थापित कर लिया है और उसने अजीव को जीव के रूप में मानकर उसकी पूजा की है। फिर भी त्रिकाल में भी जीव जीव

ही रहा है और अजीव अजीव ही रहा है। एक साथ रहकर भी जीव जीव ही रहा है; पानी पानी ही रहा है। सबका अपना स्वभाव है। अग्नि का अपना धर्म है, पानी का अपना धर्म है, नीम का अपना धर्म है। धर्म होना ही उसका स्वभाव है, वैसे ही चैतन्य चिदानन्द का भी अपना धर्म है, अपना स्वभाव है, परन्तु उसने अपने गुणधर्म को जानने की कभी कोशिश नहीं की।

ज्ञानी भगवन्त बार-बार यही उपदेश दे रहे हैं, यही शिक्षा दे रहे हैं, यही सन्देश दे रहे हैं, यही मार्गदर्शन दे रहे हैं, चौरासी लाख योनियों में अपनी आत्मशक्ति को संभालने का। उस शक्ति से परिचित होने का अवसर किसी क्षण इस जीव को मिला। शक्ति की फोटो देखी, पर स्वयं की फोटो इस जीव को कभी भी देखने का मौका नहीं मिला। रंग की फोटो देखी, रूप की फोटो देखी, धन की फोटो भी देखी और धरती की फोटो भी देखी। रुपये का आकार वह भी तो फोटो है। जितने भी संसार में द्रव्य हैं—रूपी द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, अजीव द्रव्य उनका आकार है। ये आकार सदा उस संसार के आकार को देख रहा है। उनका आकार जितना भी दिखाई दे रहा है, फोटो है। फोटो किसकी है? पुद्गल की है, अजीव की है, किन्तु फोटो देखने वाला जो है, उसके जगत की फोटो सदा देखी, सम्बन्धों की फोटो सदा देखी, धन और धरती की फोटो सदा देखी। वैज्ञानिक साधनों के आविष्कार में भी उसने बहुत कुछ अपनी शक्ति का प्रयोग किया। इसके बाद भी अपनी फोटो देखने का अवसर इस जीवन को कभी नहीं मिला। दुनिया को देखने के लिए दो आँखें पर्याप्त हैं, लेकिन अपने चेहरे को देखने के लिए दो आँखें पर्याप्त नहीं हैं, वहाँ तो आईने की जरूरत है। अपने चेहरे को देखने के लिए क्या चाहिये? आईना चाहिये, दर्पण चाहिये।

ऐसे ही इस जीव को जगत को देखने की क्षमता तो है, किन्तु स्वयं को देखने के लिए सद्गुरु की वाणी-रूप आईना चाहिये। सद्गुरु की मुद्रा-रूपी आईना चाहिये। जहाँ किसको देखें? मुझे देखें, मुझे देखने के लिए किनको देखें? इस दृष्टि से देखें कि ऐसा ही मेरी आत्मा का स्वरूप है। पर मैं अपने आत्मस्वरूप से आज तक परिचित नहीं हूँ और जिसकी शक्ति की महिमा आज तक हमारी दृष्टि में नहीं आई है। किसकी शक्ति की महिमा हमारी दृष्टि में नहीं आई है? हमारी ही शक्ति की महिमा हमारी दृष्टि में नहीं आई। धरती का बहुमान तो आ गया कि यह उपजाऊ भूमि है, यह बहुत मुख्य भूमि है, इसलिए इसका बहुमान आ गया। दस-बीस हजार का यदि कोई आभूषण है, तो कीमत के आधार पर उसका बहुमान भी आ जाएगा। एक फर्नीचर लगा हुआ कमरा जिसमें गन्दे पैर नहीं ले जाना,

क्योंकि कालीन दो हजार का है, इसलिए उसकी भी सुरक्षा और व्यवस्था का बहुमान व्यक्ति को आ गया, पर अपनी आत्मा जिसमें अनन्त शक्ति है, जो अनन्त शक्ति का नगीना है, उसकी महत्ता समझ में अभी तक नहीं आई।

आज अणुशक्ति को किसने पहिचाना ? अणुशक्ति का प्रयोग किसने किया? अणु में अनन्त शक्ति है, ऐसा ज्ञान किसको हुआ? क्या अणु को अणु की शक्ति का ज्ञान है? अणु में शक्ति है, किन्तु अणु की शक्ति का ज्ञाता अणु नही है। चैतन्य चिदानंद आत्मा ही है। सिवाय आत्मा के जगत् के मूल्य देने की क्षमता किसी की नहीं है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पूछा गया कि विज्ञान का महत्त्व आपकी दृष्टि में क्या है? तब उन्होंने कहा कि विज्ञान का मेरी दृष्टि में महत्त्व है, जरूर है, पर वह नौकर से अधिक नही है, जैसे एक नौकर सेठ को जरूरत पूरी करने में बहुत ज्यादा सुविधा और साधन दे देता है, वैसे ही विज्ञान संसार में मनुष्य को ज्यादा-से-ज्यादा सुख-सुविधा दे सकता है। एक प्रश्न किया था उनसे प्रश्न करने वाले ने कि क्या विज्ञान आत्मकल्याण के लिए पर्याप्त है ? क्या विज्ञान आत्मकल्याण में सहयोगी है ? क्या विज्ञान आत्मकल्याण की दिशा दे सकता है? तब उन्होंने जवाब दिया कि विज्ञान संसार में रहने के लिए मनुष्य को ज्या-से-ज्यादा, अच्छे-से-अच्छे साधन दे सकता है, किन्तु आत्मकल्याण का मार्ग नहीं दे सकता। उस व्यक्ति ने फिर से प्रश्न किया कि विज्ञान का जितना दुनिया की दृष्टि में महत्व है उसको आपने इतना सम्मान कैसे दिया? तो उन्होंने जवाब दिया कि नौकर को नौकर का ही महत्त्व दिया जाएगा। सेठ को सेठ का ही महत्त्व दिया जाएगा। यथास्थान दोनों की उपयोगिता है, यथास्थान दोनों का महत्त्व है; फिर भी तुलना में एक-दूसरे के बराबर में एक-दूसरा नहीं है। इसलिए आत्मकल्याण के लिए तो मनुष्य को सदा अध्यात्म की ही शरण में जाना पड़ेगा। अध्यात्म की ही आवश्यकता अनुभव करनी पड़ेगी। विज्ञान कभी आत्मशक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, उस विज्ञान को भी प्रयोगात्मक रूप देने वाला है कोई ? अणु की शक्ति को जानने की शक्ति भी जीव में है, आत्मा में है; अजीव में शक्ति है, किन्तु शक्ति के पहचानने का सामर्थ्य अजीव में नहीं है। जीव वह है, जिसमें जानने की क्षमता है। अजीव-रूपी पुद्गल द्रव्य वह है जो दिखाई देता है, किन्तु देखने की क्षमता जिसमें नहीं है, जिसमें स्वभाव है, किन्तु स्वभाव का भाव नहीं है। स्वभाव तो है, हीरे की चमक एक स्वभाव है, पत्थर की एक क्वालिटी है, वह एक स्वभाव है। सोने में एक गुण है कि उसका स्वभाव है—पीलापन, किन्तु स्वभाव तो है जो सोने का लक्षण है कोमलता, सोने का गुणधर्म है, ऐसा जानने का सामर्थ्य सोने में नहीं है,

ही रहा है और अजीव अजीव ही रहा है। एक साथ रहकर भी जीव जीव ही रहा है; पानी पानी ही रहा है। सबका अपना स्वभाव है। अग्नि का अपना धर्म है, पानी का अपना धर्म है, नीम का अपना धर्म है। धर्म होना ही उसका स्वभाव है, वैसे ही चैतन्य चिदानन्द का भी अपना धर्म है, अपना स्वभाव है, परन्तु उसने अपने गुणधर्म को जानने की कभी कोशिश नहीं की।

ज्ञानी भगवन्त बार-बार यही उपदेश दे रहे हैं, यही शिक्षा दे रहे हैं, यही सन्देश दे रहे हैं, यही मार्गदर्शन दे रहे हैं, चौरासी लाख योनियों में अपनी आत्मशक्ति को संभालने का। उस शक्ति से परिचित होने का अवसर किसी क्षण इस जीव को मिला। शक्ति की फोटो देखी, पर स्वयं की फोटो इस जीव को कभी भी देखने का मौका नहीं मिला। रंग की फोटो देखी, रूप की फोटो देखी, धन की फोटो भी देखी और धरती की फोटो भी देखी। रुपये का आकार वह भी तो फोटो है। जितने भी संसार में द्रव्य हैं—रूपी द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, अजीव द्रव्य उनका आकार है। ये आकार सदा उस संसार के आकार को देख रहा है। उनका आकार जितना भी दिखाई दे रहा है, फोटो है। फोटो किसकी है? पुद्गल की है, अजीव की है, किन्तु फोटो देखने वाला जो है, उसके जगत की फोटो सदा देखी, सम्बन्धों की फोटो सदा देखी, धन और धरती की फोटो सदा देखी। वैज्ञानिक साधनों के आविष्कार में भी उसने बहुत कुछ अपनी शक्ति का प्रयोग किया। इसके बाद भी अपनी फोटो देखने का अवसर इस जीवन को कभी नहीं मिला। दुनिया को देखने के लिए दो आँखें पर्याप्त हैं, लेकिन अपने चेहरे को देखने के लिए दो आँखें पर्याप्त नहीं हैं, वहाँ तो आईने की जरूरत है। अपने चेहरे को देखने के लिए क्या चाहिये? आईना चाहिये, दर्पण चाहिये।

ऐसे ही इस जीव को जगत को देखने की क्षमता तो है, किन्तु स्वयं को देखने के लिए सद्गुरु की वाणी-रूप आईना चाहिये। सद्गुरु की मुद्रा-रूपी आईना चाहिये। जहाँ किसको देखें? मुझे देखें, मुझे देखने के लिए किनको देखें? इस दृष्टि से देखें कि ऐसा ही मेरी आत्मा का स्वरूप है। पर मैं अपने आत्मस्वरूप से आज तक परिचित नहीं हूँ और जिसकी शक्ति की महिमा आज तक हमारी दृष्टि में नहीं आई है। किसकी शक्ति की महिमा हमारी दृष्टि में नहीं आई है? हमारी ही शक्ति की महिमा हमारी दृष्टि में नहीं आई। धरती का बहुमान तो आ गया कि यह उपजाऊ भूमि है, यह बहुत मुख्य भूमि है, इसलिए इसका बहुमान आ गया। दस-बीस हजार का यदि कोई आभूषण है, तो कीमत के आधार पर उसका बहुमान भी आ जाएगा। एक फर्नीचर लगा हुआ कमरा जिसमें गन्दे पैर नहीं ले जाना,

वह नहीं जान सकता; क्योंकि उसका स्वभाव है, किन्तु स्वभाव को जानने का भाव नहीं है। एक दस लाख की बिल्डिंग खड़ी है, उसमें दस लाख का सामान लगा है और बनाने वाले को एक वर्ष से अधिक का समय लगाना पड़ा है। फिर भी मकान की शक्ति नहीं है कि अपना मूल्यांकन करे। मकान नहीं करेगा कि मेरी क्या कीमत है, मकान की जब कीमत करेंगे जब आपमें सो कोई सजीव, निर्जीव मुर्दा नहीं, सजीव जब तक जीवात्मा है, मूल्यांकन होगा, पर कौन कहेगा? इस जीव की ही शक्ति है, पूरे जगत् को जानने की, पूरे जगत् को समझने की पर जगत् को जानने में जीव ने अपनी शक्ति का उपयोग सदा किया है, पर स्वयं अपने को जानने में इसने आज तक उपयोग नहीं किया। अपनी शक्ति से परिचित होने का नाम ही सम्यक् दर्शन है, अपनी आत्मशक्ति की प्रतीति होना ही सम्यक् ज्ञान है। पर उस दिशा में जीव ने कभी प्रयत्न नहीं किया। धर्म तो बहुत किया, किन्तु धर्म, धर्म के लिए नहीं किया। धर्म धर्म के लिए है, पर धर्म, सांसारिक साधन. प्रतिष्ठा-सम्मान, पुण्य-बंधन के लिए है। दोनों में बहुत अन्तर है।

हमारे ही शरीर में विराजमान चैतन्य-चिदानन्द को जब तक समझने का प्रयास नहीं होगा, तब तक बाहर की बुराइयों को सही ढंग से हम समझने में सफल नहीं हो सकेंगे। क्योंकि जीव अपनी शक्ति को पहचाने बिना दूसरों को समर्पित है, इसलिए उसको राग और द्वेष है। नित्य नये मोह का सम्बन्ध स्थापित करता रहता है। भक्ति का आधार बदलता रहता है। रोता रहता है, हँसता रहता है। ज्ञानी कहते हैं कि सबको ऐसा निरन्तर हो रहा है। क्यों ऐसा हो रहा है? इसलिए कि मैं एकाकी हूँ, ऐसा जीव में विश्वास कभी नहीं हुआ, जबकि आँखों के आधार पर देख रहा है। जाने को भी देख रहा है, आने को भी देख रहा है। जन्म को भी देख रहा है, मृत्यु को भी देख रहा है। शरीर में होने वाली हर बीमारी को देख रहा है और बीमारी में बीमारी के भोगने वाले की तड़प और वेदना को भी देख रहा है और वहाँ उस वेदना भोगने में एकाकी एकत्व को भी देख रहा है। कहने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को जो मजाक के मूड में कह देते हैं कि एक व्यक्ति हमारे यहाँ धर्मात्मा है, तो सब उसका पल्ला पकड़ लेंगे और उसके पीछे-पीछे चले जायेंगे। अरे भई, ऐसा यदि संसार में होता, तो एक व्यक्ति हर घर का बैठक र के भोजन कर ले, हर व्यक्ति को भोजन करने की जरूरत ही क्या है? फिर इतना बनाने की जरूरत ही क्या है? फिर इतना पकाने की जरूरत ही क्या है? घर में कोई एक सदस्य भोजन कर ले, सबका पेट अपने आप भर जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, एकाकी है, उसकी अनन्त काल की यात्रा एकाकी है, तो किसी का हुआ नहीं और कोई उसका नहीं है।

ज्ञानी कहते हैं कि तुम किस क्षण पर रोओगे और किस क्षण पर रीझोगे, सब कुछ परिवर्तनशील है। एक आत्मा ही सहज स्वभाव है, बाकी सब कुछ बदल रहा है और बदलते हुये को तुम कितना पकड़ोगे, पर इस जीवात्मा में अनन्तकाल की यात्रा में मैं एकाकी आत्मा हूँ, अनन्त काल का राही हूँ मेरे ही कर्मों का फल मैं भोगता हूँ और कर्मफल भोगने के क्षणों में रति, अरति, हर्ष, शोक मनाकर फिर से मैं ही कर्म बाँधता हूँ। ऐसा इस जीव को कभी आज तक विश्वास भावों में नहीं आया। शब्दों से तो करता है, किन्तु भावों में कभी ऐसा हुआ नहीं है। मुनिराज को जब बोध हुआ जब विवेक आया और जब उन्होंने जाना कि जिस शरीर के आधार पर मैं अपने अस्तित्व का अनुभव करता हूँ, जिस शरीर के आधार पर मैं अपन आप का परिचय देता हूँ। किसका परिचय देता हूँ? यह शरीर भी मेरा नहीं है। इसकी भी एक व्यवस्था है उसका भी जनम है, उसका भी मरण है, उसकी भी अपनी सारी प्रतिक्रिया है। मैं उसमें हूँ, मैं वह नहीं हूँ। मैं आत्मा है। वह शरीर में है; पूरे शरीर में फैली हुई है, जहाँ-जहाँ भी अनुभूति हो रही है, वहाँ-वहाँ आत्मा के प्रदेश फैले हुए हैं। आत्मा शरीर में है, पर आत्मा शरीर पर नहीं है। ये अज्ञानी जीव सदा से ही शरीर को आत्मा का महत्त्व दे रहा है। शरीर को ही मैं मान कर चल रहा है। और उसी के आधार पर अपने आपका सोचता, समझता है। इसका आत्मज्ञान होने के बाद, अध्यात्म ज्ञान आने के बाद वह आत्मा अनादि काल से एकाकी है, ऐसी जिसकी दृष्टि में आ जाएगा उसका सोचना, समझना, बोलना सब कुछ बदल जाएगा। यह अपनी फोटो देखने के लिए मात्र मनुष्य जिन्दगी है; पर अपनी फोटो देखने की किसी को पड़ी नहीं है।

श्रीमद् राजचन्द्र किसी समय किसी व्यक्ति से बातचीत कर रहे थे और किसी ने कहा कि यह नगरी ऐसी है, तो उस नगरी का परिचय देते हुये उन्होंने कहा कि भाई, तुमको ये बम्बई कैसी भी दिखाई देती हो, पर मैं जब अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से आत्म-ज्ञान के आधार पर इस पौद्गलिक जगत् का दर्शन करता हूँ तो मुझे ये बम्बई किसी और ही रूप में लगती है और उन्होंने शब्द दे दिया, जो शब्द शायद हम सबके लिए समझना एकदम से मुश्किल हो जायेगा "अमने तो आ मुम्बई श्मशान जेही लागे"। हमको तो यह बम्बई श्मशान-जैसी लगती है। जब तक यह रहस्य समझ में नहीं आयेगा, शायद व्यक्ति सोच लेगा कि उन्हें पागलपन हो गया होगा। भारत की महान् नगरी, समृद्ध नगरी, श्रेष्ठ नगरी, धन कमाने की बहुत अच्छी नगरी जहाँ पूरे भारत के लोग बसते हैं, उस नगरी को श्मशान भूमि बना दिया। देखिये, अध्यात्म-ज्ञान तो सबसे अलग ही बोलेगा, यथार्थ ज्ञान तो कुछ अलग ही है, वास्तविकता तो कुछ और ही है और सच्चाई तो

ज्ञानी कहते हैं कि तुम किस क्षण पर रोओगे और किस क्षण पर रीझोगे, सब कुछ परिवर्तनशील है। एक आत्मा ही सहज स्वभाव है, बाकी सब कुछ बदल रहा है और बदलते हुये को तुम कितना पकड़ोगे, पर इन जीवात्मा में अनन्तकाल की यात्रा में मैं एकाकी आत्मा हूँ, अनन्त काल का राही हूँ मेरे ही कर्मों का फल मैं भोगता हूँ और कर्मफल भोगने के क्षणों में रति, अरति, हर्ष, शोक मनाकर फिर से मैं ही कर्म बाँधता हूँ। ऐसा इस जीव को कभी आज तक विश्वास भावों में नहीं आया। शब्दों से तो करता है, किन्तु भावों में कभी ऐसा हुआ नहीं है। मुनिराज को जब बोध हुआ जब विवेक आया और जब उन्होंने जाना कि जिस शरीर के आधार पर मैं अपने अस्तित्व का अनुभव करता हूँ, जिस शरीर के आधार पर मैं अपना आप का परिचय देता हूँ। किसका परिचय देता हूँ? यह शरीर भी मेरा नहीं है। इसकी भी एक व्यवस्था है उसका भी जनम है, उसका भी मरण है, उसकी भी अपनी सारी प्रतिक्रिया है। मैं उसमें हूँ, मैं वह नहीं हूँ। मैं आत्मा है। वह शरीर में है; पूरे शरीर में फैली हुई है, जहाँ-जहाँ भी अनुभूति हो रही है, वहाँ-वहाँ आत्मा के प्रदेश फैले हुए हैं। आत्मा शरीर में है, पर आत्मा शरीर पर नहीं है। ये अज्ञानी जीव सदा से ही शरीर को आत्मा का महत्त्व दे रहा है। शरीर को ही मैं मान कर चल रहा है। और उसी के आधार पर अपने आपका सोचता, समझता है। इसका आत्मज्ञान होने के बाद, अध्यात्म ज्ञान आने के बाद वह आत्मा अनादि काल से एकाकी है, ऐसी जिसकी दृष्टि में आ जाएगा उसका सोचना, समझना, बोलना सब कुछ बदल जाएगा। यह अपनी फोटो देखने के लिए मात्र मनुष्य जिन्दगी है; पर अपनी फोटो देखने की किसी को पड़ी नहीं है।

श्रीमद् राजचन्द्र किसी समय किसी व्यक्ति से बातचीत कर रहे थे और किसी ने कहा कि यह नगरी ऐसी है, तो उस नगरी का परिचय देते हुये उन्होंने कहा कि भाई, तुमको ये बम्बई कैसी भी दिखाई देती हो, पर मैं जब अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से आत्म-ज्ञान के आधार पर इस पौद्गलिक जगत् का दर्शन करता हूँ तो मुझे ये बम्बई किसी और ही रूप में लगती है और उन्होंने शब्द दे दिया, जो शब्द शायद हम सबके लिए समझना एकदम से मुश्किल हो जायेगा "अमने तो आ मुम्बई श्मशान जेही लागे"। हमको तो यह बम्बई श्मशान-जैसी लगती है। जब तक यह रहस्य समझ में नहीं आयेगा, शायद व्यक्ति सोच लेगा कि उन्हें पागलपन हो गया होगा। भारत की महान् नगरी, समृद्ध नगरी, श्रेष्ठ नगरी, धन कमाने की बहुत अच्छी नगरी जहाँ पूरे भारत के लोग बसते हैं, उस नगरी को श्मशान भूमि बना दिया। देखिये, अध्यात्म-ज्ञान तो सबसे अलग ही बोलेगा, यथार्थ ज्ञान तो कुछ अलग ही है, वास्तविकता तो कुछ और ही है और सच्चाई तो

वह नहीं जान सकता; क्योंकि उसका स्वभाव है, किन्तु स्वभाव को जानने का भाव नहीं है। एक दस लाख की बिल्डिंग खड़ी है, उसमें दस लाख का सामान लगा है और बनाने वाले को एक वर्ष से अधिक का समय लगाना पड़ा है। फिर भी मकान की शक्ति नहीं है कि अपना मूल्यांकन करे। मकान नहीं करेगा कि मेरी क्या कीमत है, मकान की जब कीमत करेंगे जब आपमें से कोई सजीव, निर्जीव मुर्दा नहीं, सजीव जब तक जीवात्मा है, मूल्यांकन होगा, पर कौन कहेगा? इस जीव की ही शक्ति है, पूरे जगत् को जानने की, पूरे जगत् को समझने की पर जगत् को जानने में जीव ने अपनी शक्ति का उपयोग सदा किया है, पर स्वयं अपने को जानने में इसने आज तक उपयोग नहीं किया। अपनी शक्ति से परिचित होने का नाम ही सम्यक् दर्शन है, अपनी आत्मशक्ति की प्रतीति होना ही सम्यक् ज्ञान है। पर उस दिशा में जीव ने कभी प्रयत्न नहीं किया। धर्म तो बहुत किया, किन्तु धर्म, धर्म के लिए नहीं किया। धर्म धर्म के लिए है, पर धर्म, सांसारिक साधन. प्रतिष्ठा-सम्मान, पुण्य-बंधन के लिए है। दोनों में बहुत अन्तर है।

हमारे ही शरीर में विराजमान चैतन्य-चिदानन्द को जब तक समझने का प्रयास नहीं होगा, तब तक बाहर की बुराइयों को सही ढंग से हम समझने में सफल नहीं हो सकेंगे। क्योंकि जीव अपनी शक्ति को पहचाने बिना दूसरों को समर्पित है, इसलिए उसको राग और द्वेष है। नित्य नये मोह का सम्बन्ध स्थापित करता रहता है। भक्ति का आधार बदलता रहता है। रोता रहता है, हँसता रहता है। ज्ञानी कहते हैं कि सबको ऐसा निरन्तर हो रहा है। क्यों ऐसा हो रहा है? इसलिए कि मैं एकाकी हूँ, ऐसा जीव में विश्वास कभी नहीं हुआ, जबकि आँखों के आधार पर देख रहा है। जाने को भी देख रहा है, आने को भी देख रहा है। जन्म को भी देख रहा है, मृत्यु को भी देख रहा है। शरीर में होने वाली हर बीमारी को देख रहा है और बीमारी में बीमारी के भोगने वाले की तड़प और वेदना को भी देख रहा है और वहाँ उस वेदना भोगने में एकाकी एकत्व को भी देख रहा है। कहने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को जो मजाक के मूड में कह देते हैं कि एक व्यक्ति हमारे यहाँ धर्मात्मा है, तो सब उसका पल्ला पकड़ लेंगे और उसके पीछे-पीछे चले जायेंगे। अरे भई, ऐसा यदि संसार में होता, तो एक व्यक्ति हर घर का बैठक र के भोजन कर ले, हर व्यक्ति को भोजन करने की जरूरत ही क्या है? फिर इतना बनाने की जरूरत ही क्या है? फिर इतना पकाने की जरूरत ही क्या है? घर में कोई एक सदस्य भोजन कर ले, सबका पेट अपने आप भर जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, एकाकी है, उसकी अनन्त काल की यात्रा एकाकी है, तो किसी का हुआ नहीं और कोई उसका नहीं है।

ज्ञानी कहते हैं कि तुम किस क्षण पर रोओगे और किस क्षण पर रीझोगे, सब कुछ परिवर्तनशील है। एक आत्मा ही सहज स्वभाव है, बाकी सब कुछ बदल रहा है और बदलते हुये को तुम कितना पकड़ोगे, पर इस जीवात्मा में अनन्तकाल की यात्रा में मैं एकाकी आत्मा हूँ, अनन्त काल का राही हूँ मेरे ही कर्मो का फल मैं भोगता हूँ और कर्मफल भोगने के क्षणों में रति, अरति, हर्ष, शोक मनाकर फिर से मैं ही कर्म बाँधता हूँ। ऐसा इस जीव को कभी आज तक विश्वास भावों में नहीं आया। शब्दों से तो करता है, किन्तु भावों में कभी ऐसा हुआ नहीं है। मुनिराज को जब बोध हुआ जब विवेक आया और जब उन्होंने जाना कि जिस शरीर के आधार पर मैं अपने अस्तित्व का अनुभव करता हूँ, जिस शरीर के आधार पर मैं अपने आप का परिचय देता हूँ। किसका परिचय देता हूँ? यह शरीर भी मेरा नहीं है। इसकी भी एक व्यवस्था है उसका भी जनम है, उसका भी मरण है, उसकी भी अपनी सारी प्रतिक्रिया है। मैं उसमें हूँ, मैं वह नहीं हूँ। मैं आत्मा है। वह शरीर में है; पूरे शरीर में फैली हुई है, जहाँ-जहाँ भी अनुभूति हो रही है, वहाँ-वहाँ आत्मा के प्रदेश फैले हुए हैं। आत्मा शरीर में है, पर आत्मा शरीर पर नहीं है। ये अज्ञानी जीव सदा से ही शरीर को आत्मा का महत्त्व दे रहा है। शरीर को ही मैं मान कर चल रहा है। और उसी के आधार पर अपने आपका सोचता, समझता है। इसका आत्मज्ञान होने के बाद, अध्यात्म ज्ञान आने के बाद वह आत्मा अनादि काल से एकाकी है, ऐसी जिसकी दृष्टि में आ जाएगा उसका सोचना, समझना, बोलना सब कुछ बदल जाएगा। यह अपनी फोटो देखने के लिए मात्र मनुष्य जिन्दगी है; पर अपनी फोटो देखने की किसी को पड़ी नहीं है।

श्रीमद् राजचन्द्र किसी समय किसी व्यक्ति से बातचीत कर रहे थे और किसी ने कहा कि यह नगरी ऐसी है, तो उस नगरी का परिचय देते हुये उन्होंने कहा कि भाई, तुमको ये बम्बई कैसी भी दिखाई देती हो, पर मैं जब अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से आत्म-ज्ञान के आधार पर इस पौद्गलिक जगत् का दर्शन करता हूँ तो मुझे ये बम्बई किसी और ही रूप में लगती है और उन्होंने शब्द दे दिया, जो शब्द शायद हम सबके लिए समझना एकदम से मुश्किल हो जायेगा "अमने तो आ मुम्बई श्मशान जेही लागे"। हमको तो यह बम्बई श्मशान-जैसी लगती है। जब तक यह रहस्य समझ में नहीं आयेगा, शायद व्यक्ति सोच लेगा कि उन्हें पागलपन हो गया होगा। भारत की महान् नगरी, समृद्ध नगरी, श्रेष्ठ नगरी, धन कमाने की बहुत अच्छी नगरी जहाँ पूरे भारत के लोग बसते हैं, उस नगरी को श्मशान भूमि बना दिया। देखिये, अध्यात्म-ज्ञान तो सबसे अलग ही बोलेगा, यथार्थ ज्ञान तो कुछ अलग ही है, वास्तविकता तो कुछ और ही है और सच्चाई तो

सच्चाई है। सच्चाई हमारे समझ में नहीं आती है, इसलिए ज्ञानियों को भले हम पागलपन कह दें, पर आपके और मेरे कहने में ज्ञानियों का ज्ञान पागलपन हो नहीं सकता। ये हमारा पागलपन है कि हम उनकी यथार्थ दृष्टि को पकड़ नहीं सकते। "अमने तो आ मुम्बई श्मशान जेही लागे" बोलिये अब तो इसका रहस्य क्या है? क्या ऐसा अध्यात्मज्ञानी असत्य बोला? क्या मजाक में बोल दिया या मनोरंजन के मूड में बोल दिया? मनोरंजन की प्रवृत्ति, मजाक का मूड, व्यर्थ की बात बोलना, जरूरत से ज्यादा बोलना-सब अज्ञान का परिचय है। विशेष ज्ञानी कभी मनोरंजन के माहौल में समय व्यतीत नहीं करेगा, विशिष्ट आत्मज्ञानी कभी पाँच मित्रों के बीच बैठकर भी जरूरत से ज्यादा नहीं बोलेगा। वह कभी बात-बात में बिना सूझ-बूझ की बात भी नहीं बोलेगा। जिसका व्यक्तित्व जितना ज्यादा सधता हुआ होगा, जिसका व्यक्तित्व जितना ज्यादा ऊपर उठा हुआ होगा, वह उतना ही शान्त होगा, उतना ही गंभीर होगा, उतना ही संत होगा, उतना ही परिस्थिति से समझौता करेगा और परीक्षा आने पर, कसौटी आने पर उतना ही अधिक अपना संतुलन बनाये रखने का प्रयत्न करेगा। प्रतिकूल वातावरण में कभी भी उसके सोचने और समझने का ढँग भी नहीं बदलेगा, उसकी श्रद्धा विचलित नहीं होगी, उसकी आस्था डगमगायेगी नहीं, वह अडोल खड़ा रहेगा कि मेरे ही परिणाम का फल किसी-न-किसी रूप में लेकर आया है और विदा होने के लिए आया है, तो मुस्कुराते-मुस्कुराते उसे विदा करूँगा। जिसका मानस बहुत ऊपर उठ गया है, उसकी दिनचर्या में उसकी विशिष्टता व्यक्त हुये बिना नहीं रह सकेगी। मानकर चलिए किसी भी जाति का व्यक्ति हो, किसी भी देश का व्यक्ति हो और किसी भी देश में रहने वाला व्यक्ति हो, जिसका अन्तर ऊपर उठ गया है, जिसने अध्यात्म की भूमिका का स्पर्श कर लिया है, जिसे आत्मा का ज्ञान हो गया है उसका सोचना, समझना, बोलना अपने-आप में बहुत कुछ अलग ढंग का होगा। वह दुनिया के बीच में दुनिया के व्यवहार से ही जीयेगा – ज्ञानी होने का दिखावा नहीं करेगा; किन्तु उसके व्यवहार की जो निर्मलता है, शान्ति है, एक सहजता है, सौम्यता है, शालीनता है, उन सारी बातों से उसका व्यक्तित्व सामने वाला यदि परखने की शक्ति-सम्पन्न होगा, तो परख लेगा, पर तब परखने की शक्ति सामने वाले में भी होनी चाहिये। हीरा अपने आप में महत्त्वपूर्ण है, किन्तु हीरे को परखने की क्षमता भी तो सामने वाले में होनी चाहिये।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा कि हमको तो यह बम्बई श्मशान-जैसी लगती है। बन्धुओ, थोड़ा विषय रूखा हो सकता है, अटपटा लग सकता है, पर थोड़ी बुद्धि का आप मेरे साथ पूरा-पूरा उपयोग करेंगे, तो बड़ा आनंद आयेगा। देखो, किसी भी विषय को विशिष्ट करने बैठो, तो थोड़ा-सा दिमाग तो

लगाना ही पड़ेगा। थोड़ा दिमाग को घूमता हुआ बाजार से हटाना तो पड़ेगा, तो बौद्धिक चंचलता कुछ क्षणों में तो हम किसी विशिष्ट बात को समझ नहीं सकते। चाहे बम्बई का बाजार हो, चाहे दूसरे शहर का बाजार हो चाहे तो दिखाई दे रहा हो, सबको सबसे ज्यादा क्या दिखाई दे रहे हैं जो भी देख रहे हैं मकान, मकानों की पंक्तियाँ; मकानों की जो पंक्ति है बिल्कुल अध्यात्म दृष्टि से चिन्तन हम कर रहे हैं। जो मकान शहर में दिखाई दे रहे हैं, वे पंचभूत का पिण्ड हैं, पृथ्वीकाय का कलेवर है, पानी, अग्नि आदि सबके संयोग से मकान का निर्माण हुआ है। अब निर्माण होने के बाद उस 'मटेरियल' में जीवात्मा नहीं है, किन्तु किसी समय खनिज पदार्थ के रूप में उसमें जीवात्मा का सम्बन्ध रहा है। अब जीव का संयोग-सम्बन्ध जब विक्षेप हो गया तो मात्र क्या रह गया? कलेवर। उसमें क्या हो जाएगा? श्मशान में जब मनुष्य का शरीर जल जाता है या दो-चार शव पड़े होते हैं हम उसको क्या कहते हैं? मुर्दा है, कलेवर है, शव है। शव ही तो श्मशान में जलाये जाते हैं, तो जहाँ शव-ही-शव हैं उसे क्या कहेंगे? उसे श्मशान कहेंगे। वहाँ दस शव पड़े हैं, कभी-कभी ऐसी मृत्यु का योग बन जाता है दुर्घटना आदि में कि एक साथ दस-बीच व्यक्तियों की अर्थी भी एक साथ हो जाती है। वह क्या है? वह पृथ्वी नाम का कलेवर है, ये आपके सामने जो किवाड़ हैं, जो फाटक हैं, ये किसके हैं? लकड़ी के है और लकड़ी किसी समय पेड़ के रूप में रही है और पेड़ में जीव वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया। तो पेड़ में जब तक जीवात्मा रही, तब तक वह क्या था सजीव था यानी जिसमें जीव था और उसके बाद जब उस पेड़ को काट लिया गया। लकड़ी को सुखाने के बाद बढ़ई ने किवाड़ की जोड़ी बना दी, तो जीवात्मा तो नहीं रही, पर वह वनस्पति का पेड़ का वह शरीर है कि नहीं और आत्मा के बिना शरीर शव है कि नहीं, आत्मा के बिना शरीर को क्या कहेंगे? शव कहेंगे। तो यह क्या है? वनस्पतिकाय का शव है। हीरा, माणिक, मोती की दुकान को देखकर उन्होंने कहा कि यह पृथ्वीकाय का शव है। खनिज पदार्थ जितनी भी धातु है जो पृथ्वी से निकलती है वह क्या है? पृथ्वीकाय है। जब पृथ्वीकाय मिल गया है, उसमें भी आज जीवात्मा सम्बन्ध है, तो यथार्थ ज्ञान क्या होगा? पृथ्वीकाय का कलेवर है, तो कहीं सोने की चमक दिखाई दे रही थी, कहीं हीरे की दमक दिखाई दे रही थी, और कहीं मकान की बनावट और कहीं फर्नीचर की सजावट। श्रीमद् की आत्मदृष्टि थी। अध्यात्म-दृष्टि थी इसलिए उन्होंने एक दृष्टि डाली। उनके ज्ञान में आया सब पुद्गल का विस्तार है, सब अजीव की रचना है। और अजीव का भेद न होने के कारण यह जीव अपनी आत्मशक्ति से परिचित ही नहीं है। उस शक्ति के प्रति समर्पित है और शव के आधार पर अपने

आपको क्या मानता है? व्यक्ति मकान के आधार पर हीरा, माणिक, मोती के आधार पर धन और धरती के आधार पर और किसके आधार पर व्यक्ति श्रीमंत बनता है, अपने-आपको इसी के आधार पर वह मानता है स्वयं और उसी के आधार पर जगत् भी उसका मूल्यांकन करता है। कोई भी व्यक्ति अभी आपके बीच में आ जाए उसके एक बार सूट-बूट देखेंगे, थोड़ी दृष्टि चश्मे पर जायेगी, घड़ी पर जायेगी, अँगूठी पर जाएगी, उसके रूप-रंग पर जाएगी। कोई-न-कोई व्यक्ति मूल्यवान बड़े व्यक्ति दिखाई देते हैं।

अरे, बड़े व्यक्ति की पहचान क्या है? जगत के साथ बड़े व्यक्ति की पहचान धन और धरती है, इसलिए धन और धरती के आधार पर, जगत को बड़ा आदमी का मान होता है। किन्तु श्रीमद् राजचन्द्र ने कभी भी उस दृष्टि से बड़ा आदमी नही माना और उसकी ज्यादा कीमत भी नहीं की, उसको ज्यादा महत्व भी नही दिया। जीवन में जरूरत समझी, उपयोगिता समझी, आवश्यकता समझी, पर महत्त्व कितना दिया? हीरे के व्यापारी, मोती के व्यापारी होने के नाते जिनके पास मोती का पूड़ा आया, सुना और दलाल दे रहे हैं, श्रीमद् मोती की परख कर रहे हैं, देख रहे हैं और देखने के क्षणों में कह रहे हैं कि देखो भाई, तुम्हारे सेठ ने जो मोती दिये हैं उस पूड़े में मोती बहुत ऊँचे भाव के है, मोती की आब बहुत है, पर मोती की कीमत उस सेठ ने बहुत कम लिख दी है। श्रीमद् राजचन्द्र ने दुकान में बैठे हुए उस दलाल को कहा कि जाओ, जाओ; फिर से जाओ! वापस अपने सेठ से जाकर कहना कि मोती बहुत महँगे हैं और मोती की कीमत कागज पर बहुत सस्ती लिख दी है, इस प्रकार यदि व्यापार करोगे तो आर्तध्यान में चले जाओगे, आपको घाटा हो जाएगा, नुकसान हो जाएगा, दिमाग में टेन्सन (तनाव) बढ़ जाएगा, मकान बिक जाएगा, जेवर बिक जाएगा और रात-दिन आर्तध्यान करने से कहीं आपकी आत्मा की दुर्गति होगी। इसलिए ये मोती जो रु. ५०० की कीमत लिखी है, रु. ५००० की कीमत मेरी बुद्धि आँकती है, यदि रु. ५००० नहीं मिले, तो मेरे पास आना। ५००० से ज्यादा मिलें, तो मेरे पास आने की जरूरत नहीं है। कौन बैठे थे दुकान में? महात्मा गाँधी बैठे थे और वे अहिंसात्मक दृष्टि से उनके साथ बातचीत करने के लिए आया करते थे। श्रीमद् को व्यापार से जब समय मिलता था, तो महात्मा गाँधी के साथ बातचीत करते थे, पर व्यापार यों ही निपटाते चलते थे। तो व्यापारी से जब इस प्रकार की बातचीत महात्मा गाँधी ने सुनी, वे आश्चर्य में पड़ गये, क्योंकि धर्मात्मा तो आज संसार में बहुत हैं, पर मन्दिर में उनका चेहरा कुछ और, व्यापार में कुछ और, घर में कुछ और है, दुकान में कुछ और है, यह चेहरा तो बदलता ही रहता है, आचरण एक-सा दिखाई

देता और उतनी ही धर्मात्मा आवरण है, भावों में धार्मिकता कहीं देखने को मिले, पर आटे में नमक जितनी दिखाई दे। क्योंकि धर्म धर्म से होता है, धर्म-में-धर्म है, भाव-से-धर्म है, क्योंकि भाव से दण्ड है, भाव का ही सारा खेल है। महात्मा गाँधी ने कहा कि मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि आप कैसे व्यापारी हैं, व्यापार के लिए तो ऐसा अवसर चाँस है, अवसर है, दाँव है, फायदा उठाने का मौका है और ऐसा कोई व्यापारी आये, उसे पटाने के लिए डेढ़ रुपये का दूध भी पिलाना पड़े तो व्यापारी वहुत जल्दी पिला देता है और चाय नहीं उसके लिए तो दूध ही मँगायेगा, सीधा पान का वीड़ा भी मँगा देगा। जानता है हजार रुपए का लाभ है, तो दस रुपये पहले खर्च करना, उसे वड़ी वात नहीं है। खून तो तव होता है जव वह चालाकी से विना किसी भाव दिये चला जाए, तव व्यक्ति सोचता है अरे, हम ठगा गये; दस रुपये गाँठ से गये। पर एक वार तो पार्टी को पटाने की कोशिश करेगा। महात्मा गाँधी ने कहा श्रीमद् राजचन्द्र से कि आप कैसे व्यापारी हैं; धर्मात्मा तो वहुत देखे हैं, धर्मात्मा वहुत सुने हैं, पर मुझे आज आपके व्यवहार को देखते हुए अपनी डायरी में लिखना पड़ता है दुकान में ही धर्म है। महात्मा गाँधी ने नोट किया—'दुकान में ही धर्म है'। दिल्ली में जव मैं गाँधी संग्रहालय देखने गई। कुछ व्यक्तियों के आग्रह से, मेरी स्वयं की इच्छा भी हो गई कि देखें महात्मा गाँधी की पूरी जिन्दगी के चित्र दिखाई दिये। जिस धरती में, जिस देश से, जिस व्यक्ति से, जिस वच्चे से, चाहे वह सामान्य व्यक्ति हो, चाहे वड़ा व्यक्ति हो; सव के साथ उनकी चित्रावली देखी। शुरू से आखिरी तक देखी, और देखने के वाद जैसे आई तो वाहर कुछ व्यक्ति खड़े थे कहने लगे कि महाराजजी, आप अपना इसमें जो विचार है उस प्रदर्शनी के प्रति, चित्रावली के प्रति गाँधी संग्रहालय में आपने क्या देखा, क्या अनुभव किया—अपना विचार नोट कीजिये। मैंने उसमें एक वाक्य लिखा – गाँधी संग्रहालय में मुझे एक वहुत वड़ी कमी नजर आई। महात्मा गाँधी ने जिन श्रीमद् राजचन्द्र से अध्यात्म-दृष्टि से, अहिंसा की दृष्टि से गुरु माना, सवके चित्र दिखाई दिये, किन्तु महात्मा गाँधी ने जिनको गुरु माना, उस गुरु का चित्र कहीं दिखाई नहीं दिया। इससे अधिक इस संग्रहालय में कमी क्या हो सकती है ? ☐

– वालाघाट, 12 सितम्वर, 1983

तैयार रहिये

अशुभ, शुभ, शुद्ध – इन तीनों को हमें अच्छी तरह समझ लेना है, अशुभ यानी पाप, शुभ यानी पुण्य और शुद्ध की तो कोई 'क्वालिटी' नहीं है, शुद्ध यानी शुद्ध, इसमें न पाप है, न पुण्य है; मात्र आत्मा का जो शुद्ध स्वभाव है, उसका चिन्तन, उस शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति का जितना भी प्रयत्न होगा, उससे आचरण शुद्ध होगा, किन्तु शुभ आचरण में भी शुद्ध का लक्ष्य होना चाहिये।

अशुभ यानी पाप भावों से अपने को प्रयत्नपूर्वक छुड़ा लें। पाप के फल से पूरी तरह से छूटना हमारे हाथ की बात नहीं है, किन्तु पाप के बन्ध में हम पूरी तरह से स्वतन्त्र हैं। चाहे तो हम पाप के भावों को लायें, वैसा आचरण करें अथवा न करें, इसके लिए मजबूरी / लाचारी नहीं है, दबाव नहीं है, कुछ भी नहीं है। पाप के फल को भोगने में तो कई परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें हम चाह कर भी इनकार नहीं सकते।

जैसे, एक व्यक्ति को देखा, जिसके पूरे शरीर में सब कुछ है, किन्तु दो आँखें, आकार-रूप में हैं। आकार में आकार की शक्ति नहीं है। अब इस पाप के फल को न भोगूं, ऐसा उस व्यक्ति (जीवात्मा) ने प्रयत्न किया। बहुत बड़े सम्पन्न परिवार में उसे जन्म मिला। यहाँ तक कि बम्बई आदि कई शहरों में उसका इलाज करवाने की बात सोची गई। कई बार ऑपरेशन भी हुआ, परन्तु डॉक्टरों ने आखिर यही कहा कि आप जितना भी प्रयत्न करेंगे, मात्र अपने मन के सन्तोष के लिए होगा। सच्चाई तो यह है कि इसके आँख के आकार में कभी भी ज्योति आ ही नहीं सकती, उसमें ज्योति आने की संभावना ही नहीं है, क्योंकि वह सामर्थ्य इसमें किसी भी रूप में नहीं है। यह क्या है? पाप का फल; जिसे भोगने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है।

आज भी कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जिनको लकवा हो जाता है; वे दो-तीन या चार-पाँच वर्ष तक पराधीनता का अनुभव करते हैं। बहुत कम होंगे,

जिनका लकवा ठीक हो जाता है। कई व्यक्ति ऐसे हैं दुनिया भर का इलाज हो जाता है, उसके बाद भी ठीक नहीं होना। चाहे कितना भी प्रयत्न कीजिए, विदेशी दवा क्यों न हो। अभी यहीं नजरों में एक ऐसा परिवार है, जिसमें तीन वर्षों से एक महिला बीमार है। उस महिला की शारीरिक व्यवस्था लकवे की मरीज होने के वजह से पूरी तरह से होनी चाहिये। वह एक करोड़पति परिवार की प्रमुखा हैं। दो हजार रुपये महीने की एक नर्स है, नियमित चौबीस घन्टों की। खाना-पीना सब अलग है। ऊपर की सारी सार-संभाल तो हो ही रही है। ऊपर की सारी व्यवस्था पैसा दे रहा है। परिवार सम्पन्न है, समृद्ध भी है, इसलिए बीमारी में ऊपर की सुविधा के लिए सुयोग की व्यवस्था में कोई कमी नहीं है, फिर भी उसके बावजूद जो एक अभाव है, एक कमी है, उसको पूरा करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। कुछ ऐसे कर्म होते हैं, जिनका फल जीव भोगता है, उसे ही भोगना पड़ता है, विना भोगे उसका छुटकारा नहीं होता। ये दो उदाहरण मैंने इसलिए दिये जिससे यह बात आपकी दृष्टि में आ जाए। ऐसे तो हजार उदाहरण हैं, जिन्हें आप भी आए दिन देखते हैं। चलते हुए सड़क पर देखते हैं, चिकित्सालय में देखते हैं, न मालम कहाँ-कहाँ देखते हैं?

कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म के फल को न भोगे, कर्म के फल का नकार दे, कर्म के फल से अपने आप को अलग कर दे – यह व्यक्ति के हाथ की बात पूरी तरह से नहीं है, लेकिन कर्म न बाँधे, यह व्यक्ति के हाथ में है। कर्ता अपने आप में स्वतन्त्र है। किसी क्रिया को आप करें या न करें, इसमें आप स्वतन्त्र हैं। ऐसे ही आप पाप-प्रवृत्ति में मन को जोड़ें या न जोड़ें, इतने हम स्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्र कब हैं, जब हममें सद्बुद्धि हो। सद्बुद्धि कब हो? जब सत्संग, स्वाध्याय आदि का वातावरण हो। मनुष्य की यह बहुत बड़ी कमजोरी है कि वह पाप के कार्यों में दत्तचित्त रहता है, उनसे कभी अपने मन को अलग करने के लिए पूरी तरह से तैयार नहीं होता; किन्तु पाप के फल को भोगने में सदा घबराता है, सदा भागता है। यह बड़ा विचित्र संयोग है। ज्ञानी और अज्ञानी का बहुत बड़ा अन्तर यही होता है। ज्ञानी पाप-प्रवृत्ति में अपने पाँव को रखने से पहले ही सँभल जाता है और इतनी समझ रखता है कि इसका परिणाम अच्छा नहीं है। ज्ञानी परिणाम पर नजर रखकर पाप की प्रवृत्ति में गिरता है। कार्य के परिणाम को नजर में रखकर वह कार्य को प्रारभ करता है। अज्ञानी कार्य कर लेता है, किन्तु कर्मफल पर नजर नहीं डालता। जब उसे फल मिलता है, तब चिल्लाता है, घबराता है।

. संसार में अधिकांश व्यक्ति कर्मफल में रोने वाले हैं, परन्तु कर्मबन्धन करने के क्षणों में सावधान रहने वाले लोग विरले ही हैं। यह विरले शब्द

का प्रयोग यदा-कदा नहीं, सदा होता है। क्यों होता है? बुद्धि-स्तर के किसी भी धर्म की परिभाषा को समझना सुलभ है, सहज है, पर इसको जीवन में आत्मसात् करना बहुत मुश्किल है। मुश्किल क्यों है; किसके लिए है? सत्संग का प्रभाव कहें, स्वाध्याय का प्रभाव कहें, सद्गुरु की शिक्षा कहें अथवा पूर्व के सुसंस्कारों का प्रतिफल कहें, कुछ व्यक्ति इस जीवन में आकर जिन्दगी के सही अर्थ को समझकर जीवन को सार्थक करने का उद्देश्य बना लेते हैं।

आप देखिये, सवेरे से रात्रि तक कितनी ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जिनसे पाप का ही बन्ध होता है। प्रातःकाल जब से उठते हैं, और रात्रि में जब निद्रा लेने की स्थिति में होते हैं। उससे पहले अपनी पूरी दिनचर्या पर दृष्टि डालिये। सवेरे से शाम तक पाप का बन्ध कितना होता है, पुण्य का बन्ध कितना होता है। एक बार हम शुद्ध की तरफ भी रख दें। कुछ लोग ऐसे हैं, उन्हें आत्मा की नहीं पड़ी है। आत्मा की चर्चा भी उनकी समझ में नहीं आती है; फिर भी एक बार हम शुद्ध (आत्मा) अलग करके भी सोचें, तो जीवन में शुद्ध तो सभी को पसन्द है। अच्छा परिवार मिले, अच्छा घर मिले, अच्छा जीवन मिले, स्वस्थ शरीर मिले, सम्मान मिले, इज्जत/प्रतिष्ठा, मिले, दुनिया में हमारा नाम हो, ऐसी आकांक्षा और अभिलाषा को छोड़कर जीने वाले लोग तो विरले/बहुत कम हैं। यह सब तो हर व्यक्ति को चाहिये।

इन सब के लिए व्यक्ति को अपने आपको पाप से बहुत बचाना होगा; पाप भावों से बचाना होगा। पाप के फल से नहीं घबराना है, उसमें तो हिम्मत और धैर्य की जरूरत है। पाप के उदय को पानी की तरह पचाने की ताकत मिलेगी, तो सत्संग, स्वाध्याय और सद्ग्रन्थों के पाचन से ही मिलेगी। और उसे पिये बिना, पचाने बिना कोई चारा भी तो नहीं है। पाप का फल भोगने में हम जितना रोष करते हैं, हमें जितना आक्रोश आता है, जितना आवेश आता है, जितना हम क्रोध करते हैं, जितनी हम मारपीट करते हैं, जितना हम रोते/चिल्लाते हैं, जितना हम मन-ही-मन कुढ़ते हैं, उससे तो पाप का बन्ध और भी ज्यादा होता है। जिसके फल को भोगने से घबराते हैं, किन्तु घबराने के क्षणों में फिर नया बन्ध ज्यादा होता है। बन्ध क्या है? जो चीज पसन्द नहीं है, और उसी का संग्रह हो रहा है। सामान्य व्यवहार में तो हम ऐसा नहीं करते; हमें जो पसन्द है, उसी का संग्रह करते हैं, परन्तु व्यक्ति पाप के फल को भोगते हुए भी पाप को बाँधने में कभी विवेक नहीं करता। वहीं इसका परिवर्तन बहुत जरूरी है। व्यक्ति को जीने की यही कला तो सीखनी है। स्वयं को ही सीखनी है; स्वयं के विवेक से ही सीखनी है।

हम सत्संग प्रेमी-आत्मा को अमर मानते हैं, अविचल मानते हैं, शाश्वत मानते हैं, सनातन मानते हैं, अदृश्य भी मानते हैं। इसका कोई रूप और रंग-ढँग नहीं होता है। पुनर्जन्म मानते हैं, कर्म का फल भी मानते हैं। लेकिन हमारा यह सारा मानना भौतिक कर्तव्य तक ही सीमित है। यदि हम उस मान्यता को आत्मसात् करने का प्रयत्न करें, तो पाप-प्रवृत्ति से छूटना सहज होगा। अशुभ से छूटना बहुत जरूरी है। सवेरे से शाम तक अपनी दिनचर्या को देखें कि इसमें पाप का बन्ध कितना हो रहा है? प्रातःकाल से उठने के बाद खाने/पीने की क्रिया, सोने की क्रिया, मोह के आधार पर परिवार की व्यवस्था की क्रिया - उन सारी क्रियाओं में अधिक-से-अधिक हिंसा होती है, और हिंसा में हमारा मन अधिक-से-अधिक प्रसन्न होता है। जितना हमारा मन प्रसन्न होता है, उतना ही पाप का तीव्र बन्ध होता है।

जैसे, स्नान शरीर को शुद्ध करने की एक व्यवस्था है। इस शारीरिक क्रिया में पानी का उपयोग करेगा, उसमें पाप का बन्ध होगा, लेकिन यदि वह जीवहिंसा की अनिवार्यता को समझते हुए सावधानीपूर्वक पानी का उपयोग करेगा, तो उसे पाप का बन्ध कम होगा। लेकिन जो व्यक्ति स्नान की क्रिया में खूब मजा ले रहा है, आसक्त हो रहा है, बार-बार साबुन लगाकर उन पानी के जीवों के लिए शस्त्र बना रहा है। दो-चार-दस बाल्टी पानी से नहाते हुए खुश हो रहा है; यह आनन्द लेने की बात है, वह पाप का बन्ध है। क्यों है? इसलिए कि इसमें जीव-हिंसा है और इसमें उसके चित्त की प्रसन्नता है। हिंसा में चित्त की प्रसन्नता ही तो पाप के बन्ध का मुख्य कारण है। जितना-जितना चित्त ऐसी हिंसा में प्रसन्न होगा, मस्त होगा, उतना-उतना ही पाप का अधिक और तीव्र बन्ध होगा।

ऐसे ही दंत-मंजन की क्रिया है। दाँत-साफ करना शारीरिक शुद्धि में ही आयेगा और प्रत्येक व्यक्ति करता ही है। किन्तु आप स्वयं यह अनुभव कीजिये कि दाँत साफ करने में मुँह में पानी कितना जाता है और दाँत साफ करने की क्रिया में जो नल को खोल कर मंजन करते हुए उस पानी का कितना व्यय करता है। क्योंकि मुँह साफ होगा, उसी पानी से जो पानी मुँह के भीतर पहुँचेगा। नीचे गिरने वाले पानी से तो सफाई नहीं होती है। किन्तु हम प्रायः देखते हैं, कितने ही लोग इतने अविवेकी होते हैं, पूरा नल खोल देते हैं और एक चुल्लू पानी मुँह में लेते रहते हैं और नल को बन्द नहीं करते। शायद बाल्टीभर पानी व्यर्थ ही चला जाता है। यह धार्मिक दृष्टि से तो पाप-बन्ध है ही। इस व्यर्थता को किसी भी दृष्टि से सोचें तो कोई अच्छी बात है नहीं।

सवेरे से शाम तक जैसे भोजन शरीर की आवश्यकता है, किन्तु भोजन से सम्बन्धित जितना हर्ष-शोक है, क्लेश-क्रोध है, आवेश-आक्रोश है, कहना-

सुनना है, यह सब कर्मबन्ध का कारण है। मिलावट की इच्छा-मात्र ही कर्म-बन्धन के लिए निमित्त है।

प्रायः यह कहा जाता है कि आपकी यह सारी बातें हम सुन तो लेते हैं, लेकिन इन्हें जीवन में कौन उतारेगा? कितना उतारेगा? यह सिरदर्द मेरा नहीं है। मुझे अपने जीवन में कितना उतारना है, यही मेरा उचित विवेक है और इसी में मुझे सतर्कता रखना है। ये विचार सत्संग से जो मुझे मिले हैं। मात्र उनको बिखेरते जाएँ, पता नहीं कौन चुनेगा दाना सत्संग का, मोती किसके हाथ में आ जाए? कैसे हाथ में आए, और किसकी बुद्धि उसे पचा जाए, जिसकी बुद्धि उसे पचा जाएगी, उसी को सत्संग का सही लाभ मिलेगा। लेकिन किसको मिलेगा, इसकी चिन्ता मुझे उतनी नहीं करनी है, जितनी मुझे चिन्ता करनी है कि मुझे क्या मिला? मैंने क्या पाया? और मैंने अभी तक अपनी साधना में अपने मन को कितना बदला और मुझे कितना बदलना है? यही मेरा अपना पुरुषार्थ होना चाहिये, वही मेरा लक्ष्य होना चाहिये। दूसरे की चिन्ता में अपने माथे को बोझिल रखना यह कोई समझदारी नहीं है।

विचार देना अलग चीज है, सत्संग के वातावरण में सामूहिक स्वाध्याय कर लेना अलग चीज है और सिरदर्द मोल लेना अलग चीज है। सिरदर्द लेने से होता क्या है? कुछ भी नहीं होता। प्रत्येक घर में हर व्यक्ति यह चाहता है कि दूसरा व्यक्ति उसके मन के अनुकूल बन जाए। लेकिन बनता कौन है, बनता कितना है? जिसको बनना होता है, वही बनता है। जिसको नहीं बनना होता, हमारे लाख प्रयत्नों से भी नहीं बनता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी जिम्मेदारी छोड दें। लेकिन जिम्मेदारी निभाते हुए, पूरी करते हुए भी अपने विवेक को जागरूक रखता है। इतना अवश्य ध्यान रखिये कि अभी तक सत्संग में आपने जितने वाक्य श्रवण किये हैं, उनमें जो-जो लाभप्रद/शिक्षाप्रद लगें, उन्हें अपनी डायरी में नोट कर लेना चाहिये। उस डायरी में से जो भी वाक्य आपने लिखे हैं, उनमें से कुछ का स्वाध्याय प्रातः-काल, मध्यान्ह और संध्या में हो जाना चाहिये।

कुछ संस्कार ऐसे हैं, कुछ आदतें ऐसी हैं, जिन्हें आज तक हमने खराब नहीं मानी। आदत क्यों नहीं बदली? क्योंकि उस आदत को हमने खराब समझा तो है, लेकिन माना नहीं है। सत्संग के वाक्य में एक वाक्य यह भी कई बार आया है कि 'कोई भी बुराई हमारे जीवन से वहाँ तक नहीं जाएगी, जब तक हमारी दृष्टि में वह बुराई बुरी नहीं होगी।'

यह भी समझ लीजिए कि कहने से कोई नहीं छोड़ता। कहने के बाद उसके मन में जब बात लग जाती है, जब बात उसकी बुद्धि में जम जाती है, और जब उसके हृदय में उस बुद्धि के प्रति, उस प्रकृति के प्रति घृणा का

भाव आ जाता है, तब कहीं जाकर उस बुराई से वह व्यक्ति अपने आप को अलग करता है। लेकिन पाप के बन्ध के कारणों में हमें समझते रहना चाहिये, जैसे : बुराई देखना, सुनना, कहना; भोजन में ज्यादा राग-द्वेष करना, किसी के प्रति जलना-कुढ़ना, क्रूर-कठोर बोलकर किसी को दुखी करना आदि अनेक कारणों से पाप का बन्ध होता रहता है।

यदि पाप का फल आपको पसन्द है, तो पाप के बन्ध से अलग होने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन कितना आश्चर्यजनक है कि पाप का फल कोई पसन्द नहीं करता है। एक बार व्यक्ति पुण्य-क्रिया करने के लिए तैयार हो जाएगा, किन्तु पाप-क्रिया छोड़ने के लिए तैयार नही है। जबकि पाप को छोड़ना बहुत जरूरी है। पाप छूटे बिना कभी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सकता। शराबी, जुवारी, व्यभिचारी ऐसे पाप कर्म जिसके जीवन में हैं, वह सभ्य नागरिक भी नहीं है, आदर्श परिवार का सदस्य भी नहीं है, संस्कृति के संस्कारों की दृष्टि से भी उसका अपना कोई व्यक्तित्व नही है।

सब ज्ञानियों का एकमत है कि प्रयत्नपूर्वक पाप भाव का त्याग करें। हमें वह ही शान्त मन से अपने ही मन को समझाना है। यह मानकर चलना है कि हम सत्संग की पाठशाला में इसलिए बैठे हैं कि हमें अपने अन्तर का निरीक्षण/परीक्षण करना है।

हम सबेरे से शाम तक कितना अधिक पाप का बन्ध करते हैं? किन-किन प्रवृत्तियों में करते हैं? किन-किन शब्दों में करते हैं? जरा स्वयं अपने अन्तर का निरीक्षण करें, परीक्षण करें। प्रभु आपको, सब को, मुझे सद्बुद्धि दे कि हम अपने आचरण को परिवर्तित/संशोधित करें, तो निश्चित रूप से हम पाप के बन्ध को कम-से-कम करने का प्रयत्न करेंगे। उसमें जो व्यर्थता है; उसमें निरर्थता है, उसे समझें। सबसे पहले उससे अपने आपके मन को अलग करने की पूरी कोशिश करें, संकल्प करें और संकल्प को हर समय याद रखने का निरन्तर प्रयत्न करें।

□

– बालाघाट, 24 अक्टूबर, 1983

सुनना है, यह सब कर्मबन्ध का कारण है। मिलावट की इच्छा-मात्र ही कर्म-बन्धन के लिए निमित्त है।

प्राय: यह कहा जाता है कि आपकी यह सारी बातें हम सुन तो लेते हैं, लेकिन इन्हें जीवन में कौन उतारेगा? कितना उतारेगा? यह सिरदर्द मेरा नहीं है। मुझे अपने जीवन में कितना उतारना है, यही मेरा उचित विवेक है और इसी में मुझे सतर्कता रखना है। ये विचार सत्संग से जो मुझे मिले हैं। मात्र उनको बिखेरते जाएँ, पता नहीं कौन चुनेगा दाना सत्संग का, मोती किसके हाथ में आ जाए? कैसे हाथ में आए, और किसकी बुद्धि उसे पचा जाए, जिसकी बुद्धि उसे पचा जाएगी, उसी को सत्संग का सही लाभ मिलेगा। लेकिन किसको मिलेगा, इसकी चिन्ता मुझे उतनी नहीं करनी है, जितनी मुझे चिन्ता करनी है कि मुझे क्या मिला? मैंने क्या पाया? और मैंने अभी तक अपनी साधना में अपने मन को कितना बदला और मुझे कितना बदलना है? यही मेरा अपना पुरुपार्थ होना चाहिये, वही मेरा लक्ष्य होना चाहिये। दूसरे की चिन्ता में अपने माथे को बोझिल रखना यह कोई समझदारी नहीं है।

विचार देना अलग चीज है, सत्संग के वातावरण में सामूहिक स्वाध्याय कर लेना अलग चीज है और सिरदर्द मोल लेना अलग चीज है। सिरदर्द लेने से होता क्या है? कुछ भी नहीं होता। प्रत्येक घर में हर व्यक्ति यह चाहता है कि दूसरा व्यक्ति उसके मन के अनुकूल बन जाए। लेकिन बनता कौन है, बनता कितना है? जिसको बनना होता है, वही बनता है। जिसको नहीं बनना होता, हमारे लाख प्रयत्नों से भी नहीं बनता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी जिम्मेदारी छोड़ दें। लेकिन जिम्मेदारी निभाते हुए, पूरी करते हुए भी अपने विवेक को जागरूक रखता है। इतना अवश्य ध्यान रखिये कि अभी तक सत्संग में आपने जितने वाक्य श्रवण किये हैं, उनमें जो-जो लाभप्रद/शिक्षाप्रद लगें, उन्हें अपनी डायरी में नोट कर लेना चाहिये। उस डायरी में से जो भी वाक्य आपने लिखे हैं, उनमें से कुछ का स्वाध्याय प्रात:-काल, मध्यान्ह और संध्या में हो जाना चाहिये।

कुछ संस्कार ऐसे हैं, कुछ आदतें ऐसी हैं, जिन्हें आज तक हमने खराब नहीं मानी। आदत क्यों नहीं बदली? क्योंकि उस आदत को हमने खराब समझा तो है, लेकिन माना नहीं है। सत्संग के वाक्य में एक वाक्य यह भी कई बार आया है कि 'कोई भी बुराई हमारे जीवन से वहाँ तक नहीं जाएगी, जब तक हमारी दृष्टि में वह बुराई बुरी नहीं होगी।'

यह भी समझ लीजिए कि कहने से कोई नहीं छोड़ता। कहने के बाद उसके मन में जब बात लग जाती है, जब बात उसकी बुद्धि में जम जाती है, और जब उसके हृदय में उस बुद्धि के प्रति, उस प्रकृति के प्रति घृणा का

भाव आ जाता है, तव कहीं जाकर उस वुराई से वह व्यक्ति अपने आप को अलग करता है। लेकिन पाप के बन्ध के कारणों में हमे समझते रहना चाहिये, जैसे: वुराई देखना, सुनना, कहना; भोजन में ज्यादा राग-द्वेष करना, किसी के प्रति जलना-कुढ़ना, क्रूर-कठोर वोलकर किसी को दुखी करना आदि अनेक कारणों से पाप का वन्ध होता रहता है।

यदि पाप का फल आपको पसन्द है, तो पाप के वन्ध से अलग होने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन कितना आश्चर्यजनक है कि पाप का फल कोई पसन्द नहीं करता है। एक वार व्यक्ति पुण्य-क्रिया करने के लिए तैयार हो जाएगा, किन्तु पाप-क्रिया छोड़ने के लिए तैयार नही है। जवकि पाप को छोड़ना वहुत जरूरी है। पाप छूटे विना कभी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सकता। शरावी, जुवारी, व्यभिचारी ऐसे पाप कर्म जिसके जीवन में हैं, वह सभ्य नागरिक भी नही है, आदर्श परिवार का सदस्य भी नही है, संस्कृति के संस्कारों की दृष्टि से भी उसका अपना कोई व्यक्तित्व नही है।

सव ज्ञानियों का एकमत है कि प्रयत्नपूर्वक पाप भाव का त्याग करें। हमें वह ही शान्त मन से अपने ही मन को समझाना है। यह मानकर चलना है कि हम सत्संग की पाठशाला में इसलिए वैठे हैं कि हमें अपने अन्तर का निरीक्षण/परीक्षण करना है।

हम सवेरे से शाम तक कितना अधिक पाप का वन्ध करते हैं? किन-किन प्रवृत्तियों में करते हैं? किन-किन शब्दों में करते हैं? जरा स्वयं अपने अन्तर का निरीक्षण करें, परीक्षण करें। प्रभु आपको, सव को, मुझे सद्वुद्धि दे कि हम अपने आचरण को परिवर्तित/संशोधित करें, तो निश्चित रूप से हम पाप के वन्ध को कम-से-कम करने का प्रयत्न करेंगे। उसमें जो व्यर्थता है; उसमें निरर्थता है, उसे समझें। सवसे पहले उससे अपने आपके मन को अलग करने की पूरी कोशिश करें, संकल्प करें और संकल्प को हर समय याद रखने का निरन्तर प्रयत्न करें।

□

– वालाघाट, 24 अक्टूवर, 1983

जीने की कला

सत्य जब तक समझ में नहीं आयेगा, तब तक व्यक्ति को संसार में रहने की कला भी नही आयेगी। सत्य समझ में आने के बाद संसार में व्यक्ति को जो प्राप्त होता है, उसका स्वागत एक मन से करने की योग्यता का उसमें विकास हो जाता है।

हम किसी भी महापुरुष के जीवन-प्रसंगों को देखें, सुनें, पढ़ें, समझें तो ये सच्चाई हमें मालूम पड़ती है। भगवान् राम के वन-गमन के प्रसंग को यदि हम चिन्तन का विषय बनायें, तो तुरंत यह सत्य हमें समझ में आता है कि राज्य-सिंहासन से जोड़ने वाले क्षणों में वनवास का जो प्रसंग बना, राम ने उन क्षणों में अपने मन को पूरी तरह से संतुलित पाया उसका यह प्रमाण कि उनके भावों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ; इसलिए चेहरे ने उनके भावों का परिचय नहीं दिया और प्रतिक्रिया के रूप में उनकी वाणी-व्यवसाय नहीं हुआ।

भगवान् महावीर को छह महीने तक संगमदेव ने नाना अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग दिये। प्रतिकूलता के क्षण इतने अधिक उपस्थित किये कि 'मरणान्त उपसर्ग' की वेदना का अनुभव भी उन्हें कितनी बार करना पड़ा। पर सत्य में जब वे समा गये, सत्य जब उन्हें पूरी तरह से समझ में आ गया, तो ऐसे विपरीत प्रसंगों में उन्होंने सहज समता भाव का परिचय दिया। ऐसे ही एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। दयानन्द सरस्वती जिनके रसोइये ने (जगन्नाथ पण्डित नाम का रसोइया था) काँच को पीसकर आटे में ऐसे डाल दिया जैसे रसोई बनाते समय महिलायें नमक डालती हैं। मृत्यु का क्षण उनके जीवन में जब उपस्थित हो गया, दयानन्द सरस्वती को अनुभव हो गया कि इस मृत्यु में स्थूल निमित्त जगन्नाथ पण्डित है, पर सच्चाई यह है कि मृत्यु का समय आ चुका, तो ऐसे क्षणों में जगन्नाथ के प्रति उनके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई और उन्होंने कहा—ओ जगन्नाथ, ओ जगन्नाथ, ओ बच्चे! तू जल्दी से जा और अपने आपकी जिन्दगी बचा। अन्यथा मेरे अनुयायी अभी तेरी

खाल खोल देंगे। अभी हड्डी-पसली एक कर दें, जा-जा मेरा समय आ गया, पर प्रभु करे, तेरा समय न आये।

पार्श्वनाथ स्वामी जिनके अनेक बार चित्र देखे होंगे। जैन समाज को तो विशेष रूप से वह दृश्य उनकी कल्पना में होगा; क्योंकि मन्दिरों में चित्र रहता है। एक ऐसा ही प्रसंग है कि कमठ द्वेष भाव से प्रेरित होकर मेघमाली के रूप में देवशक्ति से पानी बरसा रहा है, नसाग्र जल आ गया, फिर भी कायोसर्ग मुद्रा में तीर्थंकर देवाधिदेव, समस्त की चरम सीमा, चरम भूमिका का अनुभव कर रहे हैं। उन्हीं क्षणों में धर्मेन्द्र देवभक्ति से प्रेरित होकर, उन्हें स्वयं अपने सिर पर बैठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक द्वेष का परिचय दे रहा है, एक श्रद्धा-भक्ति का परिचय दे रहा है; किन्तु दोनों के परिचय का प्रभाव उनके भाव में कुछ भी नहीं पड़ा।

हम जिनकी आराधना करते हैं, हम जिनकी साधना करते हैं, हम जिनको साध्य मानते हैं, जिनको पूज्य मानते हैं, जिनके चरणों में नियमित सिर झुकाते हैं, जिनको मन्दिर में जाकर आराधना करते हैं, जिनके चित्रों की हम पूजा करते हैं, जिनके लिए हमने देवालय बनाये, हजारों-लाखों रुपया व्यय कर उनकी मूर्ति की स्थापना की चित्र का महत्व कम नहीं है, पर चित्र का महत्व चरित्र के पीछे है। उन महापुरुषों के चरित्र में इतनी महानता थी, इसलिए हर सामान्य व्यक्ति को उनके चित्र की स्थापना करने की भावना मन में पैदा हुई।

"मानवता की पूजा कौन करे, मानवता पूजी जाती है।
सुमनों की, साधक की, पूजा कौन करे, साधकता पूजी जाती है।।
सुमनों की संख्या अनगिन है, पर अलि उन पर मंडराते हैं।
जो पुष्प-राग लुटाते हैं, भौंरे उन पर ही मंडराते हैं।।"

हम स्वयं इस बात का चिन्तन करें और जिनके चित्र का दर्शन करते हैं उनके चरित्र का सुमरन करें, मनन करें, अध्ययन करें और स्वयं अपने मन के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ें—क्या हम अपने जीवन में प्रतिकूल प्रसंगों में थोड़ी भी शांति का अनुभव करते हैं? थोड़ी भी समता का अनुभव करते हैं? प्रतिकूलता के वातावरण में बड़बड़ाये बिना रहते हैं? मुँह खोले बिना हमें चैन पड़ता है, हमारा संतुलन कितना अधिक बिगड़ जाता है, हमारा मन कितना अशांत हो जाता है? सामान्य प्रसंगों में भावों में हमारी ऊँचाई और नीचाई हिलने लगती है। जैसे थर्मामीटर का पारा कभी ऊपर और कभी नीचे, हर समय होता ही रहता है। सामान्य प्रसंगों को लेकर हम क्लेश का वातावरण उपस्थित कर देते हैं। इतनी वाणी में कटुता ले आते हैं कि सामने वाले व्यक्ति की आँखों में दस आँसू गिर पड़ते हैं, किसी का भोजन

जीने की कला

सत्य जब तक समझ में नहीं आयेगा, तब तक व्यक्ति को संसार में रहने की कला भी नहीं आयेगी। सत्य समझ में आने के बाद संसार में व्यक्ति को जो प्राप्त होता है, उसका स्वागत एक मन से करने की योग्यता का उसमें विकास हो जाता है।

हम किसी भी महापुरुष के जीवन-प्रसंगों को देखें, सुनें, पढ़ें, समझें तो ये सच्चाई हमें मालूम पड़ती है। भगवान् राम के वन-गमन के प्रसंग को यदि हम चिन्तन का विषय बनायें, तो तुरंत यह सत्य हमें समझ में आता है कि राज्य-सिहासन से जोड़ने वाले क्षणों में वनवास का जो प्रसंग बना, राम ने उन क्षणों में अपने मन को पूरी तरह से संतुलित पाया उसका यह प्रमाण कि उनके भावों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ; इसलिए चेहरे ने उनके भावों का परिचय नहीं दिया और प्रतिक्रिया के रूप में उनकी वाणी-व्यवसाय नहीं हुआ।

भगवान् महावीर को छह महीने तक संगमदेव ने नाना अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग दिये। प्रतिकूलता के क्षण इतने अधिक उपस्थित किये कि 'मरणान्त उपसर्ग' की वेदना का अनुभव भी उन्हें कितनी बार करना पड़ा। पर सत्य में जब वे समा गये, सत्य जब उन्हें पूरी तरह से समझ में आ गया, तो ऐसे विपरीत प्रसंगों में उन्होंने सहज समता भाव का परिचय दिया। ऐसे ही एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। दयानन्द सरस्वती जिनके रसोइये ने (जगन्नाथ पण्डित नाम का रसोइया था) काँच को पीसकर आटे में ऐसे डाल दिया जैसे रसोई बनाते समय महिलायें नमक डालती हैं। मृत्यु का क्षण उनके जीवन में जब उपस्थित हो गया, दयानन्द सरस्वती को अनुभव हो गया कि इस मृत्यु में स्थूल निमित्त जगन्नाथ पण्डित है, पर सच्चाई यह है कि मृत्यु का समय आ चुका, तो ऐसे क्षणों में जगन्नाथ के प्रति उनके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई और उन्होंने कहा—ओ जगन्नाथ, ओ जगन्नाथ, ओ बच्चे! तू जल्दी से जा और अपने आपकी जिन्दगी बचा। अन्यथा मेरे अनुयायी अभी तेरी

करे और वह आत्मस्वरूप, चैतन्य-स्वरूप, परमात्म-स्वरूप, जिसको हमें समझना है। उसे समझने के लिए मात्र यही मानव-जीवन का योग है। अन्य जीवनों में समझने और समझाने की व्यवस्था ही नहीं है। पशु-जगत् को देखिये, पक्षी-जगत् को देखिये, वहाँ कोई व्यवस्था नहीं है, किन्तु इन्सान यहाँ जन्म लेकर अपनी शक्ति का विस्तार करता है। अपनी शक्ति को अधिक-से-अधिक विकसित करने के लिए पूरी जिन्दगी दौड़-धूप करता है। पर सदा जगत् से ही जुड़ता है। स्वयं अपने आप से अपने को जोड़ने की कभी कोशिश नहीं करता।

एक सेठ जिसके पास जरूरत से ज्यादा सुविधा, जरूरत से ज्यादा मकान, जरूरत से ज्यादा धन, सब कुछ अधिक-ही-अधिक था। किन्तु जितना उसके पास था। उससे ज्यादा उसमें अहम् भी था इसलिए अपने आपको तौलने का मापदण्ड इससे अधिक कुछ था भी उसके पास। यही व्यक्ति अपना परिचय जब तक मानता है, तब तक उसका एकान्त अज्ञान बोलता है। क्योंकि जो कुछ भी है, यह एक पुण्य-पाप की फिल्म है, जो कुछ भी है कुछ वर्षों का एक संयोग है। जो कुछ भी है पर सदा रहने वाली कोई भी शक्ति व्यक्ति के पास नहीं है। सन्त के चरणों में वह सेठ गया और कहने लगा कि महाराज, मुझे सेवा का अवसर दीजिये। सन्त ने कहा—मेरे पास अभी कोई सेवा नहीं है। मैं क्या कहूँ जबकि मुझे कोई काम नहीं है। महाराज, आप मुझे नहीं पहचाने होंगे, आप मुझे नहीं जानते हैं। महाराज आप जो कहेंगे वही मैं करने के लिए तैयार हूँ। आपकी कृपा से मेरे घर में कोई कमी नहीं है। आप मुझे सामान्य मत समझिये यदि आप नहीं जानते हों तो मैं बता देता हूँ कि मैं बहुत बड़ा सेठ हूँ; सेवा की भावना में भी उसे विवेक नहीं अविवेक है। अविवेक क्यों है? अज्ञान है। अज्ञान क्यों है? आत्म का ज्ञान नहीं है। इसलिए पुण्यरूप जो पायी है सुख-सम्पत्ति, उसे कुछ वर्षों के लिए प्राप्त हुई है। उसके आधार पर अपना मूल्यांकन कर संत से भी अपनी प्रशंसा सुनने की भावना है, और इसलिए कह रहा है कि आपने मुझे नहीं पहचाना, क्योंकि जाने के क्षणों में स्वागत नहीं हुआ। आइये सेठ साहब, ये शब्द सुनने को नहीं मिले तो व्यक्ति ने सोचा इन्हें पता ही नहीं है कि मैं क्या हूँ? संत ने भी उसके लहजे को समझ लिया कि मिला तो है पचा नहीं, मिला पुण्य से है, किन्तु नहीं पचाना इसका पाप का बन्ध है। इसलिए अच्छा है यदि यह सम्भल जाये। संत ने कहा—अच्छा, तुम इतना अधिक कह रहे हो तो एक सेवा तुम्हें बता देता हूँ। लो छोटे-में-छोटा काम है, बहुत ही मामूली काम है। यह सुई है किसी ने मुझे दी है। मैं तुम्हें देता हूँ, तुम भी मुझे फिर वापिस दे देना। महाराज, कब दूँ, कहाँ दूँ? कुछ

छूट जाता है, दिन भर के वातावरण में अशांति-अशांति हो जाती है, भोजन बना पड़ा रहता है, किन्तु भोजन करने का भाव किसी के मन में पैदा नहीं होता।

ऐसे वातावरण आये दिन, जो निर्मित होते हैं, उनमें मूल कारण क्या हमारे जीवन में सहनशीलता का अभाव, हमारे जीवन में शांति का अभाव, हमारे जीवन में प्रतिकूलता से समझौता करने की क्षमता नहीं होने की दुर्बलता है? यदि हमारे में प्रतिकूल प्रसंगों में समता रखने की क्षमता प्राप्त हो जाये, तो आये दिन जीवन में आने वाले प्रतिकूल प्रसंग हम पानी की तरह पी जायें। हमारे आराध्यों ने वही तो काम किया, और किया क्या? हम उनसे क्या प्रेरणा लें, उनके दरबार में जाकर हम क्या प्रार्थना करें, पर ऐसा कब हुआ, जब उन्होंने विनाशी में अविनाशी के दर्शन किये, अपने ही देह में विराजमान शाश्वत चैतन्य तत्व उसकी जब उन्हें प्रतीति हो गयी, उसकी जब उन्हें अनुभूति हो गयी तो फिर जगत् उनकी दृष्टि में जगत् रह गया। अनुकूल/प्रतिकूल परिस्थिति उनके जीवन में अनुकूल/प्रतिकूल रह गयी। ऐसा कब संभव होगा? एक दिन में नहीं, एक वर्ष में भी नहीं होगा, प्रयत्न करते-करते अपने जीवन को संतुलित बनाने की कोशिश करते-करते। आये दिन जब हमारी साधना होगी, जब हमारा अभ्यास होगा, तो हमें अपने जीवन में शांति के दर्शन होंगे।

आज मनुष्य-जिन्दगी में सुन्दरता की शक्ति मिली है, स्वस्थ शरीर की शक्ति मिली है, जरूरत से ज्यादा पैसे का योग बना है, या नामकरण के उदय से, पुण्य के प्रभाव से हजारों आदमी जाने इस रूप में आपका नाम प्रसिद्धि में आ गया हो, भले आपको दुनिया से प्रशंसा मिल रही हो पर हमें आवश्यकता है कि हम सत्य को समझें, क्योंकि सत्य को समझे बिना असत्य का आकर्षण कभी हमें अशांत किये बिना नहीं रहेगा, अनुकूलता में जितनी मुस्कुराहट आयेगी, प्रतिकूलता में उतनी ही वेदना होगी। दोनों एक अनुपात में होंगे—जिसको प्रतिकूलता में दुःख होता है, उसे अनुकूलता में सुख हुये बिना रहेगा ही नहीं और जिसे अनुकूलता में सुख का अनुभव होता है, उसे प्रतिकूलता में वेदना का अनुभव न हो, ऐसा असम्भव है। ये एक सिक्के के दो पहलू हैं।

गीता में भी कहा गया कि कर्तव्य कर, फल की आकांक्षा छोड़। फल मिले अलग बात है, किन्तु फल की आकांक्षा से जो प्रवृत्ति करता है उसे अनुकूल फल न मिलने पर मन परेशान हुये बिना नहीं रहेगा। पर इन सारी ही बुराइयों की जड़ जो है वह सत्य को समझे बिना असत्य को पकड़ना है। सत्य समझे बिना आचरण बदल जाएगा; पर वृत्ति नहीं बदलेगी। वृत्ति बदलने के लिए बहुत जरूरी है कि व्यक्ति सत्यस्वरूप को समझने की कोशिश

गुण है, वह सत्ता में सदा विद्यमान है। क्या कोई देगा? कैसे देगा? देने का किसी को अधिकार क्या है? स्वयं की शक्ति है, स्वयं मे ही है, अज्ञान यही है कि स्वयं की शक्ति से स्वयं परिचित हुआ नहीं है। क्योंकि स्वयं से, परिचित होने का स्वयं को अभी अवकाश नहीं। स्वयं से मैं परिचित बनूं, ऐसे इस जीव को मन में भाव नहीं आते, सबसे मिलने के भाव आते हैं, सबको पहचानने के भाव आते हैं, सबके साथ व्यवहार, सम्बन्ध स्थापित करने के भाव आते हैं, पर पाँच या दस मिनट को वह "कोऽहंमय शक्ति, कुता अयाशे, कुते गमिष्यामि" ऐसा चिन्तन करने के लिए दस मिनिट भी व्यक्ति आँख बन्द करके बैठना पसंद नहीं करता। दुनिया को देखने के लिए पूरे दिन आँखें खोलना पसंद है। पर आँखें बन्द करना कितना मुश्किल है। क्योंकि आत्म-चिन्तन में आँखें बन्द करना जरूरी है। दुनिया को देखने के लिए आँखें खुली रखना जरूरी है, आँखें खुली रखने में व्यक्ति को दिक्कत नहीं है। दूसरों की चर्चा करने में व्यक्ति को जिह्वा हिलाने में दिक्कत नहीं है, दूसरों की चर्चा सुनने में कानों को सक्रिय रखने में व्यक्ति को परेशानी नहीं होती। पर अपनी आत्मा की जब बात सुननी हो, "वीतराग चित्र" को आत्म-स्वभाव के लिए जब देखना हो, तत्व की चर्चा जब सुननी हो, आत्म-स्वरूप और अरिहन्त के भक्ति-रूप भजन गाने हों, उस समय देखिये जिह्वा कितनी जल्दी थकती है। दो भजन गाने के बाद व्यक्ति सोचता है, कितना गाते रहेंगे, दस मिनिट यदि अरिहन्त का, अपने आराध्य का सुमरन करना तो दो या तीन बार माला देखता है कि वह मेरु कब आयेगा जब माला पूरी होगी, वह भी केवल दस मिनिट मन्दिर में।

आज तक उसके हाथ में दृश्य जगत् किसी भी समय की योग्य भूमिका को, परिस्थिति को, अनुकूल साधनों को पकड़ के रख नहीं सका, चिपक भी नहीं सका। मन से कितना भी चिपका, पर उन सारी सुविधाओं को, उन सारे साधनों को, उन सारे सम्बन्धों को छोड़ना ही पड़ा। मृत्यु के क्षणों में एक नहीं, अनेक बार व्यक्ति इसी प्रकार विदा लेते हैं और विदा देने वाले उन्हें विदा देते हैं, न मालूम कितने ऐसे प्रसंग देखे हैं, जाने वाला भी आँसू निकालता है, और भेजने वाला भी आँसू निकालता है। बिदाई लेने वाले भी आँसू निकाल के कायरता का परिचय दे रहे हैं, मैं जाना नहीं चाहता, पर मुझे जाना पड़ रहा है। मैं नहीं चाहता कि तुम्हें छोड़ूँ, मैं नहीं चाहता कि अपने ही हाथों से कमाकर/बनाये हुए चार लाख के मकान को छोड़कर के जाऊँ। नहीं चाहता कि मेरे बाल-बच्चे मेरे से छूट जायें, पर क्या करूँ जाना पड़ता है! विवशता है, लाचारी है; मजबूरी है!

विधि का विधान है, जिस विधि के विधान को कोई भी बदल नहीं सका, कोई कितना भी महान् हो, नेता, विश्व-विजेता, अन्तकाल में अन्त तक

दिन तो भैया रखो, मुझे इस जन्म में नहीं चाहिये, जहाँ कहीं मैं अगला जन्म लूं, वहाँ आकर तुम मुझे दे देना। सेठ सकपकाये; परेशान होने लगे, हैरान होने लगे। कहने लगे – महाराज, यह कैसे संभव होगा? पहली वात मृत्यु के क्षणों में जव तक सुई मैं साथ लेकर जाऊँगा, तो अगले जन्म में आपको देऊँगा कैसे? संत ने कहा – इतनी छोटी सेवा वतायी, इतनी सामान्य वात मैंने तुमसे कही, तुमने कहा था कि महाराज, जो कहो वह कर दूं, मैं मामूली नहीं हूँ, मैं तो वहुत वड़ा सेठ हूँ, मैंने तो वहुत सामान्य-सी सेवा तुम्हें वतायी।

एक सुई जितनी वात कि ले लो और फिर मुझे दे देना, वीच में रखना यही तुम्हारी सेवा। सेठ ने कहा - नहीं ले जा सकूंगा, अगली जिन्दगी में मुझे यह सुई इस रूप में नहीं मिल सकेगी। संत ने जवाव दिया – सेठ, जव सुई ले जाने जितना भी अधिकार तुम्हें विधि की तरफ से प्राप्त नहीं है। और विधि की व्यवस्था में व्यवधान करने की तुम्हारी शक्ति नहीं है। तो क्यों इतराते हो। पैसे पर क्या इतराते हो, अपने रूप पर क्या इतराते हो? मिला है निश्चित रूप से मिला है, पर है कव तक है, पर हैं कहाँ तक? इसलिए इन सारे संयोगों में, इन सारे निमित्तों में, मात्र अपनी वुद्धि को अटका कर, भटका कर, और चार दिनों की तड़क-भड़क में तुम अपनी जिन्दगी को समाप्त करते जा रहे हो, जवकि इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य है "शाश्वत चैतन्य"। सत्य से मिलें, अपने आपसे मिलें, उसीके लिए महापुरुषों ने जिन्दगी का मूल्यांकन किया है, मनुष्य को महान् इसलिए वताया कि देवता भी उस मनुष्य को नमस्कार करते हैं। किसको नमस्कार करते हैं? जिसका मन धन में है उसे? जिसका मन परिवार में है उसे? जो कुर्सी के लिए, सत्ता और संपत्ति के लिए दौड़ा-दौड़ करता है उसे? नहीं। देवता भी किसको नमस्कार करते हैं? जिसका मन धर्म में संलग्न है।

'वस्तु स्वभाव धम्मो' वस्तु का जो स्वभाव है, वही धर्म है। आत्मा का सहज स्वभाव है। उस सहज स्वभाव से परिचित होना ही सम्यक् दर्शन है। देखनेवाले को देखना ही सम्यक् दर्शन है, जानने वाले को जानना ही सम्यक् ज्ञान है, देखने और जानने वाले में रमण करना ही सम्यक् चरित्र है। सम्यक् दर्शन कहीं से मिलने वाली वस्तु नहीं है। सम्यक् दर्शन किसी की वास्तक्षेप में नहीं है। सम्यक् दर्शन किसी का होने से नहीं मिलेगा। यह तो मात्र वाह्य प्रवृत्ति है, अपनी-अपनी सीमा में अपनी-अपनी संख्या को सुरक्षित करने की व्यवस्था है, इससे अधिक उस सम्यक् का कोई महत्व हो, मैं नहीं जानती; क्योंकि वस्तु का जो सहज स्वभाव है, वही उसका धर्म है, और उसका धर्म है उसकी प्रतीति होना ही सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन आत्मा का स्वभाव

गुण है, वह सत्ता में सदा विद्यमान है। क्या कोई देगा? कैसे देगा? देने का किसी को अधिकार क्या है? स्वयं की शक्ति है, स्वयं में ही है, अज्ञान यही है कि स्वयं की शक्ति से स्वयं परिचित हुआ नहीं है। क्योंकि स्वयं से, परिचित होने का स्वयं को अभी अवकाश नहीं। स्वयं से मैं परिचित बनूं, ऐसे इस जीव को मन में भाव नहीं आते, सबसे मिलने के भाव आते हैं, सबको पहचानने के भाव आते हैं, सबके साथ व्यवहार, सम्बन्ध स्थापित करने के भाव आते हैं, पर पाँच या दस मिनट को वह "कोऽहमस्य शक्ति, कुता अयाते, कुते गमिष्यामि" ऐसा चिन्तन करने के लिए दस मिनिट भी व्यक्ति आँख बन्द करके बैठना पसंद नहीं करता। दुनिया को देखने के लिए पूरे दिन आँखें खोलना पसंद है। पर आँखें बन्द करना कितना मुश्किल है। क्योंकि आत्म-चिन्तन में आँखें बन्द करना जरूरी है। दुनिया को देखने के लिए आँखें खुली रखना जरूरी है, आँखें खुली रखने में व्यक्ति को दिक्कत नहीं है। दूसरों की चर्चा करने में व्यक्ति को जिह्वा हिलाने में दिक्कत नहीं है, दूसरों की चर्चा सुनने में कानों को सक्रिय रखने में व्यक्ति को परेशानी नहीं होती। पर अपनी आत्मा की जब बात सुननी हो, "वीतराग चित्र" को आत्म-स्वभाव के लिए जब देखना हो, तत्व की चर्चा जब सुननी हो, आत्म-स्वरूप और अरिहन्त के भक्ति-रूप भजन गाने हों, उस समय देखिये जिह्वा कितनी जल्दी थकती है। दो भजन गाने के बाद व्यक्ति सोचता है, कितना गाते रहेंगे, दस मिनिट यदि अरिहन्त का, अपने आराध्य का सुमरन करना तो दो या तीन बार माला देखता है कि वह मेरु कब आयेगा जब माला पूरी होगी, वह भी केवल दस मिनिट मन्दिर में।

आज तक उसके हाथ में दृश्य जगत् किसी भी समय की योग्य भूमिका को, परिस्थिति को, अनुकूल साधनों को पकड़ के रख नहीं सका, चिपक भी नहीं सका। मन से कितना भी चिपका, पर उन सारी सुविधाओं को, उन सारे साधनों को, उन सारे सम्बन्धों को छोड़ना ही पड़ा। मृत्यु के क्षणों में एक नहीं, अनेक बार व्यक्ति इसी प्रकार विदा लेते हैं और विदा देने वाले उन्हें विदा देते हैं, न मालूम कितने ऐसे प्रसंग देखे हैं, जाने वाला भी आँसू निकालता है, और भेजने वाला भी आँसू निकालता है। बिदाई लेने वाले भी आँसू निकाल के कायरता का परिचय दे रहे हैं, मैं जाना नहीं चाहता, पर मुझे जाना पड़ रहा है। मैं नहीं चाहता कि तुम्हें छोड़ूं, मैं नहीं चाहता कि अपने ही हाथों से कमाकर/बनाये हुए चार लाख के मकान को छोड़कर के जाऊँ। नहीं चाहता कि मेरे बाल-बच्चे मेरे से छूट जायें, पर क्या करूँ जाना पड़ता है! विवशता है, लाचारी है; मजबूरी है!

विधि का विधान है, जिस विधि के विधान को कोई भी बदल नहीं सका, कोई कितना भी महान् हो, नेता, विश्व-विजेता, अन्तकाल में अन्त तक

उनको भी परास्त कर देता है, "उदय, अस्त, उत्थान, पतन, क्रम चलता, नित्य नियति का अतिक्रमण कर सका, कौन इस निश्चित काल प्रगति का।"

इसलिए जाना तो है, किन्तु जाने के क्षणों में उसके आँसू उसकी मजबूरी बताते हैं, उसके अज्ञान का परिचय देते हैं। क्योंकि उसने नहीं जाना कि बिछुड़ने के लिए ही मिला है, इसीलिए कि उसे छोड़ना है, संयोग इसलिए हुआ कि उसका वियोग होगा। सत्य है, शाश्वत सत्य है, अपनी उम्र से भी शिक्षा मिलती है, प्रत्येक कण और प्रत्येक क्षण से भी हमें प्रेरणा मिलती है। आप चंद्रमा को देखिये, सूर्य को देखिये, दीपक को देखिये, बादल को देखिये, फूल को देखिये—सबसे यही प्रेरणा मिलती है।

प्रातःकाल सूर्य उदय होता है और संध्या डूब जाता है, फूल प्रातःकाल खिलता है, और संध्या मुरझा जाता है, बादल भरते हैं, फिर खाली हो जाते हैं, ऐसे इन्सान जनमता है, पर फिर मर जाता है ये विधि की व्यवस्था है :

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छुपने को चन्द्र,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मंद,
यहाँ किसका अनन्त यौवन, अरे अस्थिर छोटे जीवन।।

फूल खिलते हैं इसलिए कि उन्हें मुरझाना है, मुरझाने के लिए ही फूल खिलते हैं। बादल बरसने के लिए भरते हैं, दीपक मंद होने के लिए ही जलता है, मनुष्य मरने के लिए ही जनमता है। निश्चित व्यवस्थित है, कोई व्यवधान को अवकाश नहीं है और यदि ऐसा न होता तो ढाई सौ वर्ष का कोई व्यक्ति दिखाई देता, पाँच सौ वर्ष का कोई व्यक्ति दिखाई देता। हमारे राम, कृष्ण, महावीर आज भी इस धरती पर दिखाई देते। हमारा जीवन धन्य भाग्य, धन्य घड़ी हो जाता, उन प्रत्यक्ष महापुरुषों से हमें कितनी प्रेरणा मिलती, जब आज उनकी वाणी हमारे लिए इतनी प्रेरणा देने वाली है, आज उनके चित्र चिन्तन से भी हमारा चरित्र बनता है। आज उनके ग्रन्थों का अध्ययन करके भी हमें बहुत कुछ शिक्षा मिलती है यदि वे स्वयं आज साक्षात् होते तो। पर विधि के नियम ने अव्यवस्था पैदा करने की शक्ति उन महा-पुरुषों में भी नहीं थी। इसीलिए जगत् से लिपटे नहीं, किन्तु जगत् को जगत् समझ कर जगत् के प्रति उन्होंने मोह छोड़ दिया।

उपयोग किया, सदुपयोग किया। पर असत्य नहीं बने, क्यों नहीं बने? शाश्वत चैतन्य तत्व उनकी समझ में आ गया। जब तक हमारी ही शक्ति हमें समझ में नहीं आयेगी, वहाँ तक व्यक्ति संसार में जीवन जीने की कला नहीं सीख पायेगा। और इसीलिए आये दिन के उतार-चढ़ाव में वह हैरान-परेशान होता ही रहेगा।

राजा जनक की सभा में अष्टावक्र इसलिए तो हँस पड़े थे और उनकी हँसी राजा जनक के लिए एक बहुत बड़ा आश्चर्य था, क्योंकि उनके आगमन पर पूरी सभा हँस पड़ी थी। राजा जनक ने कहा – 'प्रभो! सभा की हँसी का कारण तो मुझे समझ में आता है, पर आपकी हँसी का कारण मुझे समझ में नहीं आता?' अष्टावक्र ने जवाब दिया था कि तुम्हारी सभा हँसी, इसलिए मैं हँसा; क्योंकि इतनी बड़ी सभा में मुझे सब चमार-ही-चमार मिले, कोई भी इसमें एक भी ज्ञानी दिखाई नहीं दिया; यदि इतनी बड़ी सभा में कोई ज्ञानी होता, तो उसे मेरे अंगों के टेढ़ेपन के कारण हँसी नहीं आती। क्योंकि यह मकान की व्यवस्था है, यह कुरूपता मेरे पाप कर्म का उदय है, सुन्दरता नहीं होना यह अलग बात है, किन्तु मन की पवित्रता होना, वह अलग बात है। अष्टावक्र-जैसे आत्मज्ञानी के आने पर पूरी सभा की जो हँसी थी वह अज्ञान का परिचय थी, इसलिए कि चमड़ी से अधिक भेद में अभेददृष्टि नहीं थी। हम सत्संग के वातावरण में इसी सत्य को समझने का प्रयास करेंगे। इसी सत्य को समझने के लिए पहले अपने जीवन की मानसिक भूमि व्यवस्थित बनायेंगे, क्योंकि जब तक मानसिक भूमि व्यवस्थित नहीं बनेगी, तब तक अध्यात्म और आत्मा की बात समझ में नहीं आयेगी। क्योंकि योग्य आचरण ही योग्यता प्राप्त कराता है। जब तक हम आत्मज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता का विकास नहीं करेंगे, तब तक आत्मज्ञान की बात हमारे पल्ले भी नहीं पड़ेगी; आत्मज्ञान की बात हमें अच्छी नहीं लगेगी। और हो सकता है मेरी बात अटपटी ही लगती हो। ऐसा ही लग रहा होगा कि क्या बात हो रही है, बहुत गहरी बात हो रही है। पता नहीं कहाँ की बात हो रही है? पर सच्चाई है; हमें समझना तो यही है।

हमारा अनादि का वह अज्ञान इतना घना है, इतना अधिक है, इसके रंग में हम इतने रंगे हुए हैं उस रंग में रंगे हुए जब तक हैं, तब तक दूसरी बात हमें अच्छी भी नहीं लगती। हम सत्संग में भी उसी बात को पसंद करेंगे कि हमें शारीरिक सुख मिल जाए, पारिवारिक सुख मिल जाए, पैसे का सुख मिल जाए। व्यक्ति इसी को सुख मानकर चलता है और इसी की प्राप्ति के लिए उसकी सारी दौड़ है। पर फिर भी ज्ञानियों के ज्ञान में हमारा यह सारा अज्ञान है और जब तक वह अज्ञान हमारी समझ में नहीं आयेगा; तब तक हमारे मन की शांति संभव नहीं है।

कभी-कभी ऐसा भी लगेगा कि ऐसा कैसे होगा? यह समझ में कैसे आयेगी बात? किसी भी कार्य के पीछे पड़ने से कार्य होता है। मात्र दो-तीन हजार रुपये महीने की नौकरी करने के लिए योग्यता प्राप्त करने में पन्द्रह वर्ष का समय लगता है। सोलह-सत्रह वर्ष तक स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी के

चक्कर काटता है व्यक्ति । हजार नहीं, दो-तीन हजार, दस-पन्द्रह हजार तक का खर्च करता है सात-आठ घण्टे का समय देता है, एक वर्ष तक एक क्लास की पुस्तकों को पढ़ता है । तब कहीं जाना उसको पन्द्रह-बीस वर्ष में दो-तीन हजार रुपये कमाने की योग्यता प्राप्त होती है ।

एक व्यापारी धन प्राप्त करने के लिए आठ-दस घण्टे दुकान पर बैठता है, नियमित उसका क्रम है तब कहीं जाकर उसको धन के दर्शन होते हैं । वह भी जितना पुण्य योग्य होगा, पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता है । एक वकील को वकील बनने में, डॉक्टर को डॉक्टर बनने के लिए कितना समय देना पड़ता है ? संसार में कौन-सा ऐसा कार्य-क्षेत्र है, जिसमें सफल बनने के लिए, जिसमें निपुण बनने के लिए, जिसमें होशियार बनने के लिए हमें समय शक्ति और श्रम न करना पड़ता हो ? आप संसार कोई प्रवृत्ति बता दीजिये, जो एकदम हमें सरलता से प्राप्त हो जाए ।

इतने बड़े जो बने हैं, तो कितने वर्ष लगे हैं ? पर उन सारी प्रवृत्तियों में तो हमारा पुरुषार्थ हो जाता है, हमें आये दिन वहाँ जाकर बैठने में कोई दिक्कत नहीं होती, आठ घण्टे तक उसी व्यापार में हम मन लगाये रहते हैं, उसी परिवार में पूरी जिन्दगी जीते हैं, उसी मकान में जिन्दगी गुजार देते है, पर जहाँ आत्म-कल्याण की बात हो, अध्यात्म की बात हो, सत्संग की बात हो, तो कितने व्यक्ति प्रश्न करते हैं कई बार कि बात तो एक ही है, राग-द्वेष छोड़ो, मैं आये दिन क्या सुनूं एक ही बात को ? मैंने कहा—भैया, गेहूँ की रोटी तो वही है, फिर आये दिन क्या खाते हो वही रोटी, गेहूँ रोज का कहाँ बदलते हैं, वही आटा है, वही रोटी बनती है और आये दिन कैसे खाते हो ? कपड़ा भी वही है, फिर आये दिन क्यों पहनते हो ? दुकान में माल भी वही है, फिर आये दिन क्यों बेचते हो ? घण्टे-आधे घण्टे का समय सत्संग के वातावरण में या अरिहंत की भक्ति में या तत्व के चिन्तन में, सद्ग्रंथों के वाचन में समय लगाना, हम बहुत ज्यादा समय समझते हैं और कहते हैं कि आये दिन किसका मन लगे स्वाध्याय करने में, सत्संग करने में, भक्ति करने में, मन नहीं लगता है, एक घण्टा भी जब भारी लगता है, ज्यादा लगता है, तो फिर यह बताइये कि दस घण्टे दुकान में मन कैसे लगता है ?

माल तो वही होता है, वहाँ रस है, वहाँ आकर्षण है, वहाँ पैसा कमाने का लोभ है, अभिलाषा है। वह अभिलाषा हमसे परिश्रम करवाती है, आत्म-कल्याण की अभिलाषा अभी हमारे मन में जमी नहीं है। आत्म-कल्याण तो बहुत दूर की बात है, हम आकृति के मानव प्रकृति के मानव बनने का अभ्यास भी नहीं करते हैं ; हम विश्व और देश के लिए कुछ न करें, किन्तु परिवार के बीच जीवन जीने की कला भी हमें याद नहीं है। पड़ोस के लिए भी हम

उपयोगी नहीं हैं, परिवार के सदस्यों के जीवन को जो उत्तरदायित्व लिया है, उसे भी सही ढंग से निभाने की हमारी योग्यता नही है। ऐसी स्थिति में हम कैसे धर्मात्मा बनेंगे? कैसे महात्मा बनेंगे? और परमात्म तक मंजिल पार करेंगे? हालत ऐसी है कि एम. ए. का कोर्स पढ़ना चाहते हैं, पर ए. बी. सी. डी. याद नहीं।

वही हमारी स्थिति है, इसलिए हमें अपने जीवन में अध्यात्म-ज्ञान को समझने की योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रारंभिक भूमिका पर चलना होगा, और प्रारंभिक भूमिका में हमें अनुभव करना होगा कि हमारा लौकिक जीवन कैसा है? हम बातें बहुत अच्छी कर लेते है, यह कोई बहुत अच्छी बात नही, जीवन अच्छा होना ही अच्छी बात है। उम्र बहुत लम्बी होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं है। जीवन में अच्छे काम कितने किये, यह ही अच्छी बात है। भाषण देना कोई बहुत अच्छी बात नही है, यह भी वाणी-व्यवसाय है, सुनना भी बुद्धि-विलास है। यह भी एक व्यसन है; ड्यूटी है, या जिम्मेवारी है, कुछ भी कह दूं—गुरुवर्या विचक्षणश्री महाराज कहा करती थीं कि तुम साधक-जीवन में समाज से बहुत कुछ लेते हो, तुम्हारा सारा साधक-जीवन इसमें जो अनिवार्य जरूरतें हैं, उन्हें समाज पूरा करता है। समाज बहुत कुछ देता है, पर तुम समाज को क्या देते हो? वे कहा करती थीं कि समाज के पास इतना समय नहीं है कि वह दस हजार ग्रन्थ पढ़ ले, समाज के पास इतना समय नहीं कि वह तीन-तीन घण्टे अध्ययन कर ले। कई प्रवृत्तियाँ हैं उसका कार्य-क्षेत्र बड़ा व्यापक है, बहुत-सी जिम्मेदारियाँ है और तुम साधु-साध्वी उन जिम्मेवारियों से मुक्त हो तो अपना आत्मोत्थान करते हुए तत्व का चिन्तन करते हुए गहरा अध्ययन करो और उसके बाद कम-से-कम एक घण्टा सत्संग के वातावरण में समाज को उस अध्ययन का जो मर्म है, चिन्तन का जो मक्खन है, वह समाज को देकर सेवा करो।

जैसे गाय हजारों प्रकार की वनस्पति चरती है, उसके बाद उसकी साधना से, उसकी जुगाली से, उसके प्रयत्न से दूध समाज को मिल जाता है। कोई कहे दूध पीने की अपेक्षा घास की क्यों न खा लें—कैसे संभव होगा? गाय का काम है कि घास को दूध में बदल दे, पर सीधा दूध हम लेते हैं। जैसे डॉक्टर हजारों मिक्चर करके एक दवा दे देता है रोगी को, यह तो डॉक्टर का काम है, हर रोगी का काम नहीं है। जैसे अध्यापक है परीक्षा के दिनों में विद्यार्थी को नोट्स बना कर दे देता है। विद्यार्थी के बस की बात नहीं है कि वह पचास पुस्तक पढ़कर नोट्स बना ले। तो ऐसे ही समाज के हर सदस्य की इतनी योग्यता नही है कि वह धर्म के इतने अधिक ग्रन्थों को पढ़ लें; रुचि होने पर पढ़ते भी हैं तो साधु-साध्वी धर्म-प्रचार के

रूप में आत्म-कल्याण करते हुए, अपनी आत्म-साधना करते हुए एक घण्टे का समय जो समाज के साथ व्यतीत करते हैं। उपदेश देने का अधिकार उन्हें ही है, जिन्होंने उपदेश को जीवन में पूरी आत्मसात् किया है। आपको भी यही करना है, मुझे भी करना है, कोई दो कदम आगे हो सकता है, कोई दो कदम पीछे हो सकता है। इससे ज्यादा कोई विशेष अन्तर मैं अपनी दृष्टि से नही मानती। कोई अन्तर नहीं है, ज्यादा एक सामूहिक स्वाध्याय की व्यवस्था है कि एक बोल रहा है और सब सुन रहे हैं। अब उसमें कोई वाक्य, कोई भी बात किसी को भी लग गई। उसका कल्याण है और जिसका कल्याण है उसकी अपनी योग्यता से। उपदेश देने वाले के आधार में यदि उसकी योग्यता हो, तो सभी की हो जानी चाहिये। उपदेश स्वयं लेगा, स्वयं की योग्यता से लेगा, आप अपनी योग्यता से लेंगे, मैं अपनी योग्यता से लूंगी। और उससे ही हमारा कल्याण होगा। कोई भी एक वाक्य हमारे जीवन मे स्पर्श कर ले, तो निश्चित रूप से हम अपने जीवन में गुणों का अभ्यास करेंगे, मानवता का विकास करेंगे। आकृति के मानव प्रकृति के मानव बनेंगे और जैन, वैष्णव जो भी हम केवल जाति से हैं, कुल-परंपरा से, जन्म के आधार पर हैं; हम जीवन के आधार पर बनने का प्रयत्न करेंगे, तभी हमारा सत्संग सार्थक होगा। □

— बालाघाट, 17 जुलाई, 1983

परमार्थ की ओर

जब तक जीवन में सद्गुणों का संग्रह नहीं होगा, तब तक धर्म हमारे जीवन में नहीं उतरेगा, त्याग और तप हमारे जीवन में प्रतिफलित नहीं होगा। श्रीमद् राजचन्द्र का यह पद पठनीय और माननीय है जिसमें कहा गया कि जीव ने इतना सब कुछ किया, उसके बाद भी उसका कल्याण नहीं हुआ –

"यम नियम संयम आप कियो,
मुनि त्याग वैराग्य अथाग लियो।
वनवास लियो मुख मोल लियो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
मन पौन निरोध स्वबोध कियो,
हठ जोग प्रयोग सुतार भयो।
जस भेद जपे तप त्योंहि तपे,
उरसे ही उदासी लही सबसे।
सब शास्त्रन के नय धारिय हिये,
मत मण्डन खण्डन भेद लिये।
वह साधन बार अनन्त कियो,
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।।"

जोर दे रहे हैं किस बात पर? "तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो" अनन्त काल की यात्रा में इस जीव ने भाव-भ्रमण करते हुए बहुत बार धर्माचरण भी किया है और किस-किस रूप में किया है, यम-नियम। जिंदगी भर के लिए जिस नियम को ग्रहण किया यम, कुछ समय के लिए किया नियम, संयम इन्द्रियों का निग्रह करने का भी प्रयत्न किया, त्याग भी किया, वैराग्य भी लिया, वन में वास भी किया, सब शास्त्रों का पण्डित भी बना, अपने मत का मण्डन भी किया और दूसरों के मत का खण्डन भी किया, पवन का अभ्यास भी किया, प्राणों को योग-साधना से प्राणायाम-विधि से वश में भी

रूप में आत्म-कल्याण करते हुए, अपनी आत्म-साधना करते हुए एक घण्टे का समय जो समाज के साथ व्यतीत करते हैं। उपदेश देने का अधिकार उन्हें ही है, जिन्होंने उपदेश को जीवन में पूरी आत्मसात् किया है। आपको भी यही करना है, मुझे भी करना है, कोई दो कदम आगे हो सकता है, कोई दो कदम पीछे हो सकता है। इससे ज्यादा कोई विशेष अन्तर मैं अपनी दृष्टि से नहीं मानती। कोई अन्तर नहीं है, ज्यादा एक सामूहिक स्वाध्याय की व्यवस्था है कि एक बोल रहा है और सब सुन रहे है। अब उसमें कोई वाक्य, कोई भी बात किसी को भी लग गई। उसका कल्याण है और जिसका कल्याण है उसकी अपनी योग्यता से। उपदेश देने वाले के आधार में यदि उसकी योग्यता हो, तो सभी की हो जानी चाहिये। उपदेश स्वयं लेगा, स्वयं की योग्यता से लेगा, आप अपनी योग्यता से लेंगे, मै अपनी योग्यता से लूंगी। और उससे ही हमारा कल्याण होगा। कोई भी एक वाक्य हमारे जीवन में स्पर्श कर ले, तो निश्चित रूप से हम अपने जीवन में गुणों का अभ्यास करेंगे, मानवता का विकास करेंगे। आकृति के मानव प्रकृति के मानव बनेंगे और जैन, वैष्णव जो भी हम केवल जाति से है, कुल-परंपरा से, जन्म के आधार पर हैं; हम जीवन के आधार पर बनने का प्रयत्न करेंगे, तभी हमारा सत्संग सार्थक होगा। □

– बालाघाट, 17 जुलाई, 1983

वाणी-व्यवहार में भी कितना अहम् का परिचय देते हैं और हममें विनय गुण कहीं देखने को मिलता है? हमारी वाणी में लघुता है? हमारी वाणी में कोमलता है? हमारी वाणी में मृदुता है? आक्रोश है, आवेश है, शब्दों की जो कर्कशता है, जो कठोरता है, ये सब अविवेक की भाषा हैं, ये सब अविनय की भाषा है। आक्रोश, आवेश, कठोरता, चिड़चिड़ापन, तीखे शब्द-ये सारी भाषा छोड़ने लायक है। शास्त्रों में कहा गया है कि जिसमें सरलता होगी, जिसमें लघुता होगी, जिसमें विनयशीलता होगी, उसकी भाषा में भी बड़ा लचीलापन होगा, उसकी भाषा में अविवेक के शब्द नहीं होंगे, उसकी भाषा में आक्रोश नहीं होगा, उसकी भाषा में आवेश नहीं होगा। जब बोलेगा जरूरत जितना बोलेगा, जब भी बोलेगा नपा-तुला बोलेगा, शांत चित्त से बोलेगा, सौम्य स्वभाव में बोलेगा, तो उसकी वाणी इतनी मधुर होगी, इतनी कोमल होगी, इतनी अच्छी होगी कि सुनने वालों को सुख देने वाली होगी। बहुत बड़ी शक्ति होना दोष नहीं है, शक्ति का उपयोग करने वाले में जो अविवेक है, वही दोष है।

जैसे अर्थ से अनर्थ भी है और अर्थ से परमार्थ भी है। अर्थ यानी पैसा, व्यक्ति उसे व्यर्थ भी कर सकता है। व्यर्थ कब है? पैसा है, किन्तु पैसे का कोई उपयोग नहीं है, दस वर्ष पहले भी पचास हजार रुपये बैंक में पड़े थे और आज भी पचास हजार रुपये बैंक में पड़े हैं और आप जिस दिन मरेंगे उस दिन भी बैंक में ही पड़े रहेंगे। पैसा तो है, किन्तु जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से देखें तो क्या है? खाया भी नहीं, खर्चा भी नहीं, दान-पुण्य कुछ भी नहीं किया। तो अर्थ व्यर्थ है। दस रुपये का नोट केवल सिगरेट पीने में खर्च कर दिया, कई ऐसे व्यक्ति हैं जो केवल सिगरेट और पान इन दो के लिए उन्हें दस का नोट चाहिये। क्या स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत बड़ा लाभ है? समाज की दृष्टि से उस पैसे का उपयोग है? वह दस रुपये का नोट परोपकार के लिए जा रहा है या उससे दीन-दुखी की सेवा हो रही है? या आपके पेट को भोजन की पूर्ति हो रही है? क्या हो रहा है? चाय, सिगरेट और पान-तीन प्रवृत्तियों में जिसका दस का नोट जा रहा है, तो दस के नोट का जो उपयोग कर रहा है, उसकी बुद्धि का दोष है कि नोट का दोष है? नोट तो नोट है, नोट तो जड़ है, उपयोग करने वाले पर निर्भर है। पैसा कहता है, मैं एक शक्ति हूँ, किन्तु मेरी जो शक्ति है उसका उपयोग कैसे करोगे, यह तो तुम्हारी बुद्धि पर निर्भर है।

एक व्यक्ति दस का नोट दान में देता है, शिक्षा के लिए देता है, चिकित्सा के लिए देता है। दस के नोट का उपयोग कैसे करना – यह किस पर निर्भर है? व्यक्ति की बुद्धि पर निर्भर है, और जब तक व्यक्ति की बुद्धि में सप्तव्यसन-रूप दुर्गुण हैं, तब तक वह सत्संग में परमात्मा की वाणी को

कर लिया। इतना सब कुछ करने के बाद भी स्थिति क्या है? वास्तविकता क्या है? यथार्थ क्या है? हम कहाँ हैं? 'तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो"— फिर भी अभी तक हमारे हाथ-पल्ले कुछ भी नही पड़ा। क्यो नही पड़ा? क्योंकि हमने अपने आचरण को तो बदल दिया, किसी के कहने से, किसी भी प्रेरणा से, नियम दिलाने से, कुल-परम्परा से, आचार-विचार की पद्धति से, पर धर्माचरण के उद्देश्य को समझने की योग्यता का विकास हमने नही किया। जैसे, मटके मे पानी बहुत भरा, पर एक भी बूंद उसमें थी नही, क्योंकि उसका मुख उल्टा था। ऐसे ही कई ऐसे भाव है जिन भावो के आधीन हो कर जीव संसार-परिभ्रमण कर रहा है, पर आज तक उन भावो को त्याग करने का पुरुषार्थ नही कर सका। सबसे अधिक, सबसे ज्यादा, सब दोषो की जड़, सब दोषों का बाप यदि कोई है तो वह है व्यक्ति मे अहम्। उसमे अहम् बहुत ज्यादा होता है, वह धर्म-क्रिया करता है, किन्तु धर्म-क्रिया मे भी अहम् का त्याग करने का भाव नही करता है। व्यक्ति दान देता है, किन्तु दान देने के सद्गुण में भी अहम् के दुर्गुण का त्याग नही करता। व्यक्ति तप, जप और यम नियम का पालन करता है, किन्तु उसमें भी अहम् भाव को त्याग करने की व्यवस्था उसकी बुद्धि में नही आती और कभी-कभी तो व्यक्ति अपने अहम् भाव को पुष्ट करने के लिए ही धार्मिक नियमों का आलम्बन लेता है। धार्मिक वातावरण में भी अहम् के वशीभूत हो माया का प्रदर्शन करता है।

हमें अपनी दृष्टि भावों में ले जानी है, भाव-परिवर्तन करने में जोर आयेगा, किन्तु भाव-परिवर्तन के बिना कभी आत्म-कल्याण नहीं होगा। इसलिए हम इस बात को बार-बार चिन्तन और चर्चा में लाते हैं कि हमारे भावों की विशुद्धि कैसे हो? हममें विवेक कैसे आये? हममें सरलता कैसे आये? हममें विनय गुण कैसे आये? क्योंकि जब तक सद्गुणों का समन्वय नहीं होगा, विकास नहीं होगा, तब तक हमारी आत्मा पात्र नही बनेगी। पात्र नही बनेगी, तो ग्रहण कैसे करेगी? पात्र बनने में ही व्यक्ति को ज्यादा जोर आता है, और पात्र बने बिना आत्मा का कल्याण हुआ भी नही और होगा भी नहीं, पर हम अपनी दृष्टि अपने उन दोषों पर डालते ही नही है, जिन दोषों के कारण हम संसार-परिभ्रमण कर रहे हैं। जैसे हमने सुन लिया, जान लिया, पढ़ लिया कि अहम् सब दोषों की जड़ है। अहम् का नाश जब तक नहीं होगा, तब तक दूसरे सद्गुणों का विकास नहीं होगा। अब पूरी दिन चर्या में हम इस वाक्य को घुमाते ही रहें। खाने में, पीने में, बोलने में, बैठने में, बातचीत में, व्यवहार में, मुझसे कहाँ अविवेक हो रहा है? कहाँ मुझसे गलती हो रही है? मैं कहाँ अहम् की भाषा बोल रहा हूँ? क्योंकि सारे धर्मग्रन्थ जोर देकर कह रहे हैं जब तक विनय गुण नहीं होगा, जब तक सरलता नहीं होगी, तब तक व्यक्ति में सद्गुणों का विकास नहीं होगा। हम देखें अपने

वाणी-व्यवहार में भी कितना अहम् का परिचय देते हैं और हममें विनय गुण कहीं देखने को मिलता है? हमारी वाणी में लघुता है? हमारी वाणी में कोमलता है? हमारी वाणी में मृदुता है? आक्रोश है, आवेश है, शब्दों की जो कर्कशता है, जो कठोरता है, ये सब अविवेक की भाषा है, ये सब अविनय की भाषा है। आक्रोश, आवेश, कठोरता, चिड़चिड़ापन, तीखे शब्द-ये सारी भाषा छोड़ने लायक है। शास्त्रों में कहा गया है कि जिसमें सरलता होगी, जिसमें लघुता होगी, जिसमें विनयशीलता होगी, उसकी भाषा में भी बड़ा लचीलापन होगा, उसकी भाषा में अविवेक के शब्द नहीं होंगे, उसकी भाषा में आक्रोश नहीं होगा, उसकी भाषा में आवेश नहीं होगा। जब बोलेगा जरूरत जितना बोलेगा, जब भी बोलेगा नपा-तुला बोलेगा, शांत चित से बोलेगा, सौम्य स्वभाव में बोलेगा, तो उसकी वाणी इतनी मधुर होगी, इतनी कोमल होगी, इतनी अच्छी होगी कि सुनने वालों को सुख देने वाली होगी। बहुत बड़ी शक्ति होना दोष नहीं है, शक्ति का उपयोग करने वाले में जो अविवेक है, वही दोष है।

जैसे अर्थ से अनर्थ भी है और अर्थ से परमार्थ भी है। अर्थ यानी पैसा, व्यक्ति उसे व्यर्थ भी कर सकता है। व्यर्थ कब है? पैसा है, किन्तु पैसे का कोई उपयोग नहीं है, दस वर्ष पहले भी पचास हजार रुपये बैंक में पड़े थे और आज भी पचास हजार रुपये बैंक में पड़े हैं और आप जिस दिन मरेंगे उस दिन भी बैंक में ही पड़े रहेंगे। पैसा तो है, किन्तु जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से देखें तो क्या है? खाया भी नहीं, खर्चा भी नहीं, दान-पुण्य कुछ भी नहीं किया। तो अर्थ व्यर्थ है। दस रुपये का नोट केवल सिगरेट पीने में खर्च कर दिया, कई ऐसे व्यक्ति हैं जो केवल सिगरेट और पान इन दो के लिए उन्हें दस का नोट चाहिये। क्या स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत बड़ा लाभ है? समाज की दृष्टि से उस पैसे का उपयोग है? वह दस रुपये का नोट परोपकार के लिए जा रहा है या उससे दीन-दुखी की सेवा हो रही है? या आपके पेट को भोजन की पूर्ति हो रही है? क्या हो रहा है? चाय, सिगरेट और पान-तीन प्रवृत्तियों में जिसका दस का नोट जा रहा है, तो दस के नोट का जो उपयोग कर रहा है, उसकी बुद्धि का दोष है कि नोट का दोष है? नोट तो नोट है, नोट तो जड़ है, उपयोग करने वाले पर निर्भर है। पैसा कहता है, मैं एक शक्ति हूं, किन्तु मेरी जो शक्ति है उसका उपयोग कैसे करोगे, यह तो तुम्हारी बुद्धि पर निर्भर है।

एक व्यक्ति दस का नोट दान में देता है, शिक्षा के लिए देता है, चिकित्सा के लिए देता है। दस के नोट का उपयोग कैसे करना – यह किस पर निर्भर है? व्यक्ति की बुद्धि पर निर्भर है, और जब तक व्यक्ति की बुद्धि में सप्तव्यसन-रूप दुर्गुण हैं, तब तक वह सत्संग में परमात्मा की वाणी को

कर लिया। इतना सब कुछ करने के बाद भी स्थिति क्या है? वास्तविकता क्या है? यथार्थ क्या है? हम कहाँ हैं? 'तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो"— फिर भी अभी तक हमारे हाथ-पल्ले कुछ भी नही पड़ा। क्यो नही पड़ा? क्योंकि हमने अपने आचरण को तो बदल दिया, किमी के कहने से, किसी भी प्रेरणा से, नियम दिलाने से, कुल-परम्परा से, आचार-विचार की पद्धति से, पर धर्माचरण के उद्देश्य को समझने की योग्यता का विकास हमने नही किया। जैसे, मटके में पानी वहुत भरा, पर एक भी बूंद उसमें थी नही, क्योकि उसका मुख उल्टा था। ऐसे ही कई ऐसे भाव है जिन भावो के आधीन हो कर जीव संसार-परिभ्रमण कर रहा है, पर आज तक उन भावो को त्याग करने का पुरुपार्थ नही कर सका। मवसे अधिक, सबसे ज्यादा, सव दोपों की जड़, सव दोपों का वाप यदि कोई है तो वह है व्यक्ति में अहम्। उसमे अहम् वहुत ज्यादा होता है, वह धर्म-क्रिया करता है, किन्तु धर्म-क्रिया मे भी अहम् का त्याग करने का भाव नहीं करता है। व्यक्ति दान देता है, किन्तु दान देने के सद्गुण में भी अहम् के दुर्गुण का त्याग नही करना। व्यक्ति तप, जप और यम नियम का पालन करता है, किन्तु उसमे भी अहम् भाव को त्याग करने की व्यवस्था उसकी वुद्धि में नही आती और कभी-कभी तो व्यक्ति अपने अहम् भाव को पुप्ट करने के लिए ही धार्मिक नियमों का आलम्वन लेता है। धार्मिक वातावरण में भी अहम् के वशीभूत हो माया का प्रदर्शन करता है।

हमें अपनी दृप्टि भावों में ले जानी है, भाव-परिवर्तन करने में जोर आयेगा, किन्तु भाव-परिवर्तन के विना कभी आत्म-कल्याण नहीं होगा। इसलिए हम इस वात को वार-वार चिन्तन और चर्चा में लाते हैं कि हमारे भावों की विशुद्धि कैसे हो? हममें विवेक कैसे आये? हममें सरलता कैसे आये? हममें विनय गुण कैसे आये? क्योंकि जव तक सद्गुणों का समन्वय नहीं होगा, विकास नहीं होगा, तव तक हमारी आत्मा पात्र नहीं वनेगी। पात्र नही वनेगी, तो ग्रहण कैसे करेगी? पात्र वनने में ही व्यक्ति को ज्यादा जोर आता है, और पात्र वने विना आत्मा का कल्याण हुआ भी नहीं और होगा भी नहीं, पर हम अपनी दृप्टि अपने उन दोषों पर डालते ही नहीं हैं, जिन दोपो के कारण हम संसार-परिभ्रमण कर रहे है। जैसे हमने सुन लिया, जान लिया, पढ़ लिया कि अहम् सव दोपों की जड़ है। अहम् का नाश जव तक नहीं होगा, तव तक दूसरे सद्गणों का विकास नहीं होगा। अव पूरी दिन चर्या में हम इस वाक्य को घुमाते ही रहें। खाने में, पीने में, वोलने में, वैठने में, वातचीत में, व्यवहार में, मुझसे कहाँ अविवेक हो रहा है? कहाँ मुझसे गलती हो रही है? मैं कहाँ अहम् की भापा वोल रहा हूँ? क्योंकि सारे धर्मग्रन्थ जोर देकर कह रहे हैं जव तक विनय गुण नहीं होगा, जव तक सरलता नहीं होगी, तव तक व्यक्ति में सद्गुणों का विकास नहीं होगा। हम देखें अपने

जीवन में ग्रहण कर सके, उसकी योग्यता ही नहीं है, तब तक तो व्यक्ति शून्य है। सद्गुणों के विकास में सबसे पहले जरूरत पड़ेगी उस सप्तव्यसन-त्याग की। क्योंकि सप्तव्यसन की प्रवृत्ति सब मादक प्रवृत्ति हैं, तामस प्रवृत्ति हैं और तामसिक प्रवृत्ति का त्याग, जब तक नहीं होगा, तब तक वह राक्षस और पशु का जीवन ही जीता है।

हमें शब्दों के माध्यम से मात्र आशय को पकड़ना है, भावों को पकड़ना है। जब कुदरत ने हमें इन्सान बना ही दिया, तो फिर इन्सान बनकर क्यों न बता दें। प्रातःकाल का समय, आराधना का समय, ईश्वर की उपासना का समय, तत्व-चिंतन का समय, ईश्वर-भक्ति का समय, धर्मग्रंथों के अध्ययन का समय है, किन्तु यह अविवेकी मनुष्य प्रातःकाल सात-आठ बजे तक मुश्किल से बिस्तर छोडता है और जैसे ही बिस्तर छोड़ता है वैसे ही सोचता है कि मंजन करूँ या चाय पी लूँ, पेपर आया कि नहीं आया। अरे अपने आराध्य का नाम कहाँ है, ईश्वर का भजन कब करेगा ? कहाँ करेगा ? मानव-जीवन में ऐसे तेरे भाव नहीं हैं, तो क्या पशु बनकर करेगा, क्या पक्षी बनकर करेगा ? चौरासी लाख योनियों में मात्र एक मानव-जीवन ऐसा है जहाँ आत्मा परमात्मा की भक्ति कर सकती है जहाँ से समाधान हो सकती है, जहाँ ईश्वर उपासना हो सकती है, जहाँ संयम हो सकता है, जहाँ रात्रि और दिन का भेद है, जहाँ सद्ग्रन्थों के आदेश के अनुसार व्यक्ति अनुशासन जीवन जी सकता है। ऐसी अमूल्य अवसर को पाकर भी व्यक्ति अपनी सघन वृद्धि से जीवन जीता है। पंचन्द्रियों के विषयों में लिप्त बन कर जीवन जीता है, मानव-जीवन की प्राप्ति हो गई, इसमें कोई संदेह नहीं है, पर प्राप्त होने का अर्थ उसमें अपने जीवन में नहीं समझा। प्राप्त होने का अर्थ उसमें अपने जीवन में नहीं समझा/प्राप्त होने का एक चीज है, और प्राप्त को संभालना अलग चीज है। इसी प्रकार मिलना अलग चीज है, और उसे संभालना अलग चीज है।

हमें सद्गुरु-ज्ञानी, संत-साधक, ऋषि-महर्षि बार-बार कह रहे हैं कि हे मनुष्य, यह जीवन अमूल्य जीवन में रूप ही मिला हुआ है। यह अनुपम अवस्था है, दुर्लभ अवसर है, इतना महत्वपूर्ण जन्म है। तुझे चौरासी लाख योनि का विस्तार कितना लम्बा है। फिर भी मानव-जीवन रूपी अवसर मिल गया है।

'देवाणाम् अपि दुर्लभं, मनुष्यः शरीरम्।'– जो देवों को भी दुर्लभ है, वह मनुष्य शरीर मिल गया है। इसे तू अब संभाल, संभाल, संभाल। समय का सदुपयोग कर, जो शक्ति मिली है उसका परमार्थ में उपयोग कर। सरस्वती मिली, बहुत बड़ी शक्ति मिली, लाखों की कीमत में वाणी का कोई मूल्य नहीं, अरे तू बोल, बोल, पर ऐसा बोल जो मधुर हो, ऐसा बोल, जो

कोमल हो, ऐसा बोल जो दूसरों को हँसाने वाला हो। गा, तू गा, खूब गा, हरि जस गा – हरि के भजन गा, प्रभु की भक्ति के गाने गा, और इतना गा कि भक्ति में तेरा मन ओत-प्रोत हो जाए। तू चर्चा कर, खूब कर, पर सबकी चर्चा कर, सचमुच की चर्चा कर, आत्मा दृष्टि की बात कर। जिह्वा का उपयोग कर, पर सदुपयोग कर, दुरुपयोग मत कर, जिह्वा से किसी को गाली मत दे, इस जिह्वा से किसी की निंदा मत कर, आलोचना मत कर, किसी को सताऊँ ऐसे दुर्भाव इस मन में मत कर, क्योंकि जो मिला है अमूल्य है, जो मिला है महँगा है, बड़ी मुश्किल से मिला है, आशा तुझे उस मिलने की थी नहीं।

सद्गुरु बार-बार हमें यही उपदेश दे रहे हैं कि सद्गुणों का विकास होगा, शक्ति का सदुपयोग होगा, वास्तव में मनुष्य-जिंदगी अपने आप में सार्थक होगी, पर कब होगी? जब शरीर मिला, जिह्वा मिली, सब कुछ मिला, पर धार्मिक ग्रंथ पढ़ने के लिए आधे घण्टे के भी समय का उपयोग नहीं मिला, पूरे दिन जिह्वा से चपचप करते रहता है, कुछ-न-कुछ बोलते ही रहता है, पर दस मिनट तक अपने आराध्य का सुमरन करूँ, मन्दिर में जाकर भक्ति करूँ, उसके लिए मन तैयार नहीं, मनुष्य-जीवन मिला और मिलने के बाद न मालूम कितना चला भी गया। मिल गया, यह अतीत के कर्मों का फल है, परिणाम है। मिल गया, पर फिर मिलना असंभव है, यदि हमने इसका सही उपयोग, अच्छा उपयोग, सदुपयोग नहीं किया। □

–बालाघाट, 27 अगस्त, 1983

आत्मज्ञान की भूमिका

मनुष्य के जीवन में कर्त्तव्य-पक्ष का अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान है और अनेक व्यक्ति अनेक दृष्टिकोण से अपने कर्त्तव्य के लिए भी शब्द प्रयोग करते हैं कि मनुष्य का यह धर्म है। जैसे शीघ्रता से उत्तरदायित्व को ठीक से निभाना यह भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। अपने आश्रितों की सार-सँभाल करना, उन्हें साधन-सुविधा, शांति देना, यह भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। दीन-दुखी की सेवा करना, यह भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य शब्द एक है, किन्तु कर्त्तव्य शब्द अपने आप में बहुत व्यापक है, बहुत विस्तृत है। देश के प्रति भी उसका कर्त्तव्य बनता है, प्रान्त के प्रति भी, शहर के प्रति भी, मोहल्ले के प्रति भी, पड़ोसियों के प्रति भी और उसी प्रकार रक्त-परम्परा के प्रति भी और वंश-परम्परा के प्रति भी, समाज और जाति के बन्धुओं के प्रति भी; सारे ही कर्त्तव्य का ज्ञान और कर्त्तव्य का भान व्यक्ति को हो सकता है बुद्धि स्तर। लेकिन जब धर्म का स्वरूप उसके जीवन में समझ में आ सकता है, तो सभी कर्त्तव्य-पक्षों में यथाशक्ति व्यक्ति सफल बनता है, पर ऐसा कब सम्भव होता है जब उसके जीवन में धर्म का स्वरूप समझ में आ जाए। धर्म का स्वरूप जिसको समझ में आ जाएगा निश्चित रूप से उसको यथार्थ ज्ञान होगा। यथार्थ ज्ञान होगा तब ही धर्म का स्वरूप समझ में आया है और धर्म का स्वरूप समझ में आया है, तो यथार्थ ज्ञान हुए बिना रह ही नहीं सकता है और नहीं होता है तो फिर धर्म का स्वरूप उसकी दृष्टि मे आया नहीं।

धर्म-भावना को लेकर हम चर्चा कर रहे हैं। धम-भावना का यह दोहा है :

"धन, कण, कंचन, राजसुख, सब ही सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में एक यथाति रथ ज्ञान।।

ज्ञानियों की समझ और हमारी समझ में जमीन-आसमान का अन्तर है। ज्ञानी जिसे स्वार्थ समझते हैं, उसे हम निःस्वार्थ मानते हैं। ज्ञानियों की दृष्टि

बिल्कुल अलग है, ज्ञानियों की दृष्टि अंतर्मुखी होती है और संसारी प्राणी जिनकी दृष्टि में संसार ही महत्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में सांसारिक उपलब्धियों की संख्या ही अपने आप में जीवन की उपलब्धि है। धर्म-भावना के अन्तर्गत दोहे में बताया गया है, जिसको हमने दुर्लभ समझा है, ज्ञानियो ने कह दिया वह तो सुलभ है, वह तो सहज है और सुलभ इसलिए बता दिया कि उसके पाने में कोई नवीनता नही है। कोई अपूर्व बात नही है। तन, धन, परिवार इन सबका संयोग व्यक्ति दुर्लभ मानता हो, पर ज्ञानियों के वचन के अनुसार संयोग दुर्लभ नही है; दुर्लभ इसलिए नही है कि एक बार नहीं, अनन्त बार संसार-यात्रा में इस जीव ने इन सारे ही संयोगों को प्राप्त किया है और बार-बार उन संयोगों का विसर्जन हुआ। एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जब आत्मा प्रवेश करती है, तो शरीर छोड़ने के क्षणों में ही उसके सामने परिवार होता है और फिर नये शरीर को पाने के क्षणों में भी उसके सामने परिवार होता है; तो ऐसी स्थिति में उसे हम दुर्लभ संयोग कैसे कह सकते हैं? मृत्यु के क्षणों में भी निश्चित रूप से उसके इर्द-गिर्द किसी-न-किसी रूप में स्नेहीजन, परिवार के व्यक्ति कोई-न-कोई होते हैं, अब ऐसी जगह मृत्यु हो जाए कि परिवार कहीं है और व्यक्ति मरने वाला कहीं है, तो अलग बात है। जन्म से भी परिवार जुड़ा है। परिवार का वियोग कितने समय के लिए होता है? एक शरीर को छोड़कर आत्मा दूसरे शरीर को धारण करती है, उसके बीच में जो समय व्यतीत होता है और उस समय की जो सीमा है, इतनी संक्षिप्त कि हमारी बुद्धि तो उसे समझ ही न सके।

आँख की एक पलक ऊपर से नीचे होती है इतने में असंख्य समय व्यतीत हो जाता है और एक आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करती है, उसके बीच में दो या तीन समय लगते हैं, इससे अधिक समय नहीं लगता। तो ऐसी स्थिति में शरीर और परिवार दोनों का संयोग-सम्बन्ध दुर्लभ है कि सुलभ है। शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में आत्मा ने प्रवेश लिया उसमें समय कितना लगा और जहाँ शरीर-संयोग हुआ वहाँ परिवार का संयोग किसी-न-किसी रूप में व्यक्त-अव्यक्त रूप में हो ही गया और जहाँ शरीर के साथ संयोग हुआ, वहाँ कहीं-न-कहीं रहने के लिए किसी-न-किसी रूप में व्यक्ति को भूमि का आश्रय मिलता ही है और जब शरीर है तो किसी-न-किसी रूप में वस्त्र पहनने के लिए मिलते हैं, जब शरीर है तो खाने की क्रिया किसी-न-किसी रूप में उसके साथ जुड़ी हुई है।

शरीर, मकान, परिवार, भोजन – ये सारी ही सामग्री इस जीव को अनन्त काल की यात्रा में सर्वत्र सहज सुलभ रही है। आप कह सकते हैं, मानव-जीवन के साथ दुर्लभ शब्द का प्रयोग क्यों किया? इसलिए किया कि मानव-

आत्मज्ञान की भूमिका

मनुष्य के जीवन में कर्त्तव्य-पक्ष का अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान है और अनेक व्यक्ति अनेक दृष्टिकोण से अपने कर्त्तव्य के लिए भी शब्द प्रयोग करते हैं कि मनुष्य का यह धर्म है। जैसे शीघ्रता से उत्तरदायित्व को ठीक से निभाना यह भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। अपने आश्रितों की सार-सँभाल करना, उन्हें साधन-सुविधा, शांति देना, यह भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। दीन-दुखी की सेवा करना, यह भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य शब्द एक है, किन्तु कर्त्तव्य शब्द अपने आप मे बहुत व्यापक है, बहुत विस्तृत है। देश के प्रति भी उसका कर्त्तव्य बनता है, प्रान्त के प्रति भी, शहर के प्रति भी, मोहल्ले के प्रति भी, पड़ोसियों के प्रति भी और उसी प्रकार रक्त-परम्परा के प्रति भी और वंश-परम्परा के प्रति भी, समाज और जाति के बन्धुओं के प्रति भी; सारे ही कर्त्तव्य का ज्ञान और कर्त्तव्य का भान व्यक्ति को हो सकता है बुद्धि स्तर। लेकिन जब धर्म का स्वरूप उसके जीवन में समझ में आ सकता है, तो सभी कर्त्तव्य-पक्षों में यथाशक्ति व्यक्ति सफल बनता है, पर ऐसा कब सम्भव होता है जब उसके जीवन में धर्म का स्वरूप समझ में आ जाए। धर्म का स्वरूप जिसको समझ में आ जाएगा निश्चित रूप से उसको यथार्थ ज्ञान होगा। यथार्थ ज्ञान होगा तब ही धर्म का स्वरूप समझ में आया है और धर्म का स्वरूप समझ में आया है, तो यथार्थ ज्ञान हुए बिना रह ही नहीं सकता है और नहीं होता है तो फिर धर्म का स्वरूप उसकी दृष्टि में आया नहीं।

धर्म-भावना को लेकर हम चर्चा कर रहे हैं। धम-भावना का यह दोहा है :

"धन, कण, कंचन, राजसुख, सब ही सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में एक यथाति रथ ज्ञान।।

ज्ञानियों की समझ और हमारी समझ में जमीन-आसमान का अन्तर है। ज्ञानी जिसे स्वार्थ समझते हैं, उसे हम निःस्वार्थ मानते हैं। ज्ञानियों की दृष्टि

की दृष्टि से मानव-जीवन को सुरक्षित और व्यवस्थित रखने की दृष्टि से सभ्य और सुसंस्कृत नागरिक कहलाने की दृष्टि से, सारे ही ज्ञान उसे मिल जाते हैं, कब? जब उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

जैसे पेड़ की जड़ में जो पानी जाता है, उससे पेड़ की हर शाखा, हर टहनी, हर पत्ते को शक्ति मिलती है। पूरे वृक्ष की हर डाली को, हर पत्ती को जीवन मिलता है। पानी के कारण उसमें सजीवता रहती है, वह हरा-भरा रहता है। क्यों रहता है? इसलिए पानी जड़ को मिला है और जड़ में जो पानी गया है वह पूरे वृक्ष की आवश्यकता पूरी कर रहा है। सब तरफ कर रहा है, ऐसा नहीं कि एक शाखा को बहुत पानी मिल रहा है और दूसरी शाखा को सूखापन। सारी ही शाखाओं को समान पानी मिल रहा है। उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है और उसका प्रतिफल है कि पूरे-का-पूरा वृक्ष हरा है। ऐसे ही यथार्थ ज्ञान, आत्म-ज्ञान जिसकी दृष्टि में आ जाता है, उसके जीवन के हर व्यवहार में विवेक होगा, जीवन के हर व्यवहार में उदारता होगी, जीवन के हर व्यवहार में करुणा होगी, जीवन के हर व्यवहार में दूसरों का सुख उसका सुख होगा और दूसरों का दुःख उसका दुःख होगा। उसके व्यवहार में सम्बन्ध की दृष्टि से, पद की दृष्टि से अंतर जरूर होगा। एक ज्ञानी के व्यवहार में किसी-न-किसी अपेक्षा से अंतर रहेगा, किन्तु यह अंतर योग्यता का होगा, आत्मीयता में कहीं भी उसके जीवन में अंतर नहीं आयेगा। एक ज्ञानी के समक्ष उससे अधिक कोई महाज्ञानी आ जाएगा तो निश्चित रूप से शिष्टाचार के लिए वह खड़ा होगा; नमस्कार करेगा। परन्तु एक दस-पन्द्रह वर्ष का युवक यदि उसके पास आया है, कुछ ग्रहण की भावना से आया है, कुछ सीखने की भावना से आया है, तो उस ज्ञानी का उस समय कर्त्तव्य उठने का नहीं बनता है, आने पर उसके प्रति सहज वात्सल्य के उद्गार बोलने का कर्त्तव्य बनता है।

एक रोगी की सेवा में भी ज्ञानी का कर्त्तव्य होगा और एक शिष्य को ज्ञान देने में भी ज्ञानी का कर्त्तव्य होगा। तो कर्त्तव्य-पक्ष में जो व्याव-हारिकता है वह योग्यता की दृष्टि से है, बड़े-छोटे की दृष्टि है, वह सब अंतर होगा, किन्तु अन्तर होकर भी यदि आत्मीयता की दृष्टि से देखा जाए तो यथार्थ ज्ञान होने के बाद ज्ञानी के मन में जो आत्मीयता मनुष्य के प्रति होती है वही आत्मीयता एक चींटी, मक्खी, मच्छर की आत्मा के प्रति होगी।

गुरुवर्या विचक्षणश्री के आत्मज्ञानमूलक आचरण को देखा है, फिर भी दृष्टि नहीं जाती थी; किन्तु अब तो उनका आचरण ऐसा लगता है, जैसे वह बहुत बड़ा दर्पण है, एक आईना है। मुझे याद आता है, बहुत बार वस्त्र-शुद्धि के लिए जब वे बैठतीं अचानक कोई मक्खी साबुन के पानी में गिर जाती,

जीवन की दुर्लभता इस अर्थ में है कि एक यथार्थ ज्ञान यदि कही हो सकता है तो मात्र मानव-मस्तिष्क ही उसका अधिकारी है। मानव-मस्तिष्क में ही ऐसी क्षमता है। मानव-मस्तिष्क में ही ऐसे भेद-ज्ञान, भेद-विज्ञान की भूमिका बन सकती है; दूसरी जगह नहीं। इसलिए यथार्थ ज्ञान की अपेक्षा, आत्म-ज्ञान की अपेक्षा मानव-जीवन की दुर्लभता ज्ञानियों ने बतायी है। किन्तु यदि उस आत्मज्ञान की तरफ, यथार्थ ज्ञान की तरफ व्यक्ति ने मोड़ नही लिया, तो दुर्लभ शब्द जिस अर्थ में ज्ञानियों ने बताया वह दुर्लभ अर्थ उसने अपने जीवन में सार्थक नहीं किया। जो सहज है मनुष्य ने उनको ही दुर्लभ माना है। मनुष्य की दृष्टि में दुर्लभ है मारबल के बंगले को बनाना। संगमरमर का मकान मनुष्य की दृष्टि में बहुत दुर्लभ है। मनुष्य की दृष्टि में दुर्लभ वैज्ञानिक साधन अधिक-से-अधिक, अच्छे-में-अच्छे वस्त्र, अच्छे-में-अच्छा हीरा, मोती, माणिक का जेवर उसकी दृष्टि में इन्हीं पदार्थों का संयोग दुर्लभ है। संतान के जन्म को मनुष्य ने दुर्लभ संयोग माना है, जबकि ज्ञानी कहते हैं इसे हम दुर्लभ कैसे कह सकते हैं? जो सहज सुलभ है, सदा प्राप्त है, वह कैसे दुर्लभ है? कोई ऐसी जिंदगी नहीं रही जिस जिन्दगी में किसी-न-किसी रूप में इसे परिवार न मिला हो और उस परिवार के प्रति मोह न रहा हो। आप कोई ऐसा एक जन्म बता दें, एक शरीर बता दें, जहाँ खाने की क्रिया न रही हो, जहां संतान का मोह न रहा हो, जहाँ शरीर के मोह से परिश्रम न किया हो। अंतर है निश्चित रूप से साधन बदलते जाएँगे, सुविधाएँ बदलती जाएँगी; खाद्य-पदार्थ बदलते जाएँगे। परन्तु खाने की आवश्यकता और खाने की लालसा जहाँ शरीर है, आवश्यकता शरीर की है और लालसा मन की है। वह मोही और अज्ञानी जीव की है। पेट है तो उसकी पूर्ति की आवश्यकता है और खाने की लालसा भी है। तो खाने की चिन्ता मनुष्य ही करता है, ऐसी बात नहीं है। चिड़िया भी कर रही है, उसे भी दाना दिखाई देता है, तो एकदम परिश्रम चालू कर देती है। चींटी भी खाने के लिए परिश्रम कम नहीं करती है, न मालूम कितनी लम्बी दूरी से, घ्राणेन्द्रिय-शक्ति जो उसके पास अतिरिक्त है वह सुगंध के माध्यम से उस पदार्थ तक आ जाती है। चींटी पदार्थ तक आने का जो पुरुषार्थ करती है उसमें भावना उसकी है। गंध जो है मीठे की गंध, जब उस तक चली जाती है तो गंध किस तरफ से आ रही है उसकी कितनी सूक्ष्म इन्द्रिय है और उस गंध की दिशा में वह बराबर क्रम से चलती-चलती पहुँच जाती है, जहाँ उसे पहुँचना चाहिए।

उस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान नहीं कहा गया। यथार्थ ज्ञान की वह भूमिका ही नहीं है। धर्म-भावना जिस व्यक्ति को समझ में आ जाएगी, उसके लिए छोड़ने योग्य क्या है? ग्रहण करने योग्य क्या है? उपादेय क्या है? जीवन के लिए उपयोगी क्या है? अनुपयोगी क्या है? संस्कृति की दृष्टि से, संस्कारों

की दृष्टि से मानव-जीवन को सुरक्षित और व्यवस्थित रखने की दृष्टि से सभ्य और सुसंस्कृत नागरिक कहलाने की दृष्टि से, सारे ही ज्ञान उसे मिल जाते है, कब ? जब उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

जैसे पेड़ की जड़ में जो पानी जाता है, उससे पेड़ की हर शाखा, हर टहनी, हर पत्ते को शक्ति मिलती है। पूरे वृक्ष की हर डाली को, हर पत्ती को जीवन मिलता है। पानी के कारण उसमें सजीवता रहती है, वह हरा-भरा रहता है। क्यों रहता है? इसलिए पानी जड़ को मिला है और जड़ में जो पानी गया है वह पूरे वृक्ष की आवश्यकता पूरी कर रहा है। सब तरफ कर रहा है, ऐसा नहीं कि एक शाखा को बहुत पानी मिल रहा है और दूसरी शाखा को सूखापन। सारी ही शाखाओं को समान पानी मिल रहा है। उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है और उसका प्रतिफल है कि पूरे-का-पूरा वृक्ष हरा है। ऐसे ही यथार्थ ज्ञान, आत्म-ज्ञान जिसकी दृष्टि में आ जाता है, उसके जीवन के हर व्यवहार में विवेक होगा, जीवन के हर व्यवहार में उदारता होगी, जीवन के हर व्यवहार में करुणा होगी, जीवन के हर व्यवहार में दूसरों का सुख उसका सुख होगा और दूसरों का दुःख उसका दुःख होगा। उसके व्यवहार में सम्बन्ध की दृष्टि से, पद की दृष्टि से अंतर जरूर होगा। एक ज्ञानी के व्यवहार में किसी-न-किसी अपेक्षा से अंतर रहेगा, किन्तु यह अंतर योग्यता का होगा, आत्मीयता में कहीं भी उसके जीवन में अंतर नहीं आयेगा। एक ज्ञानी के समक्ष उससे अधिक कोई महाज्ञानी आ जाएगा तो निश्चित रूप से शिष्टाचार के लिए वह खड़ा होगा; नमस्कार करेगा। परन्तु एक दस-पन्द्रह वर्ष का युवक यदि उसके पास आया है, कुछ ग्रहण की भावना से आया है, कुछ सीखने की भावना से आया है, तो उस ज्ञानी का उस समय कर्त्तव्य उठने का नहीं बनता है, आने पर उसके प्रति सहज वात्सल्य के उद्‌गार बोलने का कर्त्तव्य बनता है।

एक रोगी की सेवा में भी ज्ञानी का कर्त्तव्य होगा और एक शिष्य को ज्ञान देने में भी ज्ञानी का कर्त्तव्य होगा। तो कर्त्तव्य-पक्ष में जो व्याव-हारिकता है वह योग्यता की दृष्टि से है, बड़े-छोटे की दृष्टि है, वह सब अंतर होगा, किन्तु अन्तर होकर भी यदि आत्मीयता की दृष्टि से देखा जाए तो यथार्थ ज्ञान होने के बाद ज्ञानी के मन में जो आत्मीयता मनुष्य के प्रति होती है वही आत्मीयता एक चींटी, मक्खी, मच्छर की आत्मा के प्रति होगी।

गुरुवर्या विचक्षणश्री के आत्मज्ञानमूलक आचरण को देखा है, फिर भी दृष्टि नहीं जाती थी; किन्तु अब तो उनका आचरण ऐसा लगता है, जैसे वह बहुत बड़ा दर्पण है, एक आईना है। मुझे याद आता है, बहुत बार वस्त्र-शुद्धि के लिए जब वे बैठतीं अचानक कोई मक्खी साबुन के पानी में गिर जाती,

गिरने के क्षणों में ही उसे उठाती थीं और उठाने के बाद तुरन्त साफ पानी से, सादे पानी से उस पर एक-दो बूंद डालकर धोती थीं, जिससे साबुन की वजह से जो उसे तकलीफ है, वह न हो, और तुरन्त और कही नहीं अपनी ही चादर में उसे लेती, लेने के बाद बहुत पोली-पोली गाँठ बाँध देती। दो-चार मिनिट में उसको वापस खोलकर देखती, लगभग उसका पानी सूख जाता वह उड़ने के लिए तैयार हो जाती। जब उसे बाँधती तो बहुत बार उनके हृदय से जो सहज उद्‌गार निकल जाते थे, उन पर उस समय तो शायद विचारने की स्थिति नहीं थी, पर आज निश्चित रूप से मन इस बात पर ध्यान देता है कि ज्ञानियों की आत्मा में इतनी अधिक आत्मीयता होती है, सहजता होती है कि वे प्रत्येक आत्मा में जब आत्मदर्शन करते हैं, तो हर आत्मा के प्रति उनके मन में सहज वात्सल्य भाव होते हैं।

जैसे कि एक पिता जिस पुत्र के प्रति उसका वात्सल्य भाव है, उसकी सुरक्षा और व्यवस्था के लिए चलते हुए रोड पर हाथ पकड़कर खींच लेता है, इसलिए कि सामने से ट्रक आ रहा है, कार आ रही है। मैंने देखा कि महाराजश्री चलती हुई सड़क पर उस समय रुक जाती थी, जब कही कीड़ियों-मकोड़ों का समूह उन्हें दिखाई दे देता। दस-पन्द्रह-बीस मकोड़े जहाँ भी इकट्ठे होते और यदि उस तरफ से गाड़ी निकलने वाली हो, तो मकोड़ों की सीध मे जाकर वे खड़ी हो जातीं और हाथ से इशारा करती। जैसे एक पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है, वैसे ही ज्ञानी आत्मा के मन में प्रत्येक के प्रति इतनी आत्मीयता, इतना वात्सल्य भाव होता है, उनकी दृष्टि में उनके शरीर की क्षुद्रता से कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उसकी दृष्टि शरीर पर नहीं होती, आत्मा पर होती है। शरीर पर तो जिस किसी को भी मिला है आत्मा में संकोच-विस्तार की सहज शक्ति होती है। जितना बड़ा शरीर मिलता है, आत्मा के प्रदेश उतने ही फैल जाते हैं। जितना छोटा मिलता है। आत्मा के प्रदेश उतने ही संकुचित हो जाते हैं और इसके लिए ग्रंथों में उदाहरण आया है· जैसे, एक दीपक है और दीपक का प्रकाश फैल जाता है पूरे कमरे में और यदि एक बड़ा भगोना लेकर कोई व्यक्ति उसे ढँक देता है तो सारा-का-सारा प्रकाश सीमित रह जाता है उस भगोने के आकार में दीपक दीपक है, दीपक का अपना प्रकाश है उसका फैलना और उसका संकोच स्थान या स्थिति पर निर्भर है। ऐसी ही आत्मा सनातन है, शाश्वत है, उसके असंख्यात्मक प्रदेश हैं, वह अरूपी है, आँखों का विषय न कभी हुई, न कभी होगी; फिर भी संकोच और विस्तार का उसमें सहज गुण है इसलिए शरीर की अपेक्षा संकोच और विस्तार आत्मा में होता है, पर आत्मा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता है। जैसे अज्ञानी आत्मा मोह के सम्बन्धों के आधार पर आत्मीयता का अनुभव करती है, वैसे ही ज्ञानी प्रत्येक आत्मा के प्रति

आत्मीयता का अनुभव करते हैं और जब प्रत्येक आत्मा के प्रति आत्मीयता का अनुभव होता है तो फिर वह किसी को कष्ट कैसे देगा, किसी को तकलीफ कैसे देगा, किसी को पीड़ा कैसे देगा? उसके व्यवहार में ऐसी ही आत्मीयता की अपेक्षा से समता होगी, जैसे एक पेड़ की जड़ में समता है कि उसे जो पानी मिला है, वह पूरे पेड़ की हर शाखा को मिलता है। जड़ कभी भी आत्मीयता में कमोवेशी नहीं करती। वैसे ही ज्ञानी जिसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो गया वह अपने जीवन के हर कर्त्तव्य-पक्ष में सफल होगा, कहीं भी विफल हो, वहुत मुश्किल है; क्योंकि उसकी दृष्टि शरीर पर नहीं, आत्मा पर है।

पुण्य कर्म का संचय जरूरत से ज्यादा होने से आपको कुछ जरूरत से ज्यादा सुविधा-साधन मिल गये, इसलिए आप इतने बड़े आदमी हो गये। लेकिन दूसरी आत्मा के प्रति आप अनादर करें, उसे गाली दें, उसे हर समय कचोटते रहें, यदि आपसे वह किसी भी अर्थ में कमजोर है, तो उसकी कमजोरी का फायदा उठाते रहें, हर समय अपने बड़प्पन पर दृष्टि और उसके कमजोर पक्ष पर दृष्टि रखना महा अज्ञान का परिचय है। क्योंकि यह सारा तो एक खेल है। यह सारा तो पुण्य-पाप का झमेला है। यह पुण्य और पाप का पलड़ा हर व्यक्ति के जीवन में हल्का और भारी होता ही रहता है। कोई नई बात नहीं है, कोई बड़ी बात नहीं है; हमारी धर्म भावना तो बता रही है कि ये दुर्लभ संयोग नहीं है।

करोड़पति बनना कोई दुर्लभता नहीं है। सोने-चाँदी के जेवर पहनना नहीं, सोने-चाँदी के मकान में बैठना भी कोई दुर्लभ बात नहीं है। स्वर्ग लोक में तो ऐसे ही मकान हैं, जैसे मकान ईंट, चूने पत्थर के आज आपको-हमको रहने को मिल रहे हैं, ऐसे ही देवलोक में सुरलोक में हीरे, माणिक, मोती के मकान होते हैं, पर उसको भी ज्ञानियों ने दुर्लभता नहीं कहा। दस हजार का आपने वस्त्र पहन लिया, उसको भी दुर्लभ नहीं कहा; दुनिया की दृष्टि में तो दुर्लभ है। एक वहन दर्शन करने के लिए विवाह के बाद जब आयी तो उसकी माँ कहने लगी, महाराज, आशीर्वाद दो! मैंने मांगलिक के रूप में एक वाक्य कह दिया कि "देखो, जिस परिवार में तुम आयी हो, न मालूम कितनी अधिक इस परिवार में तुम्हारे प्रति अपेक्षा होगी, आशा होगी; बने वहाँ तक किसी की आशा भंग करके किसी को निराशा के गर्त में मत ढकेलना। अपने जीवन के हर कर्त्तव्य पर ध्यान देना।" उसके बाद वह बहन सोच रही है कि महाराज ने कुछ कहा ही नहीं! दुर्लभ बात पर उसकी दृष्टि नहीं गई, वह कहने लगी कि देखिये महाराज, मैंने अपनी लड़की की शादी के समय यह साड़ी दी है। मैंने कहा कि यह भी क्या बात कहने की है, इसमें क्या लेना-देना है? कहने लगी—महाराज!

आपने नहीं देखा होगा यह सच्चे मोतियों के काम की साड़ी है, एक साड़ी में मेरे पच्चीस हजार रुपए लगे हैं। अब उसकी दृष्टि में तो वही दुर्लभता है, और अनुपम उपलब्धि है। इस पंचभूत के पिण्ड को पृथ्वीकाय के कलेवर से सजा कर चैतन्य चिदानन्द कितना मुस्कुराता है। क्यों? सब धातु है, खनिज पदार्थ है, सब पृथ्वीकाय का कलेवर है। अब पृथ्वीकाय के कलेवर के आधार पर जो अपने जीवन को दुर्लभ मान रहा है, वह भला ज्ञानियों के दुर्लभ ज्ञान पर कब दृष्टि डालेगा, कैसे दृष्टि डालेगा? क्योंकि उसकी दुर्लभता का तो मापदण्ड ही कुछ अलग है। मापदण्ड क्या है? वैभव वैभव क्या है? विनाशी विनाशी क्यों है? संयोग-सम्बन्ध है। संयोग है, तो उसका वियोग है। कितनी बार पाया और कितनी बार खोया है। इस जीव ने आहार में जहाँ अच्छे-में-अच्छी चीज खायी है, वहाँ कीड़े बनकर के विष्ठा भी चाटी है। विष्ठा के कीड़े भी बनते है, वहाँ भी जन्म मिलता है, इस जीव को अपना कर्मफल भोगने के लिए कई डॉक्टर कहते हैं, दवा लीजिये, आपके पेट में कीड़े पड़ गये हैं। तो कीड़े में भी क्या है? उसमें भी तो जीवात्मा है ही। यह जीव किस बात का अहम् करता है, किस बात का घमंड करता है? अपने अतीत को देखें, अपने भविष्य को भी, कर्मफल के अनुसार क्या होगा, उसको भी देखें। कुछ समय के लिए पुण्य प्रकृति के निमित्त से जो कुछ अनुकूल साधन मिल गये, उसमें इतरा रहा है और उसमें अपने आपको न मालूम क्या मान रहा है। जबकि आज है और कल नहीं। न था, न रहेगा; था भी नहीं और रहेगा भी नहीं; केवल कुछ दिन के लिए जो कुछ मिल गया, उसको पाकर व्यक्ति सोचता है, मैं कितना बड़ा व्यक्ति हूँ।

आनंदघनजी ने ऐसे मनुष्य की मानसिक स्थिति का चित्रण किया है। वह पद बड़ा प्रिय है, कई बार आपने सुना होगा; उसके भाव हैं कि यह जीव अपने आप को धन्य मानता है, यह जीव अपने आपको महापुण्यशाली मानता है। यह जीव अपने आपको न मालूम क्या-क्या मानता है, कब? जब इसे मिल जाए। क्या मिल जाए? पृथ्वीकाय का कलेवर बहुत मिल जाए, जरूरत से ज्यादा जमीन मिल जाए, जरूरत से ज्यादा पैसा मिल जाए, तो व्यक्ति अपने आप के जीवन को धन्य मानता है और धन्य इतना अधिक मानता है कि इतरा जाता है, इतना अधिक उछल-कूद करता है, थोड़े से पुण्य योग में, कई व्यक्ति तो अपने हाथ के नीचे काम करने वाले व्यक्तियों के साथ भाषा में अनादर का स्वर, तीखापन, व्यंग्य कर उपयोग करते हैं। कभी-कभी तो व्यक्ति केवल इसीलिए अपना लहजा बदल देता है कि आने वाला यह जान ले कि मैं यहाँ का ट्रस्टी हूँ, मैं यहाँ का कार्यकर्त्ता हूँ, और मेरे पास बहुत पैसा है, मैं सेठ हूँ, क्योंकि जताये बिना उसके अभिव्यक्ति के भाव आयेंगे नहीं। एक व्यक्ति आये, मैंने कहा कि आप कहाँ से आ

रहे हैं? कहा अमुख जगह से आ रहा हूँ। ट्रेन से आया। गाड़ी तो मेरे घर दो-दो हैं, पर अभी ट्रेन से इसीलिए आया कि ट्रेन में आराम मिलता है। आपसे किसने पूछा था? और वताने की जरूरत क्या थी? आपकी गाड़ी आप उसका उपभोग करते हैं, अव दूसरों के सामने उसकी अभिव्यक्ति अर्थ क्या है? वह अज्ञानता का परिचय है। व्यक्ति भोजन कर रहे हैं और भोजन करते समय रूखा-सूखा खा रहे हैं और जैसे कोई पहुँचा तो कहने लगे कि घर में घी की कोई कमी नहीं है, पर क्या करूँ, डॉक्टर ने कह दिया, इसलिए मुझे रूखा खाना पड़ा रहा है। मतलव आने वाला न जान ले कि मैं रूखा क्यों खा रहा हूँ। इस जीव ने वर्तमान संयोगों के आधार पर अपने-आप को जितना मूल्यवान माना है, उतना ही उसका अहम् होगा। वीतराग का भक्त सही अर्थ में, जिस किसी ने भी अपनी जिन्दगी में धर्म का स्वरूप समझ लिया है, उसको यथार्थ ज्ञान हो गया और यथार्थ ज्ञान होने के वाद व्यक्ति की शक्ति होगी, उसका व्यापक होगा, अहम् नहीं होगा। कभी भी प्रदर्शन के भाव, प्रचार के भाव, वताने के भाव आयेंगे ही नही, धर्म का यथार्थ स्वरूप समझने के वाद रूखी रोटी खाकर सोने वाला केवल चार वस्त्रों में जिन्दगी गुजारने वाला कभी दिलगीर नहीं वनेगा, कभी दयनीय नहीं वनेगा, क्योंकि उसके आधार पर उसने कभी अपनी आत्मा की गरीवी का अनुभव नहीं किया। जैसे वाहर के वैभव के आधार पर आत्मा की अमीरी नहीं है, तो वाहर के वैभव के अभाव में उनकी आत्मा में गरीवी हो यह भी तो अज्ञान है। गरीवी और अमीरी का मापदण्ड पौद्गलिक वैभव है, यह तो अज्ञानी की दृष्टि है। यह अज्ञान का चिन्तन है। ज्ञानी कभी भी भी इस प्रकार परिस्थितियों का मूल्यांकन नहीं करता। यदि ज्ञानी की दृष्टि में, आत्मार्थी की दृष्टि में यह मूल्यांकन का मापदण्ड हो, तो फिर चलते हुए चींटियों की रक्षा करना उस मक्खी को भी जो वेदना है, उसकी वेदना से उनके हृदय में विकलता कैसी होती है।

आत्मीयता का विस्तार जव हो जाता है, तो किसी भी आत्मा को कष्ट हो ऐसा विवेकी व्यक्ति ज्ञानी व्यक्ति की तरफ से आचरण नहीं होता। ज्ञानियों के आचरण के आशय को समझ विना यदि कोई वुद्धि के अनुसार विपरीत धारणा वनाये गलत धारणा वना ले तो अलग वात है, वह ज्ञानी के आचरण की कमी नहीं, वह तो सामने वाले की वुद्धि की अल्पता का कारण है। धर्म-भावना में वताया जा रहा है किये सव कुछ दुर्लभ नहीं है। दुर्लभ तो है 'एक यथार्थ ज्ञान है' तुलसीदासजी ने भी यही कहा है :

अति लक्ष्मी धन कुटुम्ब जन, पापी के भी होय।
हरि कथा सत्संग के तुलसी दुर्लभ होय॥

गुरु नानक ने भी भक्त के अहम् को गलाने के लिए कैसी अभिव्यक्ति दी थी कि रत्नों से जड़ हुए कँगनों को जैसे ही भक्त ने उनके चरणों में चढ़ाया और केवल इसीलिए कि सब देख ले कि मैंने कैसी भक्ति की ? गुरु नानक ने उठाकर नदी में फेंका था ! ज्ञानियों का आचरण कठोर हो सकता है, किन्तु हृदय कभी गलत नही हो सकता। और आचरण मे कभी-कभी जो कठोरता आती है, उस कठोरता का कारण भी सामने वाले का आत्म-हित होता है। आत्महित की दृष्टि तो किसी बात को समझाने के लिए कोई आचरण इस प्रकार का हो जाए, पर उनकी भावना गलत नहीं होती है। गुरु नानक ने सोने का कंगन इसलिए नहीं फेंका था कि उनको इस बात का अहम् है कि मैं कितना बड़ा गुरु हूँ कि जिसकी दृष्टि में यह कुछ नहीं है। लाने वाले के मन में जो सोने के आधार पर भक्ति का अहम् है, उसको गलाने का दृष्टिकोण है।

मानव-जीवन में यदि धर्म का स्वरूप समझ में आ जाता है, तो जीवन निश्चित रूप से दुर्लभ-में-दुर्लभ संयोग सार्थक होता है और जब सार्थक होता है तो उसके जीवन का हर पक्ष अपनें आप में विवेकी होगा, पवित्र आचरण-युक्त होगा। प्रत्येक आत्मा में जब वह आत्मा के दर्शन करेगा, तो व्यवहार में तो निश्चित रूप से आयेगा, जिसके प्रति जो व्यवहार है, और जो कर्त्तव्य है, जो सम्बन्ध है, व्यक्ति निभायेगा, किन्तु आत्मीयता की दृष्टि से वह प्रत्येक आत्मा से आत्मीयता का व्यवहार इस प्रकार करेगा कि कम-से-कम उसके भावों में अनादर नहीं आयेगा। ऐसा भाव नहीं आयेगा, तो उसकी वाणी में अनादर आ ही नहीं सकती। हमने अहम् तो बहुत किया है, हममें आत्मीयता का विस्तार कितना हुआ है और आत्मीयता का विस्तार हो गया, तो हमारे आचरण में अपने निकटवर्ती जीवों के प्रति कितनी आत्मीयता है—इस पर हम बार-बार विचार करें कि यथार्थ ज्ञान कहते किसको है ? यथार्थ ज्ञान की परिभाषा क्या है ? यथार्थ ज्ञान करें, आत्मज्ञान कहें, भव्य स्वरूप के दर्शन कहें, कुछ भी कहें सब ऋषि-महर्षियों ने आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए समझाने का प्रयत्न किया।

वर्तमान में साहित्य की कमी नहीं है; आज भी अच्छे चिन्तन देने वालो की भी कमी नहीं है। बहुत कुछ साहित्य प्रकाशित हो रहा है, सब तरह का प्रकाशित हो रहा है, जिसको जैसा पढ़ना हो, पढ़े, लेकिन बिना स्वाध्याय, बिना थोड़ा धर्मग्रंथ से समझ बिना, यथार्थ ज्ञान की परिभाषा केवल पुस्तकों के आधार पर समझ आना बहुत मुश्किल है। और वह दृष्टि यदि हमें मिल गई, तो जीवन के पक्ष में व्यक्ति कर्त्तव्यशील होगा, कर्त्तव्य वीर होगा, उसके जीवन में कर्त्तव्यहीनता का परिचय कहीं देखने को भी नहीं मिलेगा।

जैसे नदी के पास कोई भी जाए सब को पीने के लिए मीठा पानी मिलता है, बादल जब कभी भी बरसता है, सब तरफ बरसता है, वैसे ही ज्ञानी का ज्ञान सब के लिए है। कोई वर्ग-विशेष के लिए नहीं है, कोई जाति-विशेष के लिए नहीं है, कोई ऐसी सीमा नहीं है, कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है कि धनवान ही इसको प्राप्त कर सकते हैं, गरीब आदमी नहीं। आत्मज्ञान का सम्बन्ध तो विवेक से है, आत्मज्ञान का सम्बन्ध तो स्वाध्याय से है, सत्संग से है, भक्ति से है। मनुष्य आत्मज्ञान की भूमिका प्राप्त करने के लिए सदाचारी बने, सप्तव्यसन का त्यागी बने, उसके दृष्टिकोण में उदारता आये, अपनी इन्द्रियों को संयमित रखे, दूसरों को ताड़ना-तर्जना आदि में अपनी वाणी और अपने शरीर का उपयोग न करे; क्योंकि व्यक्ति जितना सताता है, तड़फाता है, उन क्षणों में भी उसकी आत्मा में भी कम कर्म-बन्धन नहीं होते हैं, और ऐसी स्थिति में जब उसके पाप कर्म बँधते जाते हैं और जितने बँधते जाते हैं, उतने बढ़ते जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को तो कभी आत्मज्ञान की भूमिका प्राप्त हो नहीं सकती; क्योंकि आत्मज्ञान की भूमिका प्राप्त होने के लिए उसके मानस में शुद्धि चाहिए और मानस में शुद्धि करने के लिए उसके आचरण में पवित्रता चाहिए। और आचरण में पवित्रता के लिए सदाचार तो उसकी पहली आवश्यकता है। सप्तव्यसन का त्याग उसकी पहली आवश्यकता है। हमें कुछ समय अपने आराध्य का सुमरन, स्वाध्याय, चिन्तन, सत्संग में जाना, अच्छे लोगों का संपर्क करना, दीन-दुखियों की सेवा करना, अपनी जबान से किसी को कटु वचन बोलना नहीं, और अपने हाथों की शक्ति को कभी भी किसी को मारने और पीटने में नहीं लगाना चाहिए। यह तो उसकी प्रारम्भिक भूमिका हो, हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ जब तक मनुष्य अपने जीवन से अलग नहीं करेगा, तब तक यदि वह सोचे कि मुझे आत्मज्ञान की भूमिका प्राप्त हो जाएगी, तो केवल यह उसकी कल्पना हो सकती है, किन्तु उसे आत्मज्ञान की भूमिका प्राप्त नहीं हो सकती है। आत्मज्ञान की भूमिका प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य को बदलना पड़ेगा और उस बदलने में ही उसे बहुत जोर आयेगा जो बदलना चाहेगा। बदलने की केवल बात करने वाले को बदलने की कठिनाई का कभी अनुभव नहीं होगा। जो अपने जीवन को, अपने मन को बदलना चालू कर देगा, उसे ही मालूम पड़ेगा कि मन को बदलना कितना कठिन है।

एक बार आपने संकल्प कर लिया कि मुझे आज भोजन में अच्छा बुरा नहीं बताना है, पर संकल्प करने के बाद संकल्प जब तक स्मृति में ही रहेगा और उसमें जब तक सार्थकता नहीं रहेगी, तब तक वह बात ही रहे जाएगी और आचरण के समय आपका मन अविवेकी उच्छृंखल बना रहेगा। संकल्प के बाद स्वयं को सतर्क रहना पड़ेगा। और सतर्क रहकर जो मन को

वदलना चाहेगा, उसको मालूम पड़ेगा, मन कितनी वार फिसलता है। कितनी वार मचलता है और फिर और ज्ञान और विवेक से उसको वुद्धि से किस प्रकार अनुशासित करना पड़ता है, कैसे उसे समझना पड़ता है, कैसे उसे वदलना पड़ता है, यह सारी प्रक्रिया वही मनुष्य जानता है, जिसने अपने मन को सुधारना चालू कर दिया है; जिसने अपने मन को सुधारना चालू नहीं किया उसको तो विलकुल भी मालूम नहीं है। जो पदयात्रा करता है वही जानता है कि पदयात्रा में क्या कठिनाइयाँ होती हैं और क्या अनुभव होता है, जिसने चालू ही नहीं किया, उसे क्या मालूम है, वह विना जानकारी के कुछ भी वह दे उसके कहने की कोई प्रमाणिकता नहीं है। हमें अपनी जिन्दगी में यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त करने के लक्ष्य से सेवा भक्ति, यम, नियम, त्याग को अपनाना है। अपने से वड़े जो भी माता-पिता के रूप में हैं, उनका आदर करना और लोकोत्तर जो भी हमारे आराध्य हैं, उन महापुरुषों के प्रति भक्तिभाव रखना है। व्यक्ति को नियमित व्यवस्थित एक आचरण का क्रम वनाना चाहिये और उस क्रम से जव वह गुजरेगा तो निश्चित रूप से उसे कभी-न-कभी आत्मज्ञान की भूमिका प्राप्त होगी। परन्तु प्राप्त उसे ही होगी, जो संकल्प के आधार पर सक्रिय होगा। गति में प्रगति है, और प्रगति में पूर्णता है। केवल कल्पना तो कल्पना है, कल्पना से कुछ भी होने वाला नहीं है। □

— वालाघाट, 16 नवम्वर, 1983